





गर्भवती उत्तराका गर्भ नाश करने के लिये अश्वत्थामाने ब्रह्मास्त्र अणु-अस्त्रका उसकी ओर सन्धान किया । भगवान श्रीकृष्णने अपनी अतन्द्रा शक्तिसे उत्तराके गर्भको आच्छादित करके रक्षण किया । वह गर्भ भावीमहाराजा परिक्षित थे ।



भगवान श्रीकृष्ण की अनन्य भक्ता रानी कुंती भगवान को संबोधित करते हुये बोली "हे कृष्ण, मैं आपको प्रणाम करती हूँ" ।



शरशय्या पर पड़े हुए भीष्म पितामह को अन्तिम विदा देने तथा अन्तिम दर्शन करने भगवान श्रीकृष्ण एवम् महाराज युधिष्ठिर अन्य महापुरुषों के साथ पधारे।



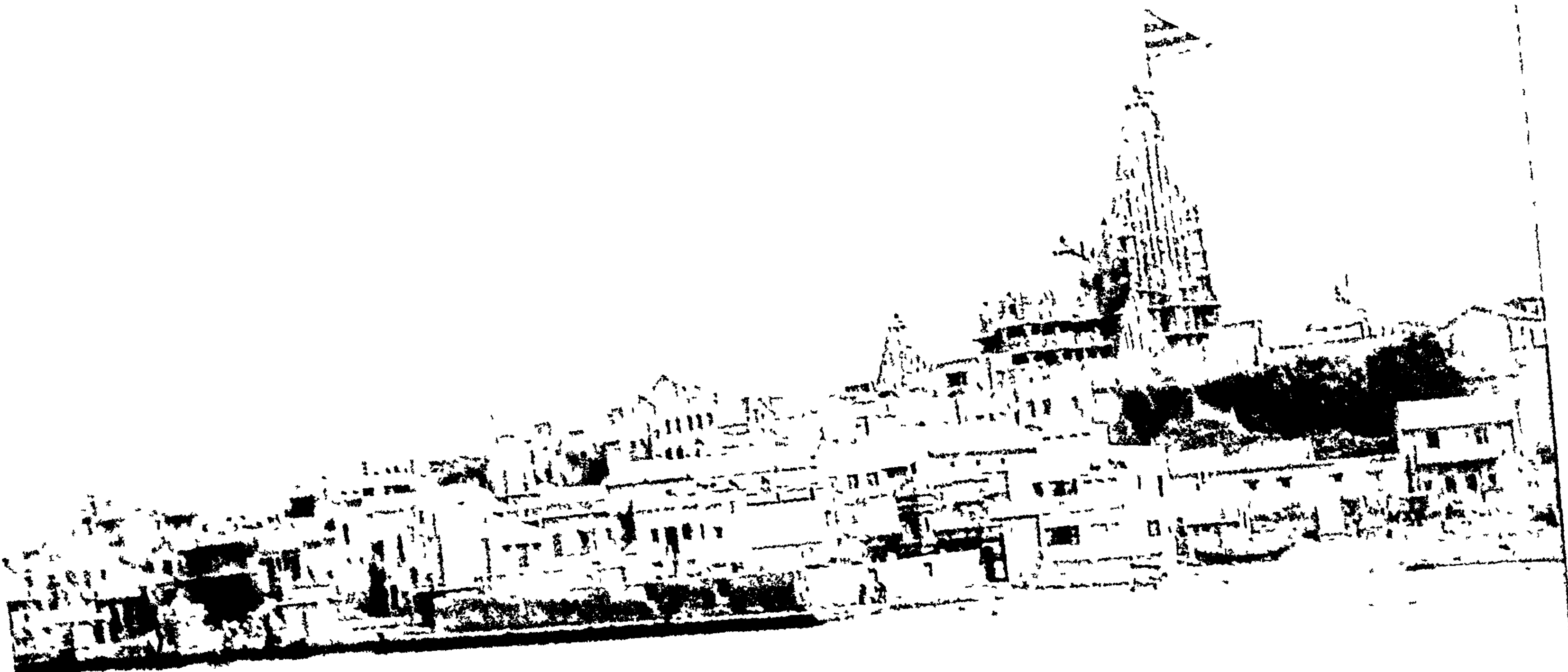
भगवान श्रीकृष्णने कहीं से रथका एक बड़ा सा पहिया उठा लिया और झपटे भीष्म की ओर क्रोधमे ।



[illegible] युधिष्ठिर के [राजसूय-यज्ञ] में भगवान श्रीकृष्ण की सब अतिथियों ने अपनी
[illegible] [illegible] [illegible] की।



द्वारका पुरी मे प्रवेश करते हुए भगवान श्रीकृष्णने अपनी आनन्द वर्षिणी दृष्टि से नगरवासियों का अवलोकन करते हुये उनका स्वागत स्वीकार किया ।



द्वारका का एक दृश्य जहां भगवान श्रीकृष्णने ५,००० वर्ष पूर्व अपनी दिव्य लीलाएं प्रकट की थीं।

श्री गुरु एवं गौराङ्ग की जय

श्रीकृष्ण-द्वैपायन-व्यास

कृत

भगवत्-सन्देश

"संरचना"

कुन्त्युवाच

नमस्ये पुरुषं त्वाऽऽद्यमीश्वरं प्रकृतेः परम् ।
अलक्ष्यं सर्वभूतानामन्तर्वहिरिवस्थितम् ॥

[१।८।१८]

भगवद् कृपामय श्रील् ए० सी० भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद द्वारा प्रणीत अन्यान्य ग्रन्थ-रत्न—

भगवद्गीता यथारूप
श्रीमद्भागवत स्कन्ध १-८ (खण्ड २४)
श्रीचैतन्य चरितामृत (१७ खण्ड)
भक्तिरसामृत सिन्धु
श्रीईशोपनिषद्
अन्य लोकों की सुगम यात्रा
श्रीकृष्णभक्तिभावनामृत : परमोच्च योग
स्वय भगवान् श्रीकृष्ण (३ खण्ड)
प्रह्लाद महाराज का भगवत्तत्त्व-उपदेश
श्रीचैतन्य महाप्रभु का भगवत्तत्व-उपदेश
रसराज श्रीकृष्ण
योग की पूर्णता
जन्म-मृत्यु से परे
श्रीकृष्ण की ओर
राजविद्या
श्रीकृष्णभक्तिभावनामृत की प्राप्ति
श्रीचैतन्य पचतत्त्व
भगवद्दर्शन पत्रिका (संस्थापक)

भगवत्-सन्देश

प्रथम स्कन्ध
"संरचना"

(भाग दो—अध्याय ८-१२)

मूल संस्कृत श्लोक, हिन्दी भाषा मे शब्दार्थ
अनुवाद एवं विस्तृत टीका

द्वारा
परम पूज्य
श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद
संस्थापक आचार्य अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्ण भावना सङ्घ

हिन्दी भाषान्तरकार
श्री प्रेमयोगी महाराज

भक्तिवेदान्त ग्रन्थ संस्थान
बम्बई, न्यू यार्क, लॉस एञ्जिल्स, लन्दन

इस ग्रन्थ के विषय वस्तु पर उत्सुक जिज्ञासु निम्न पते पर पत्र व्यवहार के लिये निमन्त्रित है।

प्रतिनिधि

★ अन्तर्राष्ट्रीय कृष्ण-भावनामृत सङ्घ

श्रीकृष्ण बलराम मन्दिर

रमणरेती

भक्तिवेदान्त स्वामी मार्ग, वृन्दावन [मथुरा]

★ हरे कृष्ण लैण्ड, जुहु रोड, जुहु, बम्बई—५४

प्रथम मुद्रण, संख्या ९०००, जनवरी १९७८

Published by. Bhaktivedanta Book Trust, Juhu Road, Juhu, Bombay
Printed by D V Sheth at Gahakotwala Printers (Private) Limited
125, Nagindas Master Road, Fort, Bombay-400 023 Phone 274064

अनुक्रमणिका

अष्टम् अध्याय

कुन्तीदेवी द्वारा भगवान् की प्रार्थना एवं परीक्षित की रक्षा

[१]

सूत उवाच

अथ ते सम्परेतानां स्वानामुदकमिच्छताम्।
दातुं सकृष्णा गङ्गायां पुरस्कृत्य ययुः स्त्रियः ॥

सूतः उवाच=सूत बोले, अथ=ऐसा; ते=वे पाण्डव; सम्परेतानाम् मृतकों का; 'स्वानाम्=अपने सम्बन्धियो का; उदकं=जल; इच्छताम्= अभिलाषियों का, दातुम्=देने के लिये, सकृष्णा=भगवान् श्रीकृष्ण के साथ, गङ्गायाम्=गङ्गा नदी में, पुरस्कृत्य=सामने रखकर; ययुः=गये; स्त्रियः=स्त्रियाँ।

अनुवाद

सूत गोस्वामी बोले—इसके पश्चात् पाण्डव एवं द्रौपदी आदि सब मिलकर मृत सम्बन्धियों के पिपासु प्राणों की संतृप्ति हेतु तर्पण करने के लिए गङ्गातट पर गये। उस समय स्त्रियाँ आगे-आगे चल रही थी।

तात्पर्य

आज भी हिन्दू समाज में यह प्रथा है कि जब परिवार के किसी सदस्य की मृत्यु हो जाती है तब किसी नदी मे स्नानार्थ जाते हैं उस समय

वे किसी जुलूस की भाँति जाते हैं जिसमें महिलाएँ अग्रवर्तिनी होती है। ५००० वर्ष पूर्व पाण्डवों ने भी उक्त प्रथा का अनुगमन किया था।और भगवान् श्रीकृष्ण चूंकि पाण्डवों के ममेरे भाई की भाँति लीला कर रहे थे,अतः वे भी उनके साथ चल पड़े।

[२]

ते निनीयोदकं सर्वे विलप्य च भृशं पुनः।
आप्लुता हरिपादाब्जरजः पूतसरिज्जले ॥

ते=वे, निनीय=प्रदान कर; उदकं=जल; सर्वे=समस्त, विलप्य =शोक करके; च=और; भृशं=पर्याप्त, पुनः=फिर से; आप्लुताः=स्नान किया, हरि-पादाब्ज=भगवान् के चरण कमलों का; रजः=धूलि; पूत= पवित्र किया; सरित्=गङ्गा नदी के, जले=जल में।

अनुवाद

वहाँ पहुँचकर उन्होंने मृत सम्बन्धियों को पर्याप्त जलाञ्जलि दी, तत्पश्चात् उनके गुणों को पुनः पुनः याद कर करके वे सब विलाप करने लगे। जब उनका हृदय कुछ हल्का हुआ तब उन्होंने भगवान् श्रीहरि की चरण-धूलि से पवित्र गङ्गाजल में प्रवेश कर स्नान किया।

[३]

तत्रासीनं कुरुपतिं धृतराष्ट्रं सहानुजम्।
गान्धारीं पुत्रशोकार्तां पृथां कृष्णां च माधवः ॥

तत्र=वहाँ; आसीनं=बैठे हुए; कुरु-पतिम्=कौरवों के राजा, धृत-राष्ट्रं=धृतराष्ट्र, सह अनुजम्=अपने लघु भ्राता के साथ, गान्धारीम्= गान्धारी;पुत्र=पुत्र; शोक-आर्तम्=शोक से दुखी होकर; पृथाम्=कुन्ती; कृष्णाम्=द्रौपदी; च=भी; माधवः=भगवान् श्रीकृष्ण।

अनुवाद

वहाँ पर अपने लघु भ्राताओं के सहित कुरुपति महाराज युधिष्ठिर, धृतराष्ट्र, गान्धारी, कुन्ती एवं द्रौपदी सब बैठे। भगवान् श्रीकृष्ण भी वहाँ बैठ गये और सब शोक करने लगे।

तात्पर्य

कुरुक्षेत्र का महाभारत युद्ध पारिवारिक सदस्यों के मध्य ही हुआ था अतः उस युद्ध से प्रभावित समस्त व्यक्ति जैसे महाराज युधिष्ठिर उनके समस्त भाई, कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा, धृतराष्ट्र, गान्धारी तथा उनके जामाता आदि परस्पर सम्बन्धी थे।अतएव उनका सम्मिलित शोक बडा व्यापक रूप धारण कर रहा था भगवान् श्रीकृष्ण भी कुन्ती के भतीजे एव पाण्डवों के ममेरे भाई थे, सुभद्रा के भाई थे, उनमें से ही एक होकर शोक की लीला करते हुये वे प्रभु अनुकूल वाक्यो से सबको सान्त्वना देने लगे।

[४]

सान्त्वयामास मुनिभिर्हतबन्धूञ्शुचार्पितान् ।
भूतेषु कालस्य गतिं दर्शयन्न प्रतिक्रियाम् ।।

सान्त्वयामास=सान्त्वना दी, मुनिभिः=उपस्थित मुनिगणों के साथ. हत-बन्धून्= जिनके सुहृद् मित्र मर चुके है, शुचार्पितान्=आघातग्रस्त एव प्रभावित. भूतेषु=जीवो मे, कालस्य=सर्वशक्तिमान् के सर्वोच्च नियम की, गतिम्=प्रतिक्रियाएँ, दर्शयन्=दिखलाते हुए, न=नही; प्रति--क्रियाम्=प्रतीकार।

अनुवाद

भगवान् श्रीकृष्ण एव बहुत से मुनिगण उन व्यथित हृदय राज परिवारो को सर्वशक्तिमान् भगवान् के अद्भुत विधान तथा जीवो पर होने वाली उसकी प्रतिक्रियाओ का वर्णन कर सान्त्वना देने लगे।

तात्पर्य

भगवान् की आज्ञा के नियन्त्रण मे कार्यरत प्रकृति का नियम किसी भी जीव के द्वारा बाधित नही हो सकता। अनादि काल मे जीव सर्वशक्तिमान के नियमों का अनुसरण करते चले आ रहे है। भगवान् समस्त नियमों एव आदेशो के स्रष्टा है। और ये नियम या आदेश धर्म कहलाते है। कोई भी व्यक्ति धर्म विधान का निर्माण नही कर सकता। भगवान् का

विधान स्पष्ट रूप से भगवद्गीता में वर्णित है। प्रत्येक व्यक्ति को उसका अनुसरण करना चाहिये। और उसी से समाज सुखी होगा। भौतिक दृष्टि से भी एवं आध्यात्मिक दृष्टि से भी। जब तक हम भौतिक जगत मे है, हमारा कर्तव्य है कि हम भगवान् की आज्ञा का पालन करे। और जब उनकी कृपा से हम प्राकृत जगत के जाल से मुक्त हो जायेंगे तब अपनी मुक्तावस्था में भी हम भगवान् के प्रति प्रेममयी सेवा अर्पित करते रहेगे। अपनी इस प्राकृत दशा में न हम स्वयं को देख पाते है और न भगवान् को हमे अप्राकृत दृष्टिकोण अपेक्षित है। परन्तु जब हम प्राकृत दुखों से मुक्त हो जाते है तब अपने मौलिक अप्राकृत स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाते है उस समय स्वयं एवं भगवान् को प्रत्यक्ष सम्मुख देख सकते है। मुक्ति का अर्थ ही यही है—प्राकृत-धारणाओं का परित्याग एवं अप्राकृत स्वरूप की प्राप्ति। अतएव मानव जीवन विशेष रूप से अप्राकृत-स्वतन्त्रता में स्वयं को शिक्षित करने के लिए उपलब्ध हुआ है। दुर्भाग्य-वश प्रकृति की मोहक-वृत्तियों से भ्रमित होकर हम इस क्षणभगुर जीवन को स्थायी मान बैठे हैं।और मोहवश तथाकथित देश, गृह, भूमि, बच्चे, पत्नी, दल, धन, आदि को अपनी आत्मा (प्रिय) मान बैठे हैं।परन्तु वह है वास्तव में मायाकृत एक मिथ्याप्रस्तुति। और इसी माया की वृत्तियों में फँसकर हम इन उपलब्ध वस्तुओं की सुरक्षा के लिये परस्पर लड़ते रहते है। अप्राकृत ज्ञान की प्राप्ति के अनन्तर ही हम जान सकते है कि इन बाह्य उपलब्धियों से हमारा किसी प्रकार किञ्चित भी सम्बन्ध नही है। तब ही तत्क्षण हम प्राकृत आसक्तियों से मुक्त हो सकते हैं। इन भौतिक-आसक्तियों का अत्यन्ताभाव केवल भक्तसमागम मे ही सम्भव हो सकता है जो कि लोगों के यत्र-तत्र भटकते हुये चित्त को भगवान् की दिव्य नाम ध्वनि के श्रवण से शान्ति प्रदान करते है। जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि के रूप में प्रकट प्राकृत-नियमों के प्रतिफलन से बचने का यही एकमात्र उपाय है। इस श्लोक मे युद्ध की विभीषिका से अवशिष्ट कुरुवशी स्वजनों की मृत्यु पर शोक कर रहे है। तथा भगवान् परम ज्ञान की आधार शिला पर उन्हें सान्त्वना प्रदान कर रहे हैं।

[५]

साधयित्वाजातशत्रोः स्वं राज्यं कितवैर्हृतम्।
घातयित्वासतो राज्ञः कचस्पर्शक्षतायुषः॥

साधयित्वा=सम्पन्न कर, अजात-शत्रो.=ससार मे जिसका कोई शत्रु नही, वह व्यक्ति, स्व राज्यम्=अपना राज्य, कितवै=कपटी द्वारा (दुर्योधन एवं उसका समाज), हृतम्=हरण किया गया; घातयित्वा=मार कर; असत:=दुर्जन; राज्ञ.=रानी का, कच=केश, स्पर्श=स्पर्श; क्षत= क्षीण हुआ; आयुष.=जीवन की अवधि।

अनुवाद

धूर्त दुर्योधन ने अपने साथियो सहित अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिर का राज्य कपटपूर्वक हरण कर लिया था। भगवान् श्रीकृष्ण ने उनका राज्य वापस दिलाया; तथा उन दुष्टों का सहार कराया, जिनकी आयु महारानी द्रौपदी के केश-स्पर्श से समाप्त हो चुकी थी।

तात्पर्य

कलियुग प्रारम्भ के पूर्व गरिमामय काल में राज्य की ओर से गौ, ब्राह्मण, स्त्री, बालक एवं वृद्ध समुचित सुरक्षा प्राप्त करते थे।

(१) ब्राह्मणों की सुरक्षा वर्ण एवं आश्रम व्यवस्था का पोषक है जो आध्यात्मिक जीवन के लिए अत्यन्त वैज्ञानिक एव परिष्कृत पद्धति है।

(२) गौओं की सुरक्षा से आश्चर्यजनक भोजन तत्त्वों की उपलब्धि होती है जिससे मस्तिष्क के वे सूक्ष्म तन्तु पोषित होते है जिनके द्वारा हम जीवन के महान् उद्देश्य को समझ सकते है।

(३) नारी की सुरक्षा समाज की पवित्रता का द्योतक है, जिसके द्वारा हम जीवन में शान्ति, समता एवं उन्नति करने योग्य सन्तान प्राप्त कर सकते है।

(४) सन्तान की रक्षा मानव को भौतिक बन्धनों से मुक्त होने के लिये उत्तम सुअवसर देती है। पवित्र जीवन की प्राप्ति के लिए शिशुओं की ऐसी सुरक्षा उसके जन्म से पूर्व गर्भाधान-संस्कार से ही प्रारम्भ हो जानी चाहिए।

(५) वृद्धों की सुरक्षा उन्हें अगले नये जन्म को अति उत्तम बनाने के लिये स्वयं को तैयार करने का सुअवसर प्रदान करती है।

यह व्यापक दृष्टिकोण उदात्त एवं सुख वैभव सम्पन्न मानवता के मूलभूत सूत्रों पर आधारित है। यही वास्तविक सभ्यता का निर्माण करती है जो आजकल के सधे हुए कुत्ते एवं विल्लियों की सभ्यता के विरुद्ध एवं उससे- अत्यन्त महान् है। उस सभ्यता में उपरोक्त वर्णित निर्दोष प्राणियों की हत्या नितान्त वर्जित है। क्योकि उनके अनादर करने मात्र से व्यक्ति की आयु क्षीण होती है। कलियुग मे उनकी समुचित रक्षा नही हो रही है इसीलिए आधुनिक काल के लोगों की आयु अत्यन्त घट गई है। भगवद्-गीता में यह कहा गया है कि नारियों की सुरक्षा न होने से वे चरित्र-भ्रष्ट हो जाती है और वर्ण सङ्करता फैल जाती है। एक सच्चरित्रा नारी के अप-मान का अर्थ है अपनी आयु क्षीण कर लेना। दुर्योधन के भाई दु.शासन ने आदरणीया पतिव्रता द्रौपदी का अपमान किया अत: वह दुराचारी अकाल-मृत्यु मारा गया। भगवान् के ये ही कुछ विधान-तन्तु हैं जिनसे सबको गुज-रना पड़ता है।

[६]

याजयित्वाश्वमेधैस्तं त्रिभिरुत्तमकल्पकैः।
तद्यशः पावनं दिक्षु शतमन्योरिवातनोत् ॥

याजयित्वा=सम्पन्न कर; अश्वमेधै=वह यज्ञ जिसमें घोड़े की वलि दी जाती है, तम्=उन्हे (राजा युधिष्ठिर), त्रिभि:=तीन; उत्तम=श्रेष्ठ, कल्पकै=सुयोग्य पुरोहितों द्वारा यथावत् द्रव्य वितरण द्वारा निष्पन्न; तत्=वह, यश.=कीर्ति; पावनम्=पवित्र, दिक्षु=सम्पूर्ण दिशाएँ; शत-मन्यो=सौ अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न किये हुए व्यक्ति के, इव=सदृश, अतनोत्=सम्पन्न किया।

अनुवाद

इसके अनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण ने धर्मराज युधिष्ठिर के द्वारा विविध उत्तम सामग्रियों से, योग्य पुरोहितों की अध्यक्षता मे तीन अश्वमेध यज्ञ कराये, और इस प्रकार समस्त दिशाओं में उनके पवित्र यश की ध्वनिमा व्याप्त कर दी। ठीक उसी भाँति जैसे पूर्वकाल मे इन्द्र यज्ञ करके यशस्वी हो गये थे।

तात्पर्य

यह महाभारत युद्ध अश्वमेध यज्ञ की भूमिका के तुल्य थी। देवराज इन्द्र से महाराज युधिष्ठिर की तुलना बहुत महत्वपूर्ण है। देवराज महाराज युधिष्ठिर से वैभव मे हजारो गुना अधिक समृद्ध है तथापि उनका यश देवराज से किसी भाँति भी कम न था। कारण यह था कि महाराज युधिष्ठिर भगवान् के एक विशुद्ध भक्त थे। केवल उनकी कृपा से ही वे तीन यज्ञों के द्वारा ही देवराज इन्द्र से तुलनीय हो गये। जबकि इन्द्र ने १०० अश्वमेध यज्ञ किये थे। यही भक्तो का विशेषाधिकार है। भगवान् सबके प्रति समान है; तथापि भगवान् का भक्त अत्यन्त महिमामय है क्योंकि वह उन सर्वोत्तम के सतत-सम्पर्श में है। सूर्य किरणे समान रूप से वितरित होती है तथापि कुछ स्थल सदा अन्धकारपूर्ण ही रह जाते है। यह सूर्य के कारण नही अपितु अपनी-अपनी ग्रहण-शक्ति के न्यूनाधिक्य के कारण है। इसी प्रकार जो भगवान् के पूर्ण भक्त है; वे ही उनकी पूर्ण कृपा ग्रहण कर पाते है जो सदा ही उसी मात्रा मे सर्वत्र वितरित हो रहा है।

[७]

आमन्त्र्य पाण्डुपुत्रांश्च शैनेयोद्धवसंयुतः ।
द्वैपायनादिभिर्विप्रैः पूजितैः प्रतिपूजितः ॥

आमन्त्र्य = निमन्त्रित कर, पाण्डु-पुत्रान् = पाण्डु के समस्त पुत्र, च = भी, शैनेय = सात्यकि; उद्धव = उद्धव, संयुक्त = सम्मिलित होकर, द्वैपायन-आदिभि = व्यासदेवादि ऋषियो द्वारा, विप्रै. = ब्राह्मणों द्वारा, पूजितै. = पूजित होकर; प्रतिपूजित. = भगवान् ने भी वैसे ही पूजा की।

अनुवाद

इसके अनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण ने वहाँ से प्रस्थान करने की इच्छा की। उन्होंने पाण्डव एव द्वैपायन आदि समस्त ऋषियों को निमन्त्रित कर उद्धव एव सात्यकि के साथ उनका सम्मान एव पूजन किया तथा उनके द्वारा वे स्वयं भी सम्मानित एवं पूजित हुये।

तात्पर्य

वाह्य दृष्टि से श्रीकृष्ण क्षत्रिय थे एवं एक क्षत्रिय ब्राह्मणों से पूजित होने योग्य नही होता। परन्तु वेदव्यास की अध्यक्षता मे वहाँ जो उपस्थित ब्राह्मण थे वे सब उन्हे साक्षात् भगवान् के रूप मे जानते थे इसलिये उन सबने उनकी पूजा की। क्षत्रिय भी ब्राह्मणो का आज्ञाकारी होता है इस प्रथानुसार भगवान् श्रीकृष्ण ने भी उनका पूजन सम्मान स्वीकार कर लिया। यद्यपि वे समस्त जनता से भगवान् की भाँति ही पूजित होते थे, तथापि भगवान् ने चातुर्वर्ण्य प्रथा का अतिक्रमण नही किया। भगवान् विशेष प्रयोजन से ही ऐसा करते थे ताकि आगे आने वाली पीढ़ी उनका अनुसरण कर सके।

[८]

गन्तुं कृतमतिर्ब्रह्मन् द्वारकां रथमास्थितः।
उपलेभेऽभिधावन्तीमुत्तरां भयविह्वलाम्॥

गन्तु=प्रस्थान की इच्छा करते हुए; कृतिमति =निर्णय कर; ब्रह्मन् =हे ब्राह्मण; द्वारकाम्=द्वारका की ओर, रथम्=रथ पर; आस्थित = स्थित होकर, उपलेभे=देखा, अभिधावन्तीम=शीघ्रता पूर्वक दौड़ती हुई, उत्तराम्=उत्तरा को, भय-विह्वलाम्=भयभीत होकर।

अनुवाद

ज्यो ही वे द्वारका की यात्रा के लिए अपने रथ पर विराजमान हुए, त्यो ही उन्होने देखा कि देवी उत्तरा भय से काँपती हुई शीघ्रतापूर्वक उन्ही की ओर दौडती हुई चली आ रही है।

तात्पर्य

पाण्डवो का समस्त परिवार भगवान् श्रीकृष्ण की सुरक्षा पर ही पूर्ण निर्भर था, तथा भगवान् ने भी उन सबकी सभी परिस्थितियो मे रक्षा की। भगवान् सबकी रक्षा करते है परन्तु जो सर्वथा उन्ही पर अवलम्बित होते है उन्हे भगवान् के द्वारा विशिष्ट रूप से सुरक्षित होने

की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। भगवान् भी उन पर कृपा वर्षा करते हैं जैसे पिता अपने ऊपर पूर्ण निर्भर छोटे शिशु पर अधिक कृपालु होता है।

[६]

उत्तरोवाच

पाहि पाहि महायोगिन्देवदेव जगत्पते ।
नान्यं त्वदभयं पश्ये यत्र मृत्युः परस्परम् ॥

उत्तरा उवाच=उत्तरा बोली, पाहि पाहि=रक्षा करे, रक्षा करे; महा-योगिन्=हे महान् चमत्कारी व्यक्ति देव-देव=पूजनीयो के भी पूजनीय, जगत्-पते=हे विश्व के स्वामिन्; न=नही, अन्यम्=अन्य कोई त्वत्=तुम्हारा, अभयम्=निर्भयता, पश्ये=देखती हूँ यत्र=जहाँ, मृत्यु = मृत्यु; परस्परम् =इस द्वैत के जगत् में।

अनुवाद

उत्तरा देवी बोली—हे देवो के देव, हे विश्व के स्वामिन्, हे महा-योगिन्, कृपया मेरी रक्षा करे, रक्षा करे। इस प्राकृत जगत् मे जहाँ सभी परस्पर एक दूसरे की मृत्यु मे निमित्त बन रहे है, वहाँ मै आपके अतिरिक्त किसी को भी मृत्यु से बचाने वाला नही देखती हूँ।

तात्पर्य

अप्राकृत जगत की तुलना मे यह प्राकृत जगत् द्वैत का जगत है। यह द्वैत का जगत पदार्थ एव आत्मा के सयोग से बना हुआ है जबकि अद्वय जगत लेशमात्र भी प्राकृत गुण युक्त नही है। द्वैतयुक्त जगत मे प्रत्येक व्यक्ति जगत् का स्वामी बनने की कोशिश कर रहा है जबकि अद्वय-जगत मे भगवान् ही एकमात्र स्वामी है तथा अन्य समस्त उनके नित्य सेवक है। इस द्वैतयुक्त जगत् मे प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे के प्रति ईर्ष्यालु बना रहता है, तथा मृत्यु अवश्यम्भावी है, क्योंकि पदार्थ एवं आत्मा सयुक्त है, एव आत्मा का पदार्थ से उन्मुक्त होना सदा का स्वभाव है। एकमात्र भगवान् ही समर्पित

जीवों के परमाश्रय है। उनके प्रति समर्पण में ही अभय निहित है। इस प्राकृत जगत मे भगवान् के चरण-कमलो में समर्पित हुये बिना कोई भी व्यक्ति मृत्यु के क्रूर पञ्जो से स्वयं को बचा नही सकता।

[१०]

अभिद्रवति मामीश शरस्तप्तायसो विभो।
कामं दहतु मां नाथ मा मे गर्भो निपात्यताम् ॥

अभिद्रवति=सम्मुख आ रही है, माम्=मेरे, ईश=हे भगवन्, शर =बाण, तप्त=अग्नितप्त, अयस=लोहे का, विभो=महान्, कामम्= इच्छानुसार, दहतु=जला डाले, माम्=मुझे, नाथ=मेरे रक्षक, मा=नही, मे=मेरे, गर्भ=गर्भ को, निपात्यताम्=नष्ट करे।

अनुवाद

हे मेरे भगवन्, आप सर्वशक्तिमान है। एक उत्तप्त लौहमय बाण अत्यन्त शीघ्रता से मेरी ओर चला आ रहा है। यह भले ही मुझे भस्म कर दे परन्तु मेरे स्वामी, यह मेरे गर्भ को नष्ट न करे कृपया ऐसी कृपा कीजिये।

तात्पर्य

उत्तरा के पति अभिमन्यु की मृत्यु के पश्चात् यह घटना घटी थी। अभिमन्यु की विधवा पत्नी उत्तरा अपने पति का अनुगमन को होती परन्तु चूंकि वह गर्भवती थी, एव महान् भगवद्भक्त महाराजा परीक्षित उसके गर्भ मे निवास कर रहे थे अत उसे उनकी सुरक्षा का उत्तरदायित्व वहन करना पडा। शिशु की माता पर उसकी सम्पूर्ण सुरक्षा का महान् उत्तरदायित्व रहता है और इसलिये उत्तरा सब कुछ स्पष्ट रूप से भगवान् श्रीकृष्ण के समक्ष प्रगट करने मे सकुचित नही हुई। उत्तरा एक महान् राजा विराट् की कन्या थी तथा अभिमन्यु जैसे महान् वीर की पत्नी थी एव महान् भक्त अर्जुन की शिष्या थी। समय बीतने पर वह ऐसे पुत्र की माता बनी जो केवल एक महान् सम्राट् ही नही अपितु भगवान का विशुद्ध भक्त भी हुआ। इस प्रकार सभी क्षेत्रों में वह भाग्यशालिनी थी।

[११]

सूत उवाच

उपधार्य वचस्तस्या भगवान् भक्तवत्सलः ।
अपाण्डवमिदं कर्तुं द्रौणेरस्त्रमबुध्यत ॥

सूतः उवाच=सूत गोस्वामी बोले; उपधार्य=उसे धैर्यपूर्वक सुनकर; वचः=शब्दो को, तस्याः=उसकी, भगवान्=भगवान्, भक्तवत्सलः=वे जो भक्तों के प्रति अतिशय करुणापूर्ण है; अपाण्डवम्=पाण्डव वंश रहित, इदम्=यह, कर्तुम्=करने के लिये; द्रौणेः=द्रोणाचार्य के पुत्र का, अस्त्रम्=अस्त्र, अबुध्यत=इसे समझा ।

अनुवाद

सूत गोस्वामी बोले; सुभद्रा की बात सुनकर भक्तों पर सदा अनुग्रह करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण तत्काल समझ गये कि द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा ने पाण्डवों का वंश-बीज समाप्त करने के लिए ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया है ।

तात्पर्य

भगवान् सभी ओर से उदासीन है तथापि वे अपने भक्तोके प्रति सतत दयालु बने रहते है । क्योंकि सम्पूर्ण जीव मात्र की उन्नति के लिए इसकी परम आवश्यकता है । सम्पूर्ण पाण्डव परिवार एक भक्त परिवार था । और इसीलिए भगवान् ने चाहा कि वे समस्त विश्व का शासन करे यही कारण था कि उन्होंने दुर्योधन के संगठन का आधिपत्य समाप्त कर महाराजा युधिष्ठिर की शासन सत्ता स्थापित की । इसीलिए वे महाराजा परीक्षित को भी बचाना चाहते थे । जो अभी गर्भ में थे । वे नही चाहते थे कि यह पृथ्वी पाण्डवों के महान् भक्त परिवार से शून्य हो ।

[१२]

तर्ह्येवाथ मुनिश्रेष्ठ पाण्डवाः पञ्च सायकान् ।
आत्मनोऽभि मुखान्दीप्तानालक्ष्यास्त्राण्युपाददुः ॥

तर्हि=उसके लिये; एव=भी, अथ=इसलिये, मुनिश्रेष्ठ=मुनियो मे प्रधान; पाण्डवाः=पाण्डु के समस्त पुत्रो का, पञ्च=पाँच, सायकान्=वाण; आत्मन.=स्वय, अभिमुखान्=की ओर, दीप्तान्=प्रकाशमान्, आलक्ष्य=इसे देखकर; अस्त्राणि=अस्त्र, उपाददु=लिया।

अनुवाद

हे मुनि-श्रेष्ठ शौनक जी ! जव पाण्डवों ने देखा कि अग्नि से उत्तप्त पाँच भयंकर वाण उनकी ओर भी चले आ रहे है। तो उन्होने अपने अस्त्र शस्त्र उठा लिये।

तात्पर्य

ब्रह्मास्त्र अणु अस्त्रों से भी सूक्ष्मतर है। अश्वत्थामा ने महाराजा युधिष्ठिर सहित पाँचों भाइयों और उत्तरा के गर्भ मे स्थित उनके पौत्र को समाप्त करने के लिए ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया था।इसलिए अत्यन्त प्रभावशाली एवं अणुशक्ति से भी सूक्ष्मतर ब्रह्मास्त्र अणु वम की भाँति अन्धा अस्त्र न था। जव अणुवम का प्रयोग होता है तो वे लक्ष्य एव अन्यो का विवेक नही कर सकते। अणुवम निरपराधों का भी सहार करता है क्योंकि विस्फोट् के अनन्तर उस पर कोई नियत्रण सम्भव नही है। ब्रह्मास्त्र ऐसा नही होता, यह पहले लक्ष्य को पहचानता है तथा अन्य निरपराधों को विना पीडित किये उसी ओर दौडता है।

[१३]

व्यसनं वीक्ष्य तत्तेषामनन्य विषयात्मनाम्।
सुदर्शनेन स्वास्त्रेण स्वानां रक्षां व्यधाद्विभुः॥

व्यसनम्=महान् भय, वीक्ष्य=देखकर; तत्=वह; तेषाम्=उनके; अनन्य=अन्य कोई, विषय=आलम्वन, आत्मनाम्=अपने मे सन्नद्ध, सुदर्शनेन=श्रीकृष्ण के सुदर्शन चक्र द्वारा, स्व अस्त्रेण=अस्त्र के द्वारा, स्वानाम्=अपने भक्तों का, रक्षाम्=रक्षा, व्यधात्=किया, विभु.=सर्वशक्तिमान्।

अनुवाद

सर्व शक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण ने देखा कि उनके शरणागत भक्तों पर महान् विपत्ति आ रही है तब तत्काल उन्होंने उनकी रक्षा के लिए सुदर्शन चक्र उठा लिया।

तात्पर्य

अश्वत्थामा के द्वारा प्रयुक्त ब्रह्मास्त्र लगभग अणु अस्त्रो के समान था परन्तु ऊर्जा एवं ताप में वह उनसे विशिष्ट था। यह ब्रह्मास्त्र एक सूक्ष्म गहन विज्ञान की देन है। यह सूक्ष्मतर ध्वनियों से, वेदोक्त मन्त्रों से सञ्चालित होता है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि यह अणु अस्त्रो की भाँति अन्धा नही है क्योकि यह केवल एक लक्ष्य के लिए ही प्रयुक्त होता है। अश्वत्थामा ने पाण्डव-परिवार के समस्त नर सदस्यो की मृत्यु के लिए उसका प्रयोग किया था इसलिए यह अणअस्त्र से भी अधिक भयानक है। क्योंकि यह भली-भाँति सुरक्षित स्थान मे भी प्रवेश कर सकता है तथा लक्ष्य को कभी नही छोड सकता। यह सब बाते जानते हुए भगवान् श्रीकृष्ण तत्क्षण अपना सुदर्शन चक्र अपने भक्त की रक्षा के लिए उठा लेते है। क्योकि उन्होने भगवद् गीता मे स्पष्ट कहा है कि उनका भक्त कभी नष्ट नही हो सकता और भक्तो के साथ उनके व्यवहार का स्तर एव प्रकार उनके प्रति अर्पित प्रेममयी सेवा के अनुपात पर आधारित है। यहाँ "अनन्य विषयात्मनाम' शब्द महत्वपूर्ण है। पाण्डव यद्यपि शत-प्रतिशत भगवत्सुरक्षा पर ही अवलम्बित थे तथापि वे स्वयं महान् योद्धा भी थे। परन्तु भगवान् महान् योद्धाओं के कुछ करने के पूर्व ही क्षणमात्र मे सङ्कट का नाश कर देते है। जब भगवान् ने देखा कि अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र के प्रतीकार के लिये पाण्डवो के पास कोई समय शेष नही बचा है तब तत्काल उन्होने अपने व्रत पर कोई ध्यान न देकर सुदर्शन चक्र उठा लिया। यद्यपि महाभारत युद्ध प्राय. समाप्त हो चुका था; तथापि अपने वचनानुसार उन्हे शस्त्र ग्रहण नही करना था। परन्तु सङ्कट-कालीन कर्तव्य पूर्व स्वीकृत व्रतो की अपेक्षा नही करता। इसीलिये तो श्रीकृष्ण "भक्तवत्सल" भक्तो के प्रेमी कहे जाते है। और वे सदा सामाजिक-नैतिकताओं एव आदर्शवादिताओ से भक्तवत्सलता एव प्रेममयता को अधिक महत्त्व देते है।

[१४]

अन्तःस्थः सर्वभूतानामात्मा योगेश्वरो हरिः ।
स्वमाययावृणोद्गर्भं वैराट्याः कुरुतन्तवे ॥

अन्त.स्थ =भीतर मे स्थित, सर्व=सब, भूतानाम्=जीवो का, आत्मा=आत्मा, योग-ईश्वर =समस्त रहस्यमय चामत्कारिक विद्याओ के स्वामी हरि =सर्वोच्च स्वामी, स्वमायया=अन्तरङ्गा शक्ति से, अवृणोत =आवृत किया, गर्भम्=गर्भ को; वैराट्या.=उत्तरा का, कुरु-तन्तवे= महाराज कुरु के वंशधर की रक्षा के लिये ।

अनुवाद

परम रहस्यमय भगवान् श्रीकृष्ण सदा सम्पूर्ण भूतप्राणियो के हृदय मे परमात्मा रूप से विराजमान है। उन्होने कुरुवंश की रक्षा के लिये अपनी शक्ति से उत्तरा के गर्भ को आच्छादित कर लिया ।

तात्पर्य

योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण अपने अंश परमात्म रूप मे एक ही साथ सम्पूर्ण भूतप्राणियो के हृदय मे निवास कर सकते है। इसलिये उन्होने उत्तरा के शरीर के भीतर मे ही गर्भ को सुरक्षित कर दिया और इस प्रकार कुरु एवं पाण्डव दोनो के वंश-बीजो की रक्षा की। धृतराष्ट्र एवं पाण्डव दोनो के पुत्र महाराजा कुरु के ही वंशज कहलाते थे इसलिए दोनो ही कुरु वंशी थे जब दोनों परिवारो के बीच विप्लव हुआ तब धृतराष्ट्र के पुत्र कौरव कहलाये एवं पाण्डु के पुत्र पाण्डव । धृतराष्ट्र के समस्त पुत्र एवं पौत्र कुरुक्षेत्र के मैदान मे मारे गये अत वंश की अन्तिम सन्तान कुरुतन्तवे कहा गया है ।

[१५]

यद्यप्यस्त्रं ब्रह्मशिरस्त्वमोघं चाप्रतिक्रियम् ।
वैष्णवं तेज आसाद्य समशाम्यद् भृगूद्वह ॥

यद्यपि=यद्यपि, अस्त्रम्=अस्त्र; ब्रह्म=ब्रह्म, शिर.=सर्वोच्च. तु=किन्तु अमोघम्=अप्रतिहत, च=और, अप्रतिक्रियम्=जिसका कोई प्रतीकार नहीं. वैष्णवम्=विष्णु से सम्बन्धित, तेज:=शक्ति; आसाद्य=सामना हुआ. समशाम्यत्=प्रशमित हो गया; भृगूद्वह=हे भृगुवंशियो के सौभाग्य ।

अनुवाद

हे शौनकजी. यद्यपि अश्वत्थामा के द्वारा प्रयुक्त ब्रह्मास्त्र अमोघ था। उसका प्रतिकार नही किया जा सकता था। तथापि जब वह भगवान् के सम्मुख पहुँचा तब तत्क्षण ही उसका वेग शान्त हो गया।

तात्पर्य

भगवद्गीता में यह कहा गया है कि ब्रह्म-ज्योति श्रीकृष्ण विग्रह मे विश्राम पाती है। अन्य शब्दो में ब्रह्म-तेज और कुछ नही भगवान् के श्रीविग्रह की वाह्य-ज्योत्स्ना मात्र है। जैसे सूर्य की किरणे सूर्य मण्डल की किरणे है। अत. यह ब्रह्मास्त्र भी यद्यपि भौतिक दृष्टि से अमोघ है तथापि भगवान् की महान् शक्ति का अतिक्रमण नही कर सकता वह अश्वत्थामा के द्वारा निक्षिप्त होकर, भगवान् के सम्मुख आकर उन्ही की शक्ति से पराभूत होकर विफल हो गया। भगवान् स्वयं ही एक शक्ति है। उन्हे किसी अन्य सहायक या माध्यम की आवश्यकता नही है। वे स्वयं अद्वय-तत्व है।

[१६]

मा मंस्था ह्येतदाश्चर्यं सर्वाश्चर्यमयेऽच्युते ।
य इदं मायया देव्या सृजत्यवति हन्त्यजः ॥

मा=नही. मंस्था:=इसे सोचो: हि=निश्चित ही, एतत्=ये समस्त, आश्चर्यम्=आश्चर्यजनक, सर्व=सब, आश्चर्यमये=सम्पूर्ण चमत्कारो मे. अच्युते=जिसका पतन न हो सके; य.=जो. इदम=यह (सृष्टि). मायया=उनकी शक्ति के द्वारा, देव्या=दिव्य, सृजति=निर्मित करना है. अवति=पालन करता है: हन्ति=संहार करना है, अज=अजन्मा।

अनुवाद

हे ब्राह्मणो ! इसमें कोई आश्चर्य की बात नही है भगवान् की लीलाये अमोघ एव अति रहस्यमय है तथा उनकी दिव्य शक्ति के द्वारा सघटित होती है। वे सम्पूर्ण भौतिक पदार्थो को उत्पन्न करते है, पालन करते है. और संहार भी करते हैं तथापि वे स्वयं अजन्मा रहे आते है।

तात्पर्य

भगवान् की लीलाये जीवों की तुच्छ मति के लिए अगम्य है, अचिन्त्य है,भगवान् के लिए कुछ भी असम्भव नही है। किन्तु उनके समस्त कार्य-कलाप हमारे लिए अत्यन्त आश्चर्यमय है। और इस प्रकार वे हमारी कल्पनाओ की सीमा से परे है। सर्वशक्तिमान् एव शत-प्रतिशत परिपूर्ण है जबकि नारायण ब्रह्मा, शिव तथा अन्य जीवगण विभिन्न परिमाणो मे पूर्णता धारण किये हुए है। कोई भी भगवान् के समकक्ष नही, वे अद्वितीय है।

[१७]

ब्रह्मतेजोविनिर्मुक्तैरात्मजैः सह कृष्णया।
प्रयाणाभिमुखं कृष्णमिदमाह पृथा सती ।।

ब्रह्म-तेज.=ब्रह्मास्त्र की ऊर्जा के विकीरण से, विनिर्मुक्त.=रक्षित होकर, आत्मजैः=पुत्रों के; सह=साथ, कृष्णया=द्रौपदी, प्रयाण=प्रस्थान; अभिमुखम्=की ओर, कृष्णम्=भगवान् श्रीकृष्ण को, इदम्=यह, आह=बोले, पृथा=कुन्ती, सती=पतिव्रता या भगवद्भक्ता।

अनुवाद

इस प्रकार जब ब्रह्मास्त्र की प्रचण्ड ऊर्जा से पाण्डव वश की रक्षा हो गई, तब भगवान् श्रीकृष्ण पुन. द्वारका यात्रा के लिए रथारूढ होने लगे। उस समय सती कुन्ती ने अपने पाँचों पुत्रों एव देवी द्रौपदी के साथ भगवान् श्रीकृष्ण को सम्बोधित करते हुए ऐसा कहा।

तात्पर्य

कुन्तीदेवी यहाँ सती कही गई है उसका कारण भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों मे उनकी प्रगाढ़ अहैतुकी भक्ति है। इनका हृदय निम्नलिखित प्रार्थना में प्रकट होगा। भगवान् का अनन्य भक्त किन्ही अन्य जीवों या देवताओं की अपेक्षा नही करता। आपत्तिकाल मे भी उद्धार के लिए वह किसी से विनय नही करता। पाण्डवों के सम्पूर्ण परिवार का यही लक्षण है। वे श्रीकृष्ण के अतिरिक्त कुछ नही जानते थे; अतएव भगवान् भी सम्पूर्ण परिस्थितियो में, सभी क्षेत्रो मे उनके सहायतार्थ सदैव प्रस्तुत रहते थे। यही भगवान् का दिव्य स्वभाव है। वे भक्तों के स्वातन्त्र्य का अनुगमन करते हैं इसलिए किसी को भी अपनी सहायता के लिए अपूर्ण जीवों अथवा देवताओं से आशा नही करनी चाहिए किन्तु सर्वात्म भाव से भगवान् श्रीकृष्ण से ही अपेक्षा करनी चाहिए जो अपने भक्तों को सुरक्षा देने में सदैव समर्थ है। ऐसा अनन्य भक्त भगवान् से भी कभी सहायता नहीं माँगता किन्तु भगवान् स्वयं ही अपनी ओर से उनकी सहायता का अवसर ढूंढते रहते है।

[१८]

कुन्त्युवाच

नमस्ये पुरुषं त्वाऽऽद्यमीश्वरं प्रकृतेः परम् ।
अलक्ष्यं सर्व भूतानामन्तर्बहिरवस्थितम् ॥

कुन्ती उवाच=श्रीमती कुन्ती बोलीं; नमस्ये=नमस्कार करती हूँ; पुरुषं=परमपुरुष को; त्वा=यद्यपि; आद्यम्=मौलिक; ईश्वरम्=परम नियन्त्रक; प्रकृत्येह=प्राकृत जगत्; परम्=परे; अलक्ष्यम्=अदृश्य, सर्व=सव; भूतानाम्=आश्रित जीवों को; अन्त.=भीतर; वहिः=विना; अवस्थितम्=स्थित है।

अनुवाद

श्रीमती कुन्ती बोली, हे श्रीकृष्ण ! आप आदि पुरुष साक्षात् भगवान् है। आप तीनों गुणों से कभी सम्पृक्त नही होते। आप सम्पूर्ण प्राणियों के भीतर एवं बाहर विराजमान है तथापि इन्द्रियों की वृत्तियो से सदा अदृश्य बने रहते हैं।

तात्पर्य

श्रीमती कुन्तीदेवी भलीभाँति जानती थी, कि श्रीकृष्ण ही भगवत्ता के अनादि मौलिक स्वरूप है तथापि अभी वे उनके भ्रातृपुत्र की भूमिका प्रस्तुत कर रहे है। ऐसी महान् प्रतिभाशालिनी वयोवृद्धा महिला अपने भतीजे को प्रणाम करने की त्रुटि नही कर सकती थी। वे भली भाँति जानती थीं कि वे भगवान् हैं। अतएव वे उन्हें आदि पुरुष एवं भौतिक जगत के परे शव्द से सम्वोधित करती है। यद्यपि समस्त जीवगण भी दिव्य हैं तथापि न तो वे अनादि हैं और न अच्युत है। जीव भौतिक प्रकृति के दलदल में पड़ जाने के लिए मजबूर है परन्तु भगवान् इस प्रकार नही है। इसलिए वेदों में वे समस्त चेतनाओ की चेतना के रूप में वर्णित हुए है।—"नित्यो नित्यानाम् चेतनश्चेतनानाम्।" तत्पश्चात् वे ईश्वर या परम शासक के रूप में वर्णित हुए जीवगण या चन्द्र सूर्य आदि देवतागण भी उसी अनुपात मे ईश्वर कहे गये हैं; किन्तु उनमे से कोई भी परमेश्वर नही है। तथा अन्तर्यामी भी नही है। परन्तु भगवान् भीतर एवं वाहर सर्वत्र विद्यमान है यद्यपि वे कुन्तीदेवी के समक्ष उनके भतीजे के रूप में विराजमान है तथापि अन्य समस्त प्राणियों के भीतर भी विराजमान हैं। भगवद्गीता (१५/१५) मे भगवान् श्रीकृष्ण कहते है–मैं सम्पूर्ण भूत प्राणियो के हृदय मे विराजमान हूँ तथा केवल मुझसे ही स्मृति विस्मृति एवं ज्ञान होता है। सम्पूर्ण वेदोके द्वारा एक मैं ही जानने योग्य हूँ,क्योकि मैं ही वेदो का सम्पादक हूँ। और मैं वेदान्त का उद्घोपक हूँ।रानीकुन्ती मानती है कि यद्यपि आप सम्पूर्ण भूत प्राणियों के भीतर एवं वाहर विराजमान है तथापि अदृश्य एव अज्ञात रहे आते है।अतएव भगवान् सदा सामान्य व्यक्तियों के लिए एक रहस्य,एक पहेली ही वने रहते है। रानी कुन्ती प्रत्यक्ष अनुभव कर रही है; कि भगवान् श्रीकृष्ण सम्मुख उपस्थित है फिर भी वे अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से उत्तरा के गर्भ की रक्षा करने के लिए उनके गर्भ में भी प्रवेश कर गये कुन्तीदेवी स्वयं भ्रमित थी; कि श्रीकृष्ण सर्वव्यापक है अथवा एकदेशीय ? वास्तव मे वे दोनों है परन्तु वे एक ऐसी योग्यता से भी सम्पन्न हैं जिसके द्वारा वे केवल समर्पित व्यक्तित्वो के समक्ष ही प्रगट हो सके यह अवरोधक आवरण ही भगवान् की जन-मोहिनी माया कहलाती है। और यह विद्रोही नास्तिक जीवो का दृष्टि वन्धन करती है यह नीचे वर्णन किया जा रहा है।

[१९]

मायाजवनिकाच्छन्नमज्ञाधोक्षजमव्ययम् ।
न लक्ष्यसे मूढ़दृशा नटो नाटयधरो यथा ॥

माया=मोहक, जवनिका=पर्दा; आच्छन्नम्=द्वारा आवृत; अज्ञा=अज्ञानी, अधोक्षजम्=प्राकृत धारणाओं के क्षेत्र के परे (चिन्मय); अव्ययम्=अनिंद्य, निर्दोष; न=नही; लक्ष्यसे=देखा जाता है; मूढदृशः=मूढ़ दर्शको द्वारा, नटः=कलाकार; नाटयधरः=क्रीड़ा करने वाले की भाँति वेष धारण किया हुआ, यथा=जैसे।

अनुवाद

कुन्ती देवी कहती हैं—हे श्रीकृष्ण, आप समस्त इन्द्रियों की सीमित ग्राहिका शक्ति की पहुँच के पार हैं। आप स्वयं को अपनी विश्व विमोहनी अभेद्य माया के पर्दे से ढके रहते है। जैसे मूर्ख दर्शक विविध वेषधारण करने वाले नट को प्रत्यक्ष देखकर भी नही पहचान सकते उसी भाँति ससार के अज्ञानी जीवों द्वारा आप भी पहचान में नही आते है ?

तात्पर्य

भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते है कि मूढ अपनी मूढता के कारण उन्हे एक सामान्य व्यक्ति मानते है और वे उनका उपहास करते है। रानी कुन्ती के द्वारा इसी वक्तव्य का समर्थन हो रहा है।मूढ वे है जो भगवान् की सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करते है ऐसे व्यक्ति असुर कहे जाते है. असुर भगवान् की सत्ताको नहीं पहचान सकते जब भगवान् स्वयं हमारे बीच मे श्रीराम, श्रीनृसिंह, श्रीवराह, या साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण के रूप मे प्रकट होते है तब वे बहुत सी ऐसी आश्चर्यजनक लीलाएं करते हैं जो मानवीय सामर्थ्य के लिए असम्भव हैं। जैसे कि इस महान् ग्रन्थ के दसवे स्कन्ध मे पायेंगे कि भगवान् श्रीकृष्ण के जीवन में अपनी माँ की गोद से ही उनकी अतिमानवीय लीलाओ का क्रम शुरू हो गया। उन्होंने पूतना डाइन को जो इन्हे मार डालने के लिए स्तनों मे विष लगाकर आई थी, बात ही बात

तात्पर्य

श्रीमती कुन्तीदेवी भलीभाँति जानती थी, कि श्रीकृष्ण ही भगवत्ता के अनादि मौलिक स्वरूप हैं तथापि अभी वे उनके भ्रातृपुत्र की भूमिका प्रस्तुत कर रहे हैं। ऐसी महान् प्रतिभाशालिनी वयोवृद्धा महिला अपने भतीजे को प्रणाम करने की त्रुटि नहीं कर सकती थी। वे भली भाँति जानती थीं कि वे भगवान् हैं। अतएव वे उन्हे आदि पुरुष एवं भौतिक जगत के परे शब्द से सम्बोधित करती है। यद्यपि समस्त जीवगण भी दिव्य है तथापि न तो वे अनादि है और न अच्युत है। जीव भौतिक प्रकृति के दलदल में पड़ जाने के लिए मजबूर हैं परन्तु भगवान् इस प्रकार नही है। इसलिए वेदों में वे समस्त चेतनाओं की चेतना के रूप में वर्णित हुए है।—"नित्यो नित्यानाम् चेतनश्चेतनानाम्।" तत्पश्चात् वे ईश्वर या परम शासक के रूप में वर्णित हुए जीवगण या चन्द्र सूर्य आदि देवतागण भी उसी अनुपात में ईश्वर कहे गये है; किन्तु उनमे से कोई भी परमेश्वर नही है। तथा अन्तर्यामी भी नही है। परन्तु भगवान् भीतर एवं बाहर सर्वत्र विद्यमान है यद्यपि वे कुन्तीदेवी के समक्ष उनके भतीजे के रूप मे विराजमान है तथापि अन्य समस्त प्राणियों के भीतर भी विराजमान है। भगवद्गीता (१५/१५) मे भगवान् श्रीकृष्ण कहते है–मै सम्पूर्ण भूत प्राणियो के हृदय मे विराजमान हूँ तथा केवल मुझसे ही स्मृति विस्मृति एवं ज्ञान होता है। सम्पूर्ण वेदोके द्वारा एक मैं ही जानने योग्य हूँ, क्योकि मैं ही वेदों का सम्पादक हूँ। और मै वेदान्त का उद्घोषक हूँ। रानीकुन्ती मानती है कि यद्यपि आप सम्पूर्ण भूत प्राणियो के भीतर एवं बाहर विराजमान है तथापि अदृश्य एव अज्ञात रहे आते है। अतएव भगवान् सदा सामान्य व्यक्तियों के लिए एक रहस्य, एक पहेली ही बने रहते है। रानी कुन्ती प्रत्यक्ष अनुभव कर रही है; कि भगवान् श्रीकृष्ण सम्मुख उपस्थित है फिर भी वे अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से उत्तरा के गर्भ की रक्षा करने के लिए उनके गर्भ मे भी प्रवेश कर गये कुन्तीदेवी स्वय भ्रमित थी, कि श्रीकृष्ण सर्वव्यापक है अथवा एकदेशीय ? वास्तव में वे दोनों है परन्तु वे एक ऐसी योग्यता से भी सम्पन्न है जिसके द्वारा वे केवल समर्पित व्यक्तित्वों के समक्ष ही प्रगट हो सके यह अवरोधक आवरण ही भगवान् की जन-मोहिनी माया कहलाती है। और यह विद्रोही नास्तिक जीवो का दृष्टि बन्धन करती है यह नीचे वर्णन किया जा रहा है।

[१९]

मायाजवनिकाच्छन्नमज्ञाधोक्षजमव्ययम् ।
न लक्ष्यसे मूढ़दृशा नटो नाटचधरो यथा ।।

माया=मोहक; जवनिका=पर्दा; आच्छन्नम्=द्वारा आवृत; अज्ञा=अज्ञानी; अधोक्षजम्=प्राकृत धारणाओं के क्षेत्र के परे (चिन्मय); अव्ययम्=अनिद्य, निर्दोष, न=नही; लक्ष्यसे=देखा जाता है; मूढदृश:=मूढ दर्शकों द्वारा, नट:=कलाकार; नाटचधर:=क्रीड़ा करने वाले की भाँति वेष धारण किया हुआ; यथा=जैसे ।

अनुवाद

कुन्ती देवी कहती है—हे श्रीकृष्ण, आप समस्त इन्द्रियों की सीमित ग्राहिका शक्ति की पहुँच के पार है। आप स्वयं को अपनी विश्व विमोहनी अभेद्य माया के पर्दे से ढके रहते है। जैसे मूर्ख दर्शक विविध वेषधारण करने वाले नट को प्रत्यक्ष देखकर भी नही पहचान सकते उसी भाँति संसार के अज्ञानी जीवों द्वारा आप भी पहचान में नही आते है ?

तात्पर्य

भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते है कि मूढ अपनी मूढता के कारण उन्हें एक सामान्य व्यक्ति मानते है और वे उनका उपहास करते है। रानी कुन्ती के द्वारा इसी वक्तव्य का समर्थन हो रहा है।मूढ वे है जो भगवान् की सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करते है ऐसे व्यक्ति असुर कहे जाते है. असुर भगवान् की सत्ताको नही पहचान सकते जब भगवान् स्वयं हमारे बीच मे श्रीराम, श्रीनृसिंह, श्रीवराह, या साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में प्रकट होते है तब वे वहुत सी ऐसी आश्चर्यजनक लीलाऐ करते है जो मानवीय सामर्थ्य के लिए असम्भव है। जैसे कि इस महान् ग्रन्थ के दसवे स्कन्ध में पायेंगे कि भगवान् श्रीकृष्ण के जीवन में अपनी माँ की गोद से ही उनकी अतिमानवीय लीलाओं का क्रम शुरू हो गया। उन्होंने पूतना डाइन को जो इन्हे मार डालने के लिए स्तनो मे विष लगाकर आई थी, वात ही वात

में समाप्त कर दिया। भगवान् सामान्य शिशु की भाँति उसका स्तन पान करने लगे एव दूध के साथ ही उसके प्राणों का भी पान कर लिया। इसी भाँति उन्होने बाल्यावस्था मे गोवर्द्धन पर्वत धारण किया। ठीक वैसे ही जैसे एक छोटा सा बालक एक छतरी धारण कर लेता है तथा कई दिनों तक उसे उठाये खड़े रहे एव व्रजवासियों की रक्षा की। ऐसे ही भगवान् की बहुत सी अति मानवीय लीलाये पुराणो, इतिहासो, उपनिषदो एव वैदिक साहित्यो मे वर्णित हुई है। उन्होने भगवद्गीता के रूप मे अति आश्चर्यजनक उपदेश प्रदान किया है। उन्होने एक अभिनेता, एक गृहस्थ, एक शिक्षक एव एक अनासक्त व्यक्तित्व की भव्य भूमिकाये प्रकट की है। वे व्यास, देवल, असित नारद, मध्व, शकर, रामानुज. श्रीचैतन्य महाप्रभु, जीव गोस्वामी, विश्वनाथ चक्रवर्ती, भक्तिसिद्धान्त सरस्वती तथा अन्य प्रामाणिक व्यक्तित्वो के द्वारा साक्षात् भगवान् स्वीकृत हुए है। उन्होने स्वय इसका उल्लेख प्रामाणिक साहित्यो के कतिपय स्थलो मे किया है। तथापि एक दानवीय मनोवृत्ति के व्यक्तियो का भी वर्ग है जो भगवान् को परम अद्वय सत्य स्वीकार करने मे आना-कानी करता है। इसका एकमात्र कारण उनकी अल्पज्ञता एव दुराग्रह है, जो भूत और भविष्य के उनके कतिपय दुष्कर्मो का परिणाम है। ऐसे व्यक्ति भगवान् श्रीकृष्ण को तब भी नही पहचान सके थे जब वे उनके सम्मुख उपस्थित थे। एक अन्य कठिनाई यह है कि जो अपनी अपूर्ण इन्द्रियो पर अवलम्बित है वे उन्हे भगवान् के रूप मे पहचानने मे असमर्थ सिद्ध होते है। ऐसे व्यक्तियो मे आधुनिक वैज्ञानिक भी सम्मिलित है। वे सभी बाते अपनी प्रयोगशाला मे प्रयोग करके ही जानना चाहते है। परन्तु भगवान् को प्रयोगशाला मे अपनी अपूर्ण ज्ञान एव अपूर्ण इन्द्रिय-शक्ति के द्वारा जानना सर्वथा असम्भव है। वे इस श्लोक मे अधोक्षज कहे गये है। जिसका अर्थ है, समस्त प्रायोगिक ज्ञान के परे हमारी सारी इन्द्रिया अपूर्ण है। हम प्रत्येक वस्तु को समझने का दावा करते है। परन्तु हमे स्वीकार करना होगा कि हम वस्तुओ एव स्थितियो को केवल एक निश्चित भौतिक परिस्थितियो के अन्तर्गत ही समझ सकते है, जो हमारे नियन्त्रण के बाहर है। भगवान् इन्द्रियों की अनुभूति-क्षमताओ के परे है। रानी कुन्ती आश्रित जीवो की इस अयोग्यता को समझती है, विशेषकर नारी जाति तो अति अल्प बुद्धि है। ऐसे अल्पबुद्धि मनुष्यो के लिये मन्दिर, मस्जिद, गिर्जाघर अवश्य होने चाहिये ताकि वे भगवान् का माहात्म्य, उनकी महिमा, उनकी गरिमा से वहाँ के प्रामाणिक

अधिकारियों द्वारा परिचित हो सके। अल्पबुद्धि जीवो के लिये आध्यात्मिक जीवन का ऐसा प्रारम्भ अति आवश्यक है। ऐसे-स्थल सार्वजनिक धरातल पर चेतना-स्तर के विकास एव उत्थान के केन्द्र होते है, ये सदा एव सर्वत्र समाज के एक आवश्यक-तत्व है, केवल मूर्ख मनुष्य ही ऐसे पवित्र स्थल की स्थापना का विरोध करते है। अल्पज्ञ व्यक्तियो के लिए भगवान् के सम्मुख दण्डवत् प्रणाम करना उतना ही लाभप्रद है जितना उच्च भूमिकारूढ भक्त के लिए भावयोग के द्वारा भगवद्-ध्यान में तल्लीन होना।

[२०]

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् ।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः ॥

तथा=तथापि; परमहंसानाम्=वे, जो अतीन्द्रिय विज्ञान में आगे बढे हुए है: मुनीनाम्=महान् दार्शनिकों को, अमलात्मनाम्=वे, जिनका मस्तिष्क आत्मा एव पदार्थ के पार्थक्य ज्ञान से युक्त है, उन्हे; भक्तियोग=प्रेममयी-सेवा का विज्ञान, विधान-अर्थम्=सम्पन्न करने के लिये; कथम्=क्यों, पश्येम=देख सकती हूँ, हि=निश्चय ही; स्त्रियः=स्त्री।

अनुवाद

हे भगवन्, जो चेतना-विकास की उच्चतम अवस्था परमहंस भूमिका मे आरूढ है, जो मननशील मुनि है; आत्मा एवं अनात्मा का विवेक करते हुए जीवन यापन करने से जिनके अन्तःकरण निर्मल हो चुके है; उनके हृदय मे अपनी प्रेममयी सेवा के दिव्य आनन्द विज्ञान का सञ्चार करने के लिये ही आपका इस भूलोक में शुभागमन होता है। हे देव ! मैं एक नारी आपको भला कैसे जान सकती हूँ ?

तात्पर्य

महानतम विचारक अथवा दार्शनिक भी भगवान् का पता नही लगा सकते। उपनिषदो में यह कहा गया है कि परम सत्य भगवान् महान् दार्शनिकों के सूक्ष्म-चिन्तन से परे है। वे ही उन्हें जान सकते है जिन पर वे

कृपा करते हैं। अन्य व्यक्ति अनेक वर्षों तक चिन्तन ही क्यों न करते रहें तथापि वे अज्ञात ही रहे आयेगे।यह तथ्य देवी कुन्ती के वचनों में अन्तर्भूत है; जो एक अल्पज्ञा नारी की भूमिका अर्पित कर रही है। सामान्य नारी दार्शनिकों की भाँति चिन्तन नहीं कर सकती। परन्तु फिर भी वे भगवत् कृपा प्राप्त हैं। क्योंकि वे भगवान् की सर्व शक्तिमत्ता एवं सर्वोत्तमता पर शीघ्र विश्वासकर लेती हैं; और इस प्रकार वे बिना किसी प्रकार की आत्म-हीनता के उन्हें नमस्कार अर्पित कर सकती है। भगवान् अवश्य ही कृपालु हैं तथापि वे महान् दार्शनिकों पर विशेष कृपा नही प्रदर्शित करते क्योंकि वे प्रयोजन की पवित्रता से अवगत होते हैं। सामान्यत- किसी भी धार्मिक समारोह में स्त्रियाँ बहुत बड़ी संख्या में एकत्रित होती है। प्रत्येक देशो मे और प्रत्येक धर्म सम्प्रदायों में यही दृष्टिगोचर होता है कि नारियाँ पुरुषों से अधिक रुचि ले रही है। भगवान् की महत्ता की यह निर्दोष स्वीकृति किसी धार्मिकता के प्रदर्शन से अधिक प्रभावशाली है।

[२१]

कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च ।
नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमो नमः ॥

कृष्णाय=सर्वोच्च व्यक्तित्व, भगवान् को, *वासुदेवाय*=वसुदेव के पुत्र को, देवकीनन्दनाय=देवी देवकी के पुत्र को, च=और; नन्दगोप= गोपराज नन्द के, कुमाराय=पुत्र को, गोविन्दाय= गौओं एव इन्द्रियों को चेतना प्रदान करने वाले भगवान् को, नमो=आदरपूर्वक प्रणाम करता हूँ, नम.=आदर पूर्वक प्रणाम करता हूँ।

अनुवाद

मैं उन भगवान् को प्रणाम करती हूँ जो माता देवकी एवं वसुदेव का आनन्दवर्द्धन करने के लिए उनके पुत्र रूप में अवतीर्ण हुए है।जिन्होंने अपनी लीला-वैचित्री का विस्तार करते हुए नन्दकुमार के रूप में प्रकट होकर व्रज के गोप-गोपियो एव गौओं को आनन्द सागर मे सराबोर कर दिया है।

तात्पर्य

किसी भी भौतिक सम्प्रदाय एव प्रयत्न से भगवान् अगम्य एव दुष्प्राप्य है वे असीम एव अहैतुकी कृपा से इस भूलोक पर अवतीर्ण होते है। तथा अपने अनन्य भक्तों पर कृपा वर्षा करते है। मानवता की रक्षा करते है तथा दानवता का उपसहार करते है। रानी कुन्ती विशिष्ट रूप से अन्य समस्त अगम्य अवतारों से सुगम्य भगवान् श्रीकृष्ण की वन्दना करती है। रामावतार मे वे बाल्यकाल से ही राजकुमार की भाँति रहे परन्तु कृष्णावतार में यद्यपि वे एक राजकुमार ही थे—तथापि जन्म के पश्चात् वे अपने माता पिता वसुदेव देवकी के आश्रय से दूर चले गये तथा माता यशोदा की गोद मे आ गये, एक सामान्य बालक की भाँति क्रीडा करने लगे। उनकी पवित्र क्रीडाओं से व्रजभूमि धन्य-धन्य हो उठी। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण समस्त अवतारो से अधिक दयामय है। नि सन्देह वे कुन्ती के भाई वसुदेव एव उनके परिवारों पर अत्यन्त दयालु हुए। यदि वे वसुदेव देवकी के पुत्र न हुए होते तो रानी कुन्ती वात्सल्य स्नेह मे भरकर भ्रातृपुत्र के रूप में उन्हे सम्बोधित नही कर सकी होतीं। परन्तु नन्द एवं यशोदा तो अत्यन्त भाग्यशाली है, जिन्होने उनकी समस्त मधुर लीलाओ का आस्वादन किया व्रजभूमि में प्रदर्शित उनकी बाल लीलाओ की कोई तुलना नही है। व्रजभूमि भी अद्वितीय है क्योकि यह ब्रह्मसहिता-वर्णित चिन्तामणि-धाम अथवा मौलिक कृष्ण-लोक का प्रतिरूप है। भगवान् श्रीकृष्ण स्वय अपने अन्तरङ्ग दिव्य पार्षदो के साथ वहाँ अवतीर्ण हुए इसलिए श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते है कि व्रजभूमि के निवासियों के तुल्य सौभाग्यशाली कोई नही है विशेषकर गोपियाँ जिन्होंने भगवान् की सतुष्टि के लिए अपना सब कुछ समर्पित कर दिया। नन्द एव यशोदा के साथ उनकी लीलाएं, गोपियों के साथ उनकी लीलाएँ, गोपो एव गौओ के साथ उनकी लीलाओं ने उन्हें गोविन्द नाम प्रदान किया। भगवान् श्रीकृष्ण का गोविन्द नाम गौओं एवं ब्राह्मणो से अधिक सम्बन्धित है। क्योकि इसके द्वारा मानवीय समृद्धि का संकेत होता है जो इन दोनों पर ही अवलम्बित है। और वे दोनो है—ब्राह्मण सस्कृति एव गौ रक्षा। इन दोनों का जहाँ अभाव होता है भगवान् श्रीकृष्ण वहाँ से कभी सतुष्ट नही होते।

[२२]

नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने ।
नमः पङ्कजनेत्राय नमस्ते पङ्कजाङ्घ्रये ॥

नमः=आदर पूर्वक प्रणाम् करता हूँ; पङ्कजनाभाय=कमल पुष्प की भाँति नाभि वाले को, पङ्कजमालिने=कमल पुष्प की माला धारण करने वाले को; पङ्कजनेत्राय=कमल पुष्प की भाँति शीतलता पूर्वक दृष्टिपात करने वाले को, नमस्ते=मेरा आदर पूर्वक प्रणाम, पङ्कज-अङ्घ्रये=जिनके चरणतल में कमल पुष्प अङ्कित है उन्हें ।

अनुवाद

जिनकी नाभि में कमल पुष्प का अंकन है। जो सदा सुगन्धित कमलों की मालाये धारण किये रहते है । जिनका अवलोकन सदा कमल-पुष्पों की भाँति शान्ति एव आह्लाद प्रदान करने वाला है जिनके चरण कमलो में कमल का चिन्ह सुशोभित है उन भगवान् श्रीकृष्ण को मैं प्रणाम करती हूँ ।

तात्पर्य

यहाँ पर भगवान् श्रीकृष्ण के अप्राकृत दिव्य विग्रह मे भगवत्ता के प्रतीक चिन्हों का दिग्दर्शन कराया गया है जो अन्यों के शरीर से उनकी विशेपता प्रगट कराता है । वे सब भगवत् विग्रह विशिष्ट चिन्ह है वे हमारे बीच हममें से एक के रूप मे आकर रह सकते है,व्यवहार कर सकते है तथापि वे अपनी शारीरिक विशेपताओं से विशिष्ट ही बने रहेंगे । श्रीमती कुन्ती, नारी होने के कारण अपने को भगवद् दर्शन के अयोग्य घोपित करती है। क्योकि स्त्री, शूद्र, द्विजबन्धु एवं तीनों वर्णो के पतित व्यक्ति भगवान् के अप्राकृत नाम, रूप, गुण, यश को बुद्धि से समझने मे अयोग्य माने गये हैं । ऐसे व्यक्ति यद्यपि भगवान् के आध्यात्मिक क्षेत्र मे प्रवेश के अनधिकारी है तथापि वे अर्चा विग्रह के रूप में उनका दर्शन, उनका सेवन कर सकते है जो विशेपकर उन्ही के लिए आविष्कृत हुआ है । चूंकि ऐसे पतित जीव पदार्थों के परे किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने मे समर्थ नही है,

अतएव भगवान् असंख्य विश्वो मे से प्रत्येक में गर्भोदकशायी विष्णु के रूप मे कृपा पूर्वक प्रवेश करते है तथा उनकी नाभि मे एक कमल नाल उत्पन्न होता है। उसमे एक पुष्प का विकास होता है, और उसकी कर्णिका पर समस्त विश्व के आदि जीव ब्रह्मा प्रकट होते है इसलिए भगवान् पद्मनाभ के रूप मे विख्यात हुए।भगवान् पद्मनाभ विभिन्न तत्वो मे अर्चा-विग्रह रूप प्रकट करते है जैसे मनकी सूक्ष्म धारणा मे,काष्ठ विग्रह मे, मृण्मय-विग्रह मे, धातु-विग्रह में तथा रत्न-विग्रह मे, चित्र-विग्रह तथा बालुका-विग्रह मे अर्चा विग्रह बनकर वे प्रकट होते है। भगवान् के ये सब रूप सदा कमल पुष्पो की मालाओं से विभूषित होते है। तथा वहाँ मन्दिर मे शान्तिपूर्ण वायु-मण्डल स्थापित होना चाहिए ताकि वह स्थल अभक्तों के सासारिक दु खो से व्यग्र एव अशान्त चित्तों को आकर्षित करने वाला हो, उसे शान्त करने वाला हो। ध्यान करने वाले अपनी अन्तश्चेतना मे उनके रूप की भावना कर उनकी पूजा करते है अतएव भगवान् स्त्री, शूद्र एव द्विजो पर भी अत्यन्त दयालु है। उनकी कृपा अनुभूति के लिए एक मात्र यही शर्त है कि वे विभिन्न तत्वो से निर्मित उनके विभिन्न रूपो के दर्शन एव पूजन के लिए श्रद्धान्वित हो तथा जीवन मे दर्शन पूजन को अनिवार्यता प्रदान करे ऐसे दर्शनार्थीगण केवल तमाशबीन नही होते जैसे कि कुछ अल्पज्ञ लोगो द्वारा आरोप लगाया गया है। समस्त महान् आचार्यो ने अल्पज्ञो पर कृपा करने के लिए ही बहुत से मन्दिरो की स्थापना की है अतएव किसी को ऐसा दम्भ नहीं करना चाहिए कि वह मन्दिर मे प्रतिमा पूजन की अवस्था को लाँघ कर ऊँची अवस्था मे पहुँच गया है जब कि वह स्त्री एव शूद्र या उससे भी निम्नतर अवस्था मे स्थित है। मन्दिर में दर्शन करते समय सर्व प्रथम भगवान के चरणकमलों का दर्शन करना चाहिए तथा क्रमश उनके जानु, कटि, वक्षस्थल एव मुखारविन्द का दर्शन करे। किसी को सीधे भगवान के मुख पर दृष्टिपात करने का साहस नही करना चाहिए।चरणो मे दर्शन प्रारम्भ करना चाहिए। श्रीमती कुन्ती चूँकि उनकी बुआ थी अत वे भगवान् के चरणों की ओर से देखना प्रारम्भ न कर सकी क्योंकि उससे भगवान् को संकोच हो सकता था और इस प्रकार कुन्तीदेवी भगवान् को कष्ट न देकर उन्ही की सतुष्टि के लिए उनके चरण कमलो से थोडा ऊपर उनकी कटि से दर्शन करना प्रारम्भ करती है तथा क्रमश उनके मुख का अवलोकन करती है, तत्पश्चात् उनके चरण कमलो मे अपना प्रणाम समर्पित करती है। यहाँ प्रत्येक व्यवहार अत्यन्त व्यवस्थित रूप मे है।

[२३]

यथा हृषीकेश खलेन देवकी
कंसेन रुद्धातिचिरं शुचार्पिता ।।
विमोचिताहं च सहात्मजा विभो
त्वयैव नाथेन मुहुर्विपद्गणात् ।।

यथा=जैसे, हृषीकेश=इन्द्रियों के स्वामी, खलेन=दुष्टों के द्वारा; देवकी=भगवान् श्रीकृष्ण की माता देवकी, कंसेन=राजा कस के द्वारा, रुद्धा=कारावास में डाली गई, अति-चिरम्=लम्वे समय के लिये, शुचा-पिता=पीड़ित, विमोचिता=उद्धार किया गया; अहं च=मैं स्वयं भी, सह आत्मज=अपने पुत्रों के साथ; विभो=हे महापुरुष, त्वयैव=आप महामहिम के द्वारा; नाथेन=रक्षक द्वारा, मुहु.=वारम्वार, विपद्गणात्=विपत्तियो के लम्वे क्रम से।

अनुवाद

हे हृपीकेश आप समस्त इन्द्रियो के अधिपति है। देवताओं के देवता है आपने दुप्ट कंस के द्वारा पीड़ित एवं कारागार मे अवरुद्ध माता देवकी का उद्धार किया तथा मेरे वालकों एवं मुझे भी विपत्तियो के एक लम्वे जाल से उन्मुक्त किया है।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण की माता देवकी राजा कस की वहिन थी तथा उसके द्वारा अपने पति के साथ कारागार मे वन्द कर दी गई थी क्योकि वह ईर्ष्यालु राजा कंस देवकी के आठवे पुत्र श्रीकृष्ण के द्वारा मारे जाने की आशङ्का मे अत्यन्त भयभीत था।अतएव श्रीकृष्ण के जन्म के पूर्व देवकी के समस्त वालकों को वह मारता गया परन्तु श्रीकृष्ण इस वाल हत्या की विपत्ति मे पलायन कर गये वे नन्द महाराज के गृह मे स्थानान्तरित कर दिये गये। वे ही श्रीकृष्ण के पालक पिता हुए कुन्तीदेवी अपने समस्त पुत्रो के साथ विपत्तियों की एक लम्वी शृङ्खला मे मुक्त हुई परन्तु भगवान्

श्रीकृष्ण ने कुन्तीदेवी पर अधिक कृपा प्रदर्शित की क्योंकि उन्होंने कुन्तीदेवी के समस्त पुत्रों की रक्षा की; जब कि देवी देवकी के छ पुत्रो की रक्षा न हो सकी। इसका कारण यह था कि देवकी के पति वसुदेवजी जीवित थे; जब कि कुन्तीदेवी एक विधवा थी तथा श्रीकृष्ण के अतिरिक्त उनका कोई सहायक भी न था। निष्कर्ष यह है कि श्रीकृष्ण उन भक्तों पर अधिक कृपा करते है जो महाभयानक विपत्ति में पड जाय। कभी-कभी वे स्वय अपने सच्चे भक्तो पर बडी विपत्ति डाल देते है क्योंकि तब उस असहाय अवस्था में भक्त भक्ति के गहन धरातलो को स्पर्श करता है। जितनी अधिक भगवान् के प्रति आसक्ति की वृद्धि होगी उतने अधिक भक्ति के गहनतम धरातलों मे प्रवेश होगा तथा उसी अनुपात मे भक्त के जीवन मे सफलता एवं उन्नति का सूर्य प्रकाशित हो उठेगा।

[२४]

विषान्महाग्नेः पुरुषाददर्शना-
दसत्सभाया वनवासकृच्छ्रत. ।
मृधे मृधेऽनेकमहारथास्त्रतो
द्रौण्यस्त्रतश्चास्म हरेऽभिरक्षिता ।

विषात्=विष से, महाग्ने.=महान् अग्नि से; पुरुषाद्=आदमखोरो द्वारा, दर्शनात्=दर्शनो से, असत्=दुष्ट, सभाया=सभा से; वनवास=वनवास से, कृच्छ्रत =कष्टो से, मृधे मृधे=पुन युद्धभूमि मे; अनेक=बहुत, महारथा =महान् योद्धाओं, अस्त्रत =अस्त्रो द्वारा, द्रौणि.=द्रोणाचार्य के पुत्र के, अस्त्रत =अस्त्रो से; च=और, स्म.=भूतकाल का चिन्ह, हरे:=भगवान् के द्वारा अभिरक्षिता.=सर्वथा रक्षित हुई।

अनुवाद

हे मेरे प्रिय श्रीकृष्ण आपने हमे विष मे महान् अग्नि से, आदमखोरो से, भयकर दुष्टों की सभा से, वनवास की भयंकर विपत्तियों से एवं युद्ध स्थल मे अनेक अतिरथियों के अस्त्र शस्त्रो मे हमारी पुन.-पुन. रक्षा की तथा अभी-अभी ही आपने अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र मे हमारी रक्षा की है।

तात्पर्य

यहाँ भयानक विपत्तियों की एक लम्बी शृंखला का वर्णन किया गया है, जिसमें भगवान् ने सदा रक्षा की।देवकी अपने दुष्ट भाई के द्वारा केवल एक वार आतङ्क ग्रस्त हुई थी। अन्यथा वह सुखी थी परन्तु कुन्तीदेवी एवं उनके पुत्र एक के पश्चात् दूसरा,दूसरे के पश्चात् तीसरा इसप्रकार अनेक वर्षो तक आपत्ति-ग्रस्त होते रहे। वे दुर्योधन एवं उसके साथियों द्वारा राज्याधिकार प्राप्ति के लिए पीड़ित होते रहे तथा प्रत्येक बार वे समस्त कुन्ती पुत्र स्वयं भगवान् के द्वाग सुरक्षित रहे आये। एक बार उन दुष्टों ने भीमसेन को विषमिश्रित खाद्य पदार्थ खिला दिया था। एक बार उन्होंने शीघ्र जलने लायक पदार्थो से निर्मित गृह मे ठहराकर अग्नि लगा दी थी, एक वार कौरवों की दुष्ट सभा में द्रौपदी को वस्त्ररहित कर अपमानित करने की चेष्टा की गई तब भगवान् ने उसकी साड़ियों की लम्बाई सीमातीत कर दी एव दुर्योधन और उनके दुष्ट साथी उन्हे नग्न न देख सके।इसीप्रकार जब वे वन मे निर्वासित जीवन व्यतीत कर रहे थे तब भीमसेन को मनुष्य का आहार करने वाले हिडिम्व नामक राक्षस से सघर्ष करना पड़ा परन्तु भगवान् ने उनकी रक्षा कर ली। यही विपत्ति का अन्त नही हो गया। इन समस्त सङ्कटों से छूटने के अनन्तर कुरुक्षेत्र के महान् युद्ध की विभीषिका सम्मुख आई तथा अर्जुन को द्रोणाचार्य, भीष्म, कर्ण तथा अन्य महा शक्तिशाली योद्धाओ से संग्राम करना पड़ा और अन्त में जव सव प्रकार से पाण्डवों को विजयश्री मिल चुकी, तव अश्वत्थामा ने पाण्डवों की अन्तिम सन्तान का नाश करने के लिए उत्तरा के गर्भ पर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया, तथापि यहाँ भी भगवान् ने सव प्रकार से रक्षा कर ली। कुरुवश की अन्तिम सन्तान उनका एकमात्र उत्तराधिकारी परीक्षित वाल-वाल वच गये।

[२५]

विपदः सन्तु ताः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भव दर्शनम् ॥

विपदः=विपत्तियाँ, सन्तु=पुनः हों, ताः=समस्त, शश्वत=पुनःपुनः; तत्र=वहाँ; तत्र=वहाँ, जगद्गुरो=हे विश्व के स्वामी, भवतः=आप का, दर्शनम्=दर्शन; यत्=जो, स्याद्=है,अपुनः=फिर से नही, भवदर्शनम्=जन्म एवं मृत्यु की आवृत्तियों का दर्शन।

अनुवाद

हे जगद्गुरु, हे श्रीकृष्ण, मैं चाहती हूँ कि वे समस्त विपत्तियाँ पुनः लौट आवे, उनका लम्बा क्रम पुनः प्रारम्भ हो जाय ताकि हमें आपके विश्व-विमोहन पवित्र दर्शनों का पुनः पुनः लाभ प्राप्त होता रहे। आपके अनूप रूप की झाँकी से हमारा जन्म-मृत्यु का चक्र निवृत्त हो जाता है।

तात्पर्य

सामान्यत. दुखी (आर्त्त) अभाव-ग्रस्त (अर्थार्थी) बुद्धिजीवी (जिज्ञासु) एव ज्ञानी व्यक्ति भगवान् की उपासना में संलग्न रहते है अथवा सलग्न होते है। अन्य जो प्राय· दुष्कर्म-रत है वे चाहे किसी भी उच्च पद पर आरूढ़ क्यों न हो भ्रामिका शक्ति से अपहृत चेता, वे कभी भी भगवत्पथ-अनुगामी नही हो पाते। इसलिये सदाचारी व्यक्ति यदि विपत्तिग्रस्त भी हो तो भी उसके लिए भगवच्चरणारविन्दों का आश्रय ग्रहण किये बिना कोई अन्य उपाय नही है। सदा सर्वदा भगवच्चरणारविन्दों के स्मरण का अर्थ है जन्म मृत्यु के चक्र से मुक्ति। इसलिये यद्यपि जीवन में बहुत सी विपत्तियाँ है परन्तु भक्त उन सबका स्वागत करता है; क्योंकि वे भगवान् के पवित्र स्मरण का सुअवसर प्रदान करते है, जो जीवन के दु.खो की आत्यन्तिक निवृत्ति है। जिन्होंने भगवान् के चरण कमलों का आश्रय ले रखा है, वे अविद्या रूपी सागर को पार करने के लिए सुदृढ नाव पर आरूढ हो गये है तथा वे संसार-सागर को वैसे ही पार कर जायेगे; जैसे कोई व्यक्ति गाय के बछड़े के खुर से बने गड्ढे को पार कर जाता है। ऐसे व्यक्ति भगवत् धाम मे निवास के अधिकारी होते है, और उनका ऐसे स्थान से कोई सम्बन्ध नही रहता; जहाँ पग पग में विपत्तियों का आवागमन होता रहे। यह भौतिक जगत् भगवत् गीता में भगवान् के द्वारा एक ऐसे वीभत्स स्थल के रूप मे वर्णित हुआ है जो समस्त क्लेशों से आकीर्ण है; अल्पज्ञ मनुष्य अनन्त क्लेशमयिता रूप इस स्थल के स्वभाव को जाने बिना इन्ही के बीच में रहते हुये सुखी होने के लिए योजना बनाते रहते है उन्हें भगवान् के उस नित्य-धाम के सम्बन्ध में कोई सूचना नही है जो सम्पूर्ण क्लेशों एव विपत्तियों से रहित सम्पूर्ण आनन्दघन ज्ञान घन एवं शक्ति-सघन है। इसलिए पवित्र पुरुषों का कर्तव्य हैकि इस संसार की विपत्तियो से विचलित न हो क्योकि वे सम्पूर्ण परिस्थितियों मे यहाँ रहने ही वाले है, वह जगत्

का स्वभाव है। सब प्रकार के दुर्निवार्य दुर्भाग्यों को भोगते हुए उन्हे अपनी उदार मनोवृत्तियो से सुख रूप मे परिणत करते हुए व्यक्ति को चाहिए कि अध्यात्म मार्ग में विकास करे, क्योंकि मानव जीवन का यही सन्देश है। अन्तर्यामी परमात्मा सम्पूर्ण भौतिक विपत्तियों से अतीत है इसलिए तथा-कथित विपत्तियाँ मिथ्या है। एक व्यक्ति स्वप्न मे देख सकता है कि एक सिंह उसे निगल रहा है और वह उक्त विपत्ति के कारण चिल्ला सकता है परन्तु वास्तविक दृष्टि से वहाँ कोई सिह नही है और न ही वहाँ कोई दुख है। यह केवल स्वप्न है। इसी भाँति जीवन की समस्त विपत्तियाँ स्वप्नवत् है यदि कोई इतना भाग्यशाली है कि वह प्रेममयी सेवा के द्वारा भगवान् से सम्बन्ध स्थापित कर सके, तब उसने जीवन मे समस्त उपलब्धियाँ उपलब्ध कर ली। नवधा भक्ति मे से किसी भी एक पद्धति से जीव भगवत् सम्बन्ध भगवत्धाम की पुन उपलब्धि के पथ पर अग्रसर होता है।

[२६]

जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान् ।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिञ्चन गोचरम् ॥

जन्म=जन्म, ऐश्वर्य=ऐश्वर्य, श्रुत=विद्या, श्रीभि=कान्तियुक्त; एधमान्=निरन्तर अभिवर्धमान, मद=नशे मे, पुमान्=मनुष्य, न=नहीं, एव=कभी, अर्हति=योग्य होता है, अभिधातु=भावो द्वारा सम्बोधन; वै=निश्चित ही; त्वाम्=तुमको, अकिञ्चनगोचरम्=जो निर्धन एव दीनो द्वारा सुगमता पूर्वक प्राप्त होने योग्य होते है वे भगवान्।

अनुवाद

हे मेरे प्रभु, आप अकिञ्चनो के लिए अत्यन्त सुगम है, परन्तु जो उत्तम कुल मे जन्म वैभव, उच्च शिक्षा एव शारीरिक सौन्दर्य के कारण अहकार ग्रस्त हो गये है उनके लिए तो आप सर्वथा अगम्य है।

तात्पर्य

भौतिक दृष्टि मे उन्नत का अर्थ है कुलीन परिवार मे जन्म लेना,

अतुल वैभव का अधिकारी होना, उच्च शिक्षा एवं आकर्षक व्यक्तित्व का स्वामी होना। सभी भौतिकवादी व्यक्ति इन्ही सब पदार्थों की प्राप्ति के लिए पागल हो रहे है। और यही भौतिक सभ्यता का विकास माना जाता है परन्तु इन भौतिक सम्पत्तियों को अधिकृत करने का परिणाम यह है कि मनुष्य कृत्रिम रूप से गर्विष्ट हो जाता है। ऐसी क्षण भंगुर उपलब्धियो से वह मदोन्मत्त हो जाता है फलतः ऐसे व्यक्ति भगवन्नाम के उच्चारण से वञ्चित रह जाते है। वह भाव विह्वल होकर हे गोविन्द ! हे कृष्ण ! इस प्रकार भगवान् को पुकार नही सकता। शास्त्रो मे कहा गया है कि भगवान् के पवित्र नाम के एक बार उच्चारण से पापी व्यक्ति इतने अधिक पापों से मुक्त हो जाते है जितना वह अनेक जन्मों में भी कर पाने में असमर्थ है। भगवान् के नामोच्चारण की ऐसी ही शक्ति है इस वक्तव्य में तनिक भी अतिशयोक्ति नही है। वास्तव मे भगवन्नामों की ऐसी ही अतुल शक्ति है; परन्तु ऐसे उच्चारणों की विशेषता भी है यह भावों की गुणवत्ता पर अवलम्बित है। एक असहाय व्यक्ति अत्यन्त भाव-विगलित होकर भगवन्नामों का उच्चारण करता है; जबकि अन्य व्यक्ति सम्पूर्ण भौतिक सुखों के मध्य रहकर उसी नाम का उच्चारण करता है तब वह उतना भाव-प्रवण भावगद्गद् नही होता। भौतिक दृष्टि से गर्विष्ट व्यक्ति भी समय समय पर भगवन्नाम उच्चारण करता है; परन्तु वह उच्चारण के सम्पूर्ण गुणों को लाने में असमर्थ है; इसलिए चार प्रकार की भौतिक उपलब्धियाँ जैसे पहला उच्च कुल में जन्म, दूसरा सुन्दर स्वास्थ्य, तीसरा उच्च शिक्षा, चौथा आकर्षक सौदर्न्य, यह आध्यात्मिक-विकास में प्रमुख अवरोधक तत्व है। ये अयोग्यताऐ है जिस प्रकार ज्वर एक अस्वस्थ्य शरीर का बाह्य लक्षण है। सामान्य प्रक्रिया यह है कि ज्वर की मात्रा घटावें और दुरुपचार से वढावे नही। कभी-कभी यह देखा जाता है कि आध्यात्मिक दृष्टि से विकसित व्यक्ति भौतिक दृष्टि से अभाव-ग्रस्त होता है, परन्तु यह कोई निराशाजनक निरुत्साहजनक नही है, इसके विपरीत ऐसी दीनता एक अच्छा लक्षण है ठीक वैसे ही जैसे ज्वर तापमान का घटना एक अच्छा लक्षण है। जीवन का सिद्धान्त होना चाहिए भौतिक मदोन्मत्तता का परिणाम कम करना क्योकि वह जीवन का लक्ष्य विस्मृत करा देता है, तथा चित्त भ्रमित कर देता है। तथा ऐसे भ्रमित चित्त व्यक्ति भगवत्धाम प्रवेश मे सर्वथा अयोग्य सिद्ध होते है।

[२७]

नमोऽकिंचनवित्ताय निवृत्तगुणवृत्तये ।
आत्मारामाय शान्ताय कैवल्यपतये नमः ।।

नम =मै प्रणाम करती हूँ; अकिञ्चन-वित्ताय=भौतिक दृष्टि से निर्धनों एव दीनों की एकमात्र समृद्धि स्वरूप भगवान् को; निवृत्त=प्राकृत गुणों के कार्योंसे सर्वथा परे दिव्य,गुण=प्राकृत-वृत्तियाँ,वृत्तये=प्रेम; आत्मारामाय=आत्मा में आराम करने वालों के लिए, शान्ताय=अत्यन्त मृदुल एवं शान्त व्यक्तित्व के लिये, कैवल्यपतये=अद्वैतवादियो के परम गुरु को, नम.=मैं प्रणाम करती हूँ ।

अनुवाद

हे श्रीकृष्ण चन्द्र, आप अकिञ्चनो के परम धन है । तीनो गुणो की वृत्तियाँ आपका स्पर्श भी नही कर सकती, आप स्वय के द्वारा स्वय मे ही सन्तुष्ट बने रहते है । आप ही ब्रह्मकैवल्य (मोक्ष) के अधिपति है । मै आपको प्रणाम करती हूँ ।

तात्पर्य

जब व्यक्ति के पास कुछ भी नही रह जाता तब उसका व्यक्तित्व ही समाप्त हो जाता है । इसलिए जीव वास्तविक अर्थो मे सन्यासी नही हो सकता । जीव जब त्याग करता है तब वह किसी अन्य बहुमूल्य वस्तु की प्राप्ति के लिए त्याग करता है;एक विद्यार्थी जब अपने बालचाञ्चल्य का त्याग करता है तो वह त्याग उसकी उच्चतर शिक्षाओं के लिए होता है, एक नौकर किसी नौकरी का त्याग करता है तब उससे उच्चतर किसी नई नौकरी प्राप्त करने के लिए त्याग करता है इसी भाँति जब एक भक्त ससार का परित्याग करता है, तो वह त्याग व्यर्थ, अकारण नही होता वह त्याग किसी अप्राकृत बहुमूल्यतम वस्तु के लिए होता है । श्रील् सनातन गोस्वामी और श्रील् रघुनाथ गोस्वामी तथा अन्य बहुत से भक्तो ने भगवान् की परम प्रेममयी सेवा के लिए अपने सासारिक समृद्धि एवं नाना प्रकार के आडम्बरो का परित्याग किया था वे सासारिक दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध व्यक्ति थे ।

गोस्वामीगण बंगाल सरकार के मुख्य मंत्री थे एवं रघुनाथ दास गोस्वामी उस काल के एक बहुत बड़े जमींदार के पुत्र थे परन्तु उन्होंने सब कुछ का त्याग कर दिया। वह परित्याग किसी ऐसी बहुमूल्यतम् वस्तु के लिए था; जिसके समक्ष पूर्व उपलब्धियाँ अति तुच्छ एवं नगण्य थी। सामान्यत: भक्त-गण असमृद्ध एवं अकिञ्चन पाये जाते है परन्तु उनके पास अति-गुप्त कोष निरन्तर उपलब्ध रहता है और वह है भगवान् के चरण कमलों का स्मरण। श्रीसनातन गोस्वामी से सम्बन्धित एक सुन्दर कथा है। उन्हें कही से एक पारसमणि मिल गई थी, परन्तु इसे उन्होने कूड़ों के मध्य फेक रखा था। एक अभाव-ग्रस्त व्यक्ति की दीनता से वे द्रवित हुए एवं उसे उन्होंने मणि निकाल लेने का सकेत किया।परन्तु वह अभाव-ग्रस्त अत्यन्त आश्चर्यचकित हुआ कि ऐसी बहुमूल्य वस्तु कूड़े कचड़ों की ढेरी में क्यों रखी गई ? तब उसने सनातन गोस्वामी से उस बहुमूल्यतम वस्तु के विषय में जिज्ञासा की जिसके प्राप्त हो जाने पर पारसमणि भी कूड़ा-कचड़ा हो जाता है। इसके पश्चात् श्रीसनातन गोस्वामी ने उन्हें पवित्र भगवन्नाम का उपदेश किया। "अकिञ्चन" का अर्थ है भौतिक दृष्टि से जिसके पास देने के लिए कुछ भी नही है। वास्तविक "भक्त" अथवा "महात्मा" किसी को कोई भौतिक वस्तु नहीं देता; क्योंकि वह समस्त भौतिक संपत्ति पूर्व से ही त्याग कर चुका होता है। हाँ वह एक वस्तु अवश्य ही दे सकता है और वह वस्तु है स्वय भगवान्। क्योंकि अब उसके जीवन का एकमात्र धन, समृद्धि भगवान् ही हो गये हैं। सनातन गोस्वामी की पारसमणि जो कूड़ों के मध्य पड़ी हुई थी, उनकी सम्पत्ति नही थी। अन्यथा वे उसे ऐसी जगह नही रखे होते। यह विशिष्ट उदाहरण प्राकृत नवीन भक्तों के लिए महत्वपूर्ण है; ताकि वे यह समझ सके कि सांसारिक वस्तुओं की कामना एवं आध्यात्मिक उन्नति इन दोनो की दिशाएँ पृथक् है। वे एक साथ नही रह सकते। जब तक कोई व्यक्ति समस्त पदार्थों को भगवान् से सम्बन्धित, चिन्मय रूप में देखने मे समर्थ नही है; तब तक उसे निरन्तर आत्मा एवं पदार्थ का विवेक करते रहना चाहिए यद्यपि श्रील् सनातन गोस्वामी की भाँति धर्मगुरु समस्त पदार्थों को अप्राकृत ही देख सकते हैं तथापि उन्होंने हम सब लोगों के लिए एक उदाहरण, एक आदर्श, एक सम्भावना प्रस्तुत की है। क्योंकि हमें अप्रा-कृत दृष्टिकोण उपलब्ध ही नहीं है। भौतिक सभ्यता या भौतिक दृष्टिकोण का विकास आध्यात्मिक विकास के लिए एक बड़ा अवरोध है। ऐसा भौतिक विकास जीव को अनेक प्रकार की भौतिक विपत्तियों से घिरे हुए

देह के जाल मे उलझा देता है। ऐसी भौतिक-उन्नति अनर्थ एव अनावश्यक कही गई है। यह सच है कि आधुनिक सभ्यता के प्रवाह में पड़कर वर्तमान काल में व्यक्ति पाँच रुपये का मूल्य चुकाकर लिप्सटिक का उपयोग करता है जो जीवन में बिलकुल महत्वपूर्ण नही है। इसी भाँति बहुत सी अनावश्यक वस्तुऐ है, जो जीवन की भौतिक मान्यताओं के अनुसार अति आवश्यक प्रतीत होती है परन्तु वे विलकुल आवश्यक नही है बहुत सी अनावश्यक व्यर्थ वस्तुओं के प्रति आकर्षण मे पडकर मनुष्य के सकल्प की ऊर्ज्जा विश्रृङ्खलित होकर विक्षिप्त हो गई है इसीलिए आध्यात्मिक विकास रुक गया है। चन्द्रलोक मे पहुँचने का प्रयासमानवीय ऊर्ज्जाकी विक्षिप्तता का एक अन्य उदाहरण है। क्योकि यदि चन्द्रलोक मे पहुँच ही गये तो भी जीवन की समस्याओ का समाधान नही हो जायगा। वे अवशिष्ट ही रहेगे। भगवान् का भक्त अकिञ्चन कहलाता है। क्योंकि उसके पास कोई भौतिक सम्पदा नही है। भौतिक सम्पदाये सत्व, रज, तम के कार्य है जो कि अध्यात्मिक शक्ति का ह्रास करते है। इस प्रकार यदि हम भौतिक प्रकृति निर्मित जितनी अल्प वस्तुओं का प्रयोग करेंगे उतना ही अधिक आध्यात्मिक विकास का सुअवसर उपलब्ध होगा। भगवान् का भौतिक क्रियाओं से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है उनके समस्त कार्य कलाप जो भौतिक जगत् में प्रगट होते है वे अप्राकृत एव सर्वथा त्रिगुणातीत होते है। भगवत गीता मे भगवान् कहते है कि उनके जन्म, कर्म एवं धाम सब दिव्य है। और वे जो इसे तत्वत. जान पाते है, जगत जाल मे नही पडते, वरन् भगवान् को ही प्राप्त हो जाते है। भवरोग का मूल कारण है भौतिक प्रकृति जन्य पदार्थों की आकाक्षा एव उनके स्वामित्व की अभिलाषा। इन वस्तुओं के प्रति आकांक्षा का मूल कारण है प्रकृति की क्रियाऐं एवं प्रतिक्रियाये तथा उनमे उत्पन्न कल्पित सुख। न तो भगवान् और न भक्त ही ऐसे मिथ्या सुखों मे लिप्त होते है। इसलिए भगवान् निवृत्त-गुण-वृत्ति स्वयं भगवान् ही है क्योंकि वे त्रिगुण-संक्रम से कभी प्रभावित नही होते, जब कि जीव उनमे आन्दोलित हो उठते है। और प्रकृति के भ्रामक आकर्षणो के जाल में फँस जाते है।

चूंकि भगवान् ही भक्तों के एकमात्र धन हैं एवं भक्त ही भगवान् के एकमात्र धन है अत: भक्तगण नि.सन्देह त्रिगुणातीत है; यही स्वभाविक निष्पत्ति है। ऐसे अहैतुकी भक्त उन भक्तो से भिन्न है, जो भगवान के [illegible]प विपत्ति अथवा दारिद्रय निवारणार्थ पहुँचते हैं। इतना ही नही वे

जिज्ञासुओ एवं ज्ञानीभक्तों से भी श्रेष्ठ है। अहैतुकी भक्त एव भगवान् परस्पर अप्राकृत रूप से सम्बद्ध है, तथा अन्यों के लिए वे आत्माराम कहलाते है। चूंकि वे स्वत. सन्तुष्ट है, वे उन ब्रह्मवादियो के भी स्वामी है जो उनकी सत्ता में विलीन होने की आकाक्षा करते है। ऐसे ब्रह्मवादीगण भगवान् के श्रीविग्रह के बाह्य-प्रकाश में जिसे ब्रह्मज्योति कहते है विलीन होते है परन्तु भक्तगण भगवान् की प्रत्यक्ष लीलाओ मे प्रवेश करते है जिसे किसी भाँति भौतिक नही कहा जा सकता।

[२८]

मन्ये त्वां कालमीशानमनादिनिधनं विभुम्।
समं चरन्तं सर्वत्र भूतानां यन्मिथः कलि ॥

मन्ये=मै मानती हूँ, त्वाम्=आप महामहिम को, कालम्=अनन्त-काल; ईशानम्=परम भगवान्; अनादि निधनम्= आदि अन्त रहित, विभुम्=सर्वव्यापी, समं=समान रूप से दयामय, चरन्त=वितरित करते है, सर्वत्र=सब जगह; भूताना=जीवों का, यत् मिथ·=परस्पर सम्मिलन, कलि.=कलह।

अनुवाद

हे मेरे प्रभु; मै आपको अनन्त काल तत्व, सम्पूर्ण विश्व का परम नियंत्रक, तथा आदि अन्त से रहित, सर्वव्यापी एव अद्वितीय मानती हूँ। आप अपनी कृपा वितरण में सबके प्रति सर्वथा समान है। तथापि जीवों का परस्पर कलह एव वैमनस्य सामाजिक व्यवस्था का ही परिणाम है।

तात्पर्य

कुन्तीदेवी जानती थी कि भगवान् श्रीकृष्ण न तो उनके भतीजे हैं और न उनके पितृगृह के सामान्य पारिवारिक सदस्य हैं वे भलीभाँति जानती थी कि श्रीकृष्ण अनादि परमेश्वर है जो सम्पूर्ण प्राणियो के हृदय में परमात्मा रूप से विराजमान है। उनके परमात्म स्वरूप का एक अन्य नाम "काल" है। काल समस्त अच्छे बुरे—कर्मो का साक्षी है और इस

प्रकार कर्मो के फल उन्ही के द्वारा नियोजित होते हैं वर्तमान क्षण में हम किस दुष्कर्म का फल भोग रहे है यह हम भूल सकते है। स्मरण रखना चाहिए कि परमात्मा हमारे निरन्तर अंग-सग है। इसलिए वे भूत, वर्तमान और भविष्य सब जानते है। और चूँकि श्रीकृष्ण का परमात्म रूप ही समस्त कर्म फलों का नियोजक है अत. वे परम नियत्रक भी है बिना उनकी स्वीकृति के एक घास, एक पत्ता भी नही हिल सकता। जीवों को उतनी ही स्वतत्रता दी गई है, जितनी उन्हे अपेक्षित है, जितनी उनकी पात्रता है। स्वतन्त्रता का दुरुपयोग दु ख का कारण है। भगवान् का भक्त कभी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग नही करता। इसलिए वे भगवान् के सुपुत्र है। एवं अन्य जो दुरुपयोग करते है, वे अनन्तकाल तक अपने कर्मो के ही द्वारा विपत्तियो मे डाल दिये जाते है। "काल" आश्रित जीवो को सुख एवं दु.ख दोनों ही प्रदान करता है। जीवन में सब कुछ काल के द्वारा पूर्व निश्चित है। जिस प्रकार दु ख हमारे पास बिना किसी निमंत्रण दिए ही आता है, उसी प्रकार सुख भी बिना हमारी अपेक्षा के आता है क्योंकि वे सब काल के द्वारा पूर्व निश्चित हैं। अतएव कोई भी न तो भगवान् का शत्रु है और न मित्र ही है। प्रत्येक व्यक्ति अपने पूर्व कर्मों का फल भोग रहा है तथा यह प्रारब्ध विभिन्न सामाजिक परिवेशो मे जीवों के द्वारा ही निर्मित हो रहा है। प्रत्येक व्यक्ति भौतिक पदार्थों का स्वामित्व चाहता है, इसी कारण वे व्यक्तिगत प्रारब्ध निर्मित करते हैं तथा भगवान् एक तटस्थ दर्शक रहे आते हैं। वे सर्वव्यापी है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति की क्रिया-कलापों का निरीक्षण कर सकते हैं और इसलिए उनका न तो आदि है और न अन्त। वे स्वयं अनन्त काल तत्व है।

[२९]

न वेद कश्चिद्भगवंश्चिकीर्षितं
तवेहमानस्य नृणां विडम्बनम्।
न यस्य कश्चिद्दयितोऽस्ति कर्हिचिद्
द्वेष्यश्च यस्मिन् विषमा मतिर्नृणाम्॥

न = नही, वेद – जानने है; कश्चिद् = कोई भी, भगवान् = हे भगवान्; चिकीर्षितम् = लीला, तव = आपका, ईहमानस्य = सांसारिक व्यक्ति के सदृश,

नृणाम् =सामान्य व्यक्ति को, विडम्बनम् = मोहक; न = कभी नही, यस्य = जिसका; कश्चित् = कोई एक; दयित. = विशेष कृपा का पात्र; अस्ति = है; कर्हिचिद् = कही भी, द्वेष्य. = ईर्ष्या का माध्यम, च = और; यस्मिन् = जिसको, विषमा = पक्षपात पूर्ण, मति = धारणा, नृणाम् = मनुष्यों को।

अनुवाद

हे भगवन् आपकी दिव्य लीलाएँ अत्यन्त दुद्धि विमोहिनी है। जब आप लीला करते है तब सामान्य मनुष्यो की भाँति प्रतीत होते है। अत: व्यक्ति भ्रमित हो जाते है। समझने मे असमर्थ हो जाते है। आपका न कोई प्रिय है और न अप्रिय तथापि जन समूह आपके प्रति विषम दृष्टि रखते हैं।

अनुवाद

पतित जीवो पर भगवान् की कृपा समान रूप से होती है वे न तो किसी से घृणा करते है और न आसक्ति ही करते हैं। भगवान् की मनुष्य रूप मे धारणा अत्यन्त मोहक है। उनकी लीलाएँ सामान्य मनुष्यवत् प्रतीत होती है, पर वास्तव मे वे सर्वथा त्रिगुणातीत दिव्य है। नि:सन्देह वे अपने विशुद्ध भक्तों के पक्षपाती कहे गये है, तथापि वे कभी भी उदासीन नही है। जैसे सूर्य किसी के प्रति कभी उदासीन नही होता। सूर्य किरणों का उपयोग करके कभी-कभी कोई पत्थर भी अधिक मूल्यवान हो जाता है; जबकि अन्धा आदमी कभी सूर्य का दर्शन भी नही कर सकता। यद्यपि उसके चारों ओर सूर्य का प्रकाश ही फैला हुआ है। अन्धकार एवं प्रकाश दो विपरीत धारणाये है। किन्तु इसका यह अर्थ नही है, कि सूर्य अपनी किरणों के वितरण में उदासीन है। सूर्य की किरणे प्रत्येक के लिये उन्मुक्त हैं; परन्तु ग्रहणकर्ता की योग्यताएँ पृथक्-पृथक् है। मूर्ख व्यक्ति सोचता है कि भक्ति भगवान् की विशेष कृपा प्राप्त करने के लिए एक प्रकार का उत्कोच (खुशामद) है; वास्तव मे जो भगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा में संलग्न है, वे विशुद्ध भक्त कदापि वणिक्-वर्ग के व्यक्ति नहीं है। वणिक् वर्ग किसी विनिमय पर किसी की सेवा करने को तत्पर होता है परन्तु विशुद्ध भक्त जब भगवान् के प्रति सेवा अर्पित करता है तब वह किसी विनिमय की अपेक्षा नही करता, बदले मे कुछ पाने की कामना बिलकुल नही होती। तनिक भी आकांक्षा नहीं होती और इसलिए भगवान् की समस्त कृपा एकत्रित होकर उसी की ओर

प्रवाहित हो उठती है। आर्त अर्थार्थी, जिज्ञासु एवं ज्ञानी भगवान् से अपने प्रयोजन वश क्षणिक सम्वन्ध स्थापित करते है। जब प्रयोजन की पूर्ति हो जाती है; तब सम्बन्ध भी समाप्त हो जाता है। एक आर्त व्यक्ति, यदि वह पूर्णत: सदाचारी है तो भगवान् से दु:ख मुक्ति के लिए प्रार्थना करता है; किन्तु ज्यो ही दु ख मुक्ति हुई, त्यों ही वे भगवान् से सम्बन्ध स्थापित करने की कोई चिन्ता नही करते, उनसे उदासीन हो जाते है। और इस प्रकार भगवद् विमुख हो जाते है। भगवान् की कृपा का द्वार उसके लिए खुला है तथापि वह उसे ग्रहण करने मे असमर्थ है। एक विशुद्ध भक्त एवं मिश्र भक्त में यही अन्तर है जो भगवत् भक्ति के पूर्ण विरोधी है वे अन्धकार-ग्रस्त माने जाते है। तथा वे जो आवश्यकता पड़ने पर ही भगवान् की कृपा याचना करते है वे भगवान् की कृपा के उदासीन ग्राहक है तथा वे जो भगवत् सेवा मे सतत् संलग्न रहते है भगवत् कृपा के पूर्ण प्रतिग्राहक है। भगवत् कृपा के ग्रहण मे ऐसी उदासीनता प्रतिग्राहक की अपात्रता का परिचायक न कि उनके प्रति कृपामय भगवान् की उदासीनता।

जब भगवान् अपनी सम्पूर्ण दयालुता के साथ भौतिक जगत् में अवतीर्ण होते है तव वे सामान्य जीवो की भाँति क्रीडा करते है इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् केवल अपने भक्तों के पक्षपाती है परन्तु यह तथ्य नही है। इन समस्त प्रगट एक देशीय घटनाओं के वावजूद भी उनकी दया सवके लिए समान रूप से वितरित होती है। कुरुक्षेत्र के मैदान में भगवान् के समक्ष जिन समस्त योद्धाओ की मृत्यु हुई वे सव विना किसी आवश्यक योग्यता के मोक्ष के अधिकारी वने। क्योकि भगवान् के समक्ष मृत्यु, प्रयाण करते हुए जीव को समस्त पापो से मुक्त कर देता है। इसलिए प्राण त्यागता हुआ व्यक्ति किसी दिव्य स्थल में प्राण त्याग करे। यदि किसी भाँति उन्मुक्त सूर्य किरणो मे प्राण त्यागता है तो वह निश्चित रूप से ताप एव आल्ट्रावॉयलेट किरण दोनों प्राप्त करता है निष्कर्ष यह है कि भगवान् कभी भी एक देशीय, विषम दृष्टि नही है उन्हे अपूर्ण अथवा पक्षपाती सोचना एक महान् त्रुटि है, अपराध है।

[३०]

जन्म कर्म च विश्वात्मन्नजस्या कर्तुरात्मनः।
तिर्यङ्नृषिषु यादःसु तदत्यन्त विडम्बनम्॥

जन्म=जन्म, कर्म=कर्म, च=और; विश्व-आत्मन्=हे संसार की आत्मा,अजम्य=अजन्मा का,अकर्तु=अक्रिया का,आत्मन=अपनी ऊर्ज्जा का, तिर्यक्=पशु, नृ=मनुष्य, ऋषिषु=ऋषियों में, याद सु=जल मे, तद्=वह, अत्यन्त=अत्यन्त, विडम्वनम्=मोहक है।

अनुवाद

हे विश्वात्मन्, सचमुच यह एक वड़ी विडम्बना है। आप निष्क्रिय है, तथापि सम्पूर्ण विश्व के कर्ता भोक्ता है। आप अजन्मा है तथापि आप मनुष्यों, ऋषियो, पशुओ एव जलचरों मे विभिन्न रूप धारण कर जन्म लेते है। भगवन्, यह अति अद्भुत है। तथा वहुत सी कल्पनाओ में भटका देने वाला भी है।

तात्पर्य

भगवान् की दिव्य लीलाये न केवल भ्रमोत्पादक है अपितु वाह्यरूप से परस्पर विरोधी भी है। अन्य शव्दो मे मनुष्य की सीमित प्रज्ञा शक्ति द्वारा वे सर्वथा अज्ञेय एव अचिन्त्य है। भगवान् सम्पूर्ण सत्ताओ के संचालक है, अन्तर्यामी है तथापि वे पशुओं मे वाराह वनकर प्रगट हो जाते है, मनुष्यो के मध्य श्रीराम, श्रीकृष्ण वनकर प्रगट हो जाते है, ऋषियों में नारायण वनकर प्रगट हो जाते है, जलचरो मे मत्स्य वनकर प्रगट हो जाते है तथापि कहा जाता है कि वे अजन्मा है। कि वे निष्क्रिय है। श्रुति मत्र मे कहा गया है कि वे अकर्ता है, अद्वितीय है तथापि उनकी असख्य शक्तियाँ है। सम्पूर्ण क्रियाये उन्ही के स्वत सिद्ध ज्ञान एव शक्ति से सम्पन्न होती रहती है। यह समस्त वक्तव्य सिद्ध करते है कि भगवान् की कृतियाँ एव रूप हमारी सीमित विचार शक्तियों से अचिन्त्य है। क्योकि वे अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न है, सव कुछ उनके लिए सम्भव है, इसलिए कोई भी व्यक्ति उनको यथातथ्य अभिव्यञ्जित नही कर सकता। भगवान् के प्रत्येक कर्म सामान्य व्यक्ति के लिए भ्रमोत्पादक है। वे वैदिक ज्ञान से समझ में नही आने वाले है, किन्तु विशुद्ध भक्ति से अवश्यमेव समझे जा सकते है। क्योंकि भक्त उनके अन्तरतम से सम्वन्धित होता है। इसलिए भक्त जानता है कि यद्यपि भगवान् पशुओ में प्रगट हो गये तथापि वे पशु नही है। मनुष्यों में प्रगट हो

गये तथापि वे मनुष्य नही है, न ऋषि है, न मत्स्य है वे सम्पूर्ण परिस्थितियो में अनन्त कालीन भगवान ही है।

[३१]

गोप्याददेत्वयि कृतागसि दामतावद्
या ते दशाश्रु कलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम् ।
वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य
सा मां विमोहयति भीरपि यद्बिभेति ।।

गोपी=गोपिका माता यशोदा, आददे=दिया, त्वयि=आपको, कृतागसि=अपराध करने वाले को (मक्खन का पात्र तोड़कर), दाम= रस्सी, तावद्=उस समय, या=जो, ते=आपका, दशा=स्थिति, अश्रु- कलिल=अश्रुधाराओ से व्याप्त, अञ्जन=काजल, सम्भ्रम=विचलित, अक्षं=नेत्र, वक्त्र=मुख, निनीय=निम्न दृष्टि किये हुये, भयभावनया= भय की आशङ्कावश, स्थितस्य=स्थित का, सा=वह, माम्=मुझे, विमो- हयति=मोहित करता है, भी अपि=मूर्तिमान् भय भी, यत्=जिनसे, बिभेति=भयभीत होता है।

अनुवाद

हे मेरे प्रिय कृष्ण, एक बार अपने बाल्यकाल मे आपने दही की मटकी फोड़कर माता यशोदा को क्षुब्ध कर दिया था, तब उन्होने आपको बाँधने के लिए रस्सी उठा ली थी तब भय एव आशङ्कावश आपके नेत्रो मे अश्रु बिन्दु छलक आये थे, तथा काजल नेत्रो से अश्रुओ के साथ कपोलो की ओर बह चला था, आपके नेत्र भय वश चचल हो गये थे तथा आपने मुख नीचे झुका लिया था। जिससे भय भी भयभीत होता है, उन आपकी यह भय लीला देखकर स्मरण कर मैं विस्मित हो जाती हूँ विमुग्ध हो जाती हूँ। आपकी लीला की वह छवि-छटा मुझे गहन-भावना जाल मे भटका देती है।

तात्पर्य

भगवान् की लीला द्वारा होने वाले एक नये भ्रम का यहाँ वर्णन किया जा

रहा है। सभी परिस्थितियों में वे सर्वोपरि है। वे भगवान् सर्वोच्च होते हुए भी अपने विशुद्ध भक्तो के सम्मुख अद्भुत क्रीड़ा कर रहे है। भक्त उन्हे केवल अहैतुकी प्रीति वश ही सेवा अर्पण करते है। प्रेम की उस चरम गहन अवस्था मे वे भगवान् की सर्वोच्चता भूल जाते है। भगवान् भी सब कुछ भूल कर गहन प्रेम में बह जाते है और उस सेवामय प्रेम का आस्वादन करते है, वहाँ कोई भगवत्ता से उत्पन्न होने वाली मर्यादाये एव आदर सम्मानों का महत्व नही रहता। वह अत्यन्त सहज स्वाभाविक होता है। साधारणत भगवान् भक्तों के द्वारा महा सम्मान की मनोवृत्ति पूर्वक पूजा किये जाते हैं परन्तु जब भगवान् भक्त पर रीझ जाते है तब वह प्रेम की अतलान्त गहराइयों मे भगवान् को अपने से छोटा मानने लगता है तथा भगवान् की गोलोक वृन्दावन की लीलाये उसके अन्तरात्मा की अतलान्त गहराइयों मे एक के पश्चात् एक परावर्तित होने लगती है। श्रीकृष्ण का मित्र उन्हें अपना एव अपने जैसे ही एक मानता है। वे उन्हे बहुत अधिक आदर सम्मान देने के चक्कर में नही पडते। भगवान् के माता-पिता (जो उनके सच्चे भक्त है) महान् वात्सल्य प्रेम की गम्भीरताओं में डूबकर उन्हे अपना एक सामान्य शिशु मानने लगते है। तथा भगवान् अपने माता-पिता के द्वारा अर्पित की गयी दण्ड रूपी सेवाओं को इतने अधिक हर्ष पूर्वक स्वीकार करते है, जितने वे वैदिक मंत्रों से की गई प्रार्थनाओं को भी नही करते। इसी प्रकार वे अपनी प्रेमिकाओ के अनुकूल प्रतिकूल समस्त प्रलाप सेवाओ को इतना आनन्द पूर्वक स्वीकार करते एव रसास्वादन करते है जितना महान् ऋषियों द्वारा सम्पूर्ण विधि विधानों से सम्पन्न किये यज्ञों एवं वेद मन्त्रोक्त प्रार्थनाओं को भी स्वीकार नही करते। जब भगवान् श्री कृष्ण सामान्य जनता मे भगवत् प्राप्ति की उत्सुकता जागृत करने के लिये गोलोक वृन्दावन की दिव्य लीलाओं को भूलोक मे प्रगट कर रहे थे उस समय उन्होंने अपनी माँ यशोदा के सन्मुख एक अभूतपूर्व क्रीड़ा का दृश्य प्रस्तुत किया। भगवान् श्रीकृष्ण अपनी स्वाभाविक बाल्य क्रीड़ा के अन्तर्गत माता यशोदा के दधि मन्थन के घड़े फोडा करते थे तथा सहयोगी मित्रो एव बन्दरों को खूब माखन लुटाया करते। वे भी भगवान् की इस माखन वितरण लीला का आनन्द लिया करते थे। माँ यशोदा ने यह देखा तथा अत्यन्त प्रेमातिरेक से भरकर अपने इस दिव्य शिशु को दण्ड देना चाहा। उन्होंने एक रस्सी ली तथा उन्हें बाँधने का उपक्रम किया। माता यशोदा के हाथों मे रस्सी देखकर भगवान् भयभीत हो गये। वे रोने

लगे। सामान्य बालक की भाँति उनके नेत्रो से आँसू बह-बह कर कपोलों को आर्द्र करने लगे। उनके अति सुन्दर नेत्रों से काजल बह-बहकर कपोलो को रङ्गने लगा उन्होंने मस्तक नीचे कर लिया भगवल्लीला का यह दृश्य कुन्ती देवी के सामने आज चित्रित हो उठा है तथा साथ ही भगवान् की परम दिव्य महिमा का भी स्मरण हो आया है। साक्षात् मूर्तिमान मृत्यु भी जिनसे भयभीत हो जाती है, वे आज अपनी माता से भयभीत हो गये जो उन्हे एक अति साधारण सा दण्ड देने जा रही हैं। कुन्ती श्रीकृष्ण की सर्वोत्कृष्ट गरिमा से अवगत है, जब कि माता यशोदा अवगत नही थी। अतएव कुन्तीदेवी से माता यशोदा की अवस्था अति उच्च है। माता यशोदा ने भगवान् को पुत्र रूप में पाया। तथा बिलकुल भूल गईं कि उनका शिशु साक्षात् भगवान् है। यदि माता यशोदा उनकी भगवत्ता का स्मरण बनाये रखती तो उन्हे दण्डित न कर सकी होतीं। किन्तु स्वयं भगवान् के ही द्वारा उनका सब माहात्म्य ज्ञान विस्मृत करा दिया गया। क्योंकि भगवान् स्वय प्रगाढ़ वात्सल्य स्नेहवती यशोदा के समक्ष उन्मुक्त बाल्य क्रीडा का प्रदर्शन करना चाहते थे। तथा भविष्य मे समस्त वात्सल्य भाव की उपासिकाओ के लिए पर्याप्त सामग्री प्रदान करना चाहते थे। इस प्रकार माता एवं पुत्र के मध्य दिव्य प्रेम का आदान प्रदान अति स्वाभाविक रूप मे घटित हुआ। एव कुन्ती इस दृश्य को स्मरण कर विथकित हो रही है। कुछ नही कर पा रही है। उस दिव्य वात्सल्य प्रेम की केवल वन्दना ही कर रही है। अप्रत्यक्ष रूप मे यहाँ माँ यशोदा ही प्रार्थित हुई है। सर्व शक्तिमान भगवान् को अपने परम स्नेह मे ओतप्रोत कर उन्हे रस्सी से बाँध देना सचमुच उनके हृदय की एक अभूतपूर्व एव अद्वितीय प्रेमावस्था का संकेत करता है।

[३२]

केचिदाहुरजं जातं पुण्यश्लोकस्य कीर्तये।
यदो. प्रियस्यान्ववाये मलयस्येव चन्दनम्॥

केचिद्=कोई, आहु.=कहते हैं; अज=अजन्मा, जातं=जन्म लेते हैं पुण्यश्लोकस्य=महान् सदाचारी राजा का, कीर्तये=महिमान्वित करने के लिये, यदो=राजा यदु का, प्रियस्य=परम प्रिय का, अन्ववाये=परिवार मे, मलयस्य=मलय पर्वत श्रेणियों के, इव=जैसे, चन्दनम्=चन्दन।

अनुवाद

आपने अजन्मा होकर भी क्यों जन्म लिया ? इसका उत्तर देते हुए बहुत से ऋषि कहते है, आपने अपने परम प्रिय भक्त राजाओ के सौभाग्य की कीर्ति का विस्तार करने के लिए जन्म लिया । अन्य बहुत से महापुरुष कहते है कि महाराजा यदु भगवान् के अनन्य भक्त थे । अत. उन्हे कृतार्थ करने के लिए उनके वश मे भगवान् ने वैसे ही जन्म लिया जैसे मलय पर्वत मे चन्दन प्रगट होकर सम्पूर्ण दिशा-विदिशाओ को सुगन्धित कर देता है ।

तात्पर्य

चूंकि भगवान् का इस भूलोक मे आविर्भाव अत्यन्त मोहक है एव मति-विभ्रम उत्पन्न करने वाला है, अत. उन अजन्मा के जन्म पर विभिन्न मत है। भगवद्गीता मे भगवान् कहते है कि यद्यपि वे सम्पूर्ण सृष्टि के स्वामी एव अजन्मा है तथापि वे जन्म लेते है । जब वे स्वय इस सत्य की स्थापना कर रहे है तो अजन्मा के जन्म को अस्वीकार करने का कोई उपाय नही है । तथापि वे क्यों जन्म लेते है इस पर विभिन्न मत है । वह भी भगवद्गीता मे वर्णित हुआ है । वे अपनी अन्तरङ्गा शक्ति से धर्म के पुनरुत्थान. सदाचारियो की रक्षा एव दुराचारियो के विनाश के लिए अवतीर्ण होते है । यही अजन्मा के जन्म का रहस्य है । फिर भी यह कहा जाता है कि भगवान् सदाचारी तथा युधिष्ठिर की कीर्ति का प्रसार करने के लिये पधारे है। निश्चित ही भगवान् श्रीकृष्ण ने सम्पूर्ण विश्व के कल्याण के लिए पाण्डव-राज्य की स्थापना करनी चाही। क्योकि जब राजा सदाचारी होता है तब प्रजा सुखी होती है । जब शासक दुराचारी होता है तब प्रजा दुखी होती है । कलियुग मे प्राय समस्त शासक दुराचारी हैं, और इसलिये नागरिक भी लगातार दुखी है । किन्तु लोकतन्त्र के अन्तर्गत दुराचारी नागरिक स्वत: अपना शासक चुनते है, अतएव वे अपने दु खो के लिए किसी को दोष नही दे सकते । महाराज नल भी एक सदाचारी राजा माने गये थे परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण से उनका कोई सम्बन्ध न था । इसलिये उनके सुयश से भक्तों को कोई विशिष्ट लाभ की सम्भावना नही है; परन्तु महाराजा युधिष्ठिर सदाचारी होने के साथ-साथ परम भक्त भी है, अतएव वे भगवान् कृष्ण के द्वारा महिमान्वित होने के अधिकारी हैं । उन्होने महाराज यदु को भी

उनके कुल में जन्म लेकर गौरवान्वित किया। वे यादव यदुवीर यदुनन्दन के रूप मे विख्यात हुए यद्यपि भगवान् ऐसी समस्त औपचारिकताओ मे सर्वथा उन्मुक्त है। वे मलय पर्वत मे उत्पन्न होने वाले चन्दन के समान आह्लाददायी है। वृक्ष सर्वत्र उत्पन्न होता है, तथापि चूँकि चन्दन वृक्ष मलय पर्वत के क्षेत्र मे उत्पन्न होता है। चन्दन एवं मलय ये दोनो नाम अर्न्तसम्वन्धित है। इसलिए निष्कर्ष यह है कि भगवान् यद्यपि अजन्मा है सूर्य की भाँति; तथापि जैसे पूर्वीय क्षितिज पर सूर्य उदित होता हुआ दिखाई पड़ता है। उसी भाँति वे भी प्रगट होते है। जिस प्रकार सूर्य पर कभी भी पूर्वीय क्षितिज का एकाधिकार नही है; उसी प्रकार भगवान् भी किसी एक के पुत्र नही है परन्तु वे जो हैं, और जो होंगे उन समस्त जीवो के पिता है।

[३३]

अपरे वसुदेवस्य देवक्यां याचितोऽभ्यगात्।
अजस्त्वमस्य क्षेमाय वधाय च सुरद्विषाम् ॥

अपरे=दूसरे; वसुदेवस्य=श्रीवसुदेव की, देवक्यां=देवी देवकी की; याचितः=प्रार्थना किए जाने पर; अभ्यगात्=जन्म धारण किया, अज= अजन्मा; त्वम्=आप, अस्य=इनका, क्षेमाय=शुभ के लिये; वधाय=वध करने के लिए; च=और; सुरद्विषाम्=देवताओं से द्रोह करने वालों के।

अनुवाद

कुछ महापुरुष ऐसा कहते है, कि श्रीवसुदेव एवं देवकी ने तपस्या की प्रार्थना की, वरदान माँगा आपसे। तव आपने उनके पुत्ररूप में अवतार धारण किया। निःसन्देह आप अजन्मा है; तथापि आप विश्व के कल्याण एवं देव द्रोहियो के संहार के लिए जन्म स्वीकार किया करते हैं।

तात्पर्य

वसुदेव एवं देवकी पूर्व जन्म में सुतपा एवं पृश्नि थे उन्होंने भगवान् को पुत्र रूप मे पाने के लिए घोर तपस्या की। फलस्वरूप भगवान् पुत्ररूप

मे प्रगट हुए। भगवत् गीता में यह कहा जा चुका है कि वे समस्त जनता के कल्याण तथा असुरो एव भौतिकवादी नास्तिको के सहार के लिए प्रगट होते है।

[३४]

भारावतारणायान्ये भुवो नाव इवोदधौ।
सीदन्त्या भूरिभारेण जातो ह्यात्मभुवार्थित ॥

भार-अवतारणाय=पृथ्वी का भार दूर करने के लिए, अन्ये=दूसरे भुव=ससार का, नाव=नाव का, इव=सदृश, उदधौ समुद्र पर, सीदन्त्या=दुखी होती हुई, भूरि=अत्यन्त, भारेण=भार के द्वारा, जात = आपने जन्म लिया, हि=निश्चित ही, आतमभुव =ब्रह्मा, अर्थित =प्रार्थना किये जाने पर।

अनुवाद

अन्य महापुरुष कहते है कि यह पृथ्वी नास्तिको एव दैत्यों के विपुल भार से समुद्र मे डूबते हुए नाव की भाँति उद्वेलित हो उटी थी। तब आप अपने पुत्र ब्रह्मा जी की प्रार्थना से भूभार हरण के लिए अवतीर्ण हुए।

तात्पर्य

सृष्टि के आदि जीव ब्रह्मा सर्व प्रथम उत्पन्न होने के कारण नारायण के प्रत्यक्ष पुत्र है। भगवान् नारायण ने सर्व प्रथम गर्भोदक-शायी विष्णु के रूप में ब्रह्माण्ड में प्रवेश किया। विना भगवत्संस्पर्श के पदार्थ अकेला ही निर्माण नही कर सकता। यह सिद्धान्त सृष्टि के प्रारम्भ मे ही चला आ रहा है। परम आत्मा ने सृष्टि मे प्रवेश किया तत्पश्चात् तुरन्त उनके नाभि-कमल से प्रथम जीव ब्रह्मा उत्पन्न हो गये। विष्णु इसीलिए पद्मनाभ कहे गये है। एव ब्रह्मा आत्मभू कहे गये है। क्योकि वे माता लक्ष्मी के सम्बन्ध के विना ही उत्पन्न हो गये अत. अपने पिता से प्रत्यक्ष सम्बन्ध भूल गए थे। लक्ष्मी जी भगवान् नारायण के समीप ही उपस्थित थी। भगवान् की सेवा में संलग्न थी। तथापि उनके सम्बन्ध विना नारायण से

ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई यही भगवान् की सर्व शक्तिमत्ता है। जो मूढ़तापूर्वक भगवान् नारायण को सामान्य जीव की भाँति मानता है उसे यहाँ शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। नारायण सामान्य जीव नहीं है। वे साक्षात् भगवान् है। तथा अपने दिव्य शरीरकी समस्त इन्द्रियो की योग्यताये प्रत्येक इन्द्रियो मे धारण किए हुए है। एक सामान्य व्यक्ति यौन सम्बन्ध मे सतति प्राप्त करता है। उसके सामने और कोई उपाय नही है। परन्तु श्रीनारायण सर्व शक्तिमान है, वे किन्ही सीमाओं मे आवद्ध नहीं है, वे पूर्ण है तथा कुछ भी करने मे पूर्ण स्वतन्त्र है। ब्रह्माजी इसीलिए माता के उदर मे नही रखे गये। इसीलिए वे आत्म भू भी कहलाते है ब्रह्मा तीनो कालो सृष्टियों के अधिपति है। तथा सर्व शक्तिमान की शक्ति की द्वितीय कृति है परव्योम में एक दिव्य लोक है जिसका नाम श्वेत द्वीप है जो क्षीरोदकशायी विष्णु का आवास है। जब कभी भी ससार मे दुःख आता है प्रशासक तथा देवताओं द्वारा उसका निवारण नही हो पाता है तो वे समाधान के लिए ब्रह्मा जी के पास पहुँचते है। जब ब्रह्मा जी से भी उसका समाधान नही होता, तब वे क्षीरोदकशायी विष्णु से अवतार एव समस्या के समाधान के लिए प्रार्थना करते है। ऐसी ही एक समस्या उठ खडी हुई थी जब पृथ्वी पर कस तथा क्षत्रिय वेषधारी बहुत से असुर शासन कर रहे थे। उनके दुष्कर्मो से पृथ्वी भाराक्रान्त हो गई थी। तब समस्त देवताओ के साथ ब्रह्मा जी क्षीर सागर के तट पर पहुँचे एवं प्रार्थना करने लगे। तब उन्हे निर्देशन प्राप्त हुआ कि वसुदेव एव देवकी के पुत्र रूप मे साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण का आविर्भाव होगा। अतएव बहुत से विद्वान् कहते है कि भगवान्, ब्रह्मा जी की प्रार्थना से ही अवतीर्ण हुए।

[३५]

भवेऽस्मिन् क्लिश्यमानानामविद्याकामकर्मभिः।
श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति केचन॥

भवे इस प्राकृत सृष्टि मे, अस्मिन्=यह, क्लिश्यमानानाम्=पीड़ित होते रहने वालो को, अविद्या=अविद्या, काम=आकांक्षाएं, कर्मभि सकाम कर्म के द्वारा, श्रवण=सुनने, स्मरण=स्मरण करने, अर्हाणि=पूजन करने, करिष्यन्=सम्पन्न करने, इति=ऐसा, केचन=दूसरे।

अनुवाद

कुछ अन्य महापुरुष कहते है कि आप अपनी रहस्यमयी भक्ति के श्रवण, स्मरण एव अर्चन आदि प्रक्रियाओ को नव-जीवन प्रदान करने के लिए अवतीर्ण हुए । कुछ अन्य महापुरुष कहते है कि सासारिक कामनाओं वासनाओ के जाल में फँसे हुए आश्रित जीवो के लिए मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करने के लिए आप अवतीर्ण हुए ।

तात्पर्य

श्रीमद्भगवद्गीता मे भगवान् कहते है कि वे धर्म का पुनरुद्धार करने के लिए प्रत्येक कल्प में प्रगट होते है। भगवान् ही धर्म मार्ग का निर्माण करते है। कोई भी व्यक्ति नवीन धर्म-पथ निर्मित नही कर सकता यह आजकल कुछ महत्वाकाक्षी लोगों का आडम्बर हो गया है। धर्म का वास्तविक मार्ग है भगवान् की सर्वोच्चता स्वीकार करना तथा बालकोचित सरलता पूर्वक उनकी सेवा मे सलग्न होना। जीव कोई सहायता नही कर सकता किन्तु वह सेवा कर सकता है क्योकि वह सम्बैधानिक रूप से इसी प्रयोजन के लिए निर्मित हुआ है। भगवान् महान् है, स्वामी है एव जीव उनके अश है, अनुचर है। इसलिए जीव का कर्तव्य है, बस केवल उनकी सेवा ही करते रहे। दुर्भाग्यवश भ्रमित जीव अपने भ्रमो के कारण, अपने सम्मोहनो के कारण सासारिक इच्छाओ के द्वारा अपनी इन्द्रियो के दास हो जाते हैं। यह इच्छाएं ही अविद्या या अनर्थ कही गई है। तथा ऐसी इच्छाओं के ही कारण जीव सासारिक आनन्द के लिए नाना प्रकार की योजनाये बनाता है। जो केवल यौन-जीवन केन्द्रित होते है। इसलिए वे जन्म और मृत्यु के जाल मे फँस जाते है, तथा एक शरीर से दूसरे शरीर, एक लोक से दूसरे लोक मे भटकते हुए भी भगवान् के ही नियत्रण मे रहते है इसलिए जब तक कोई इस अनर्थ,इस अविद्या की सीमाओं को पार नही कर जाता तब तक वह ससार के त्रितापों से मुक्त नही हो सकता। यही प्रकृति का नियम है इस प्रकार भगवान् अपनी अहैतुकी कृपा से दुखी जीवो पर उनकी अपेक्षाओ से अधिक दया एव सहायताओंकी वर्षा करते हुए उनके दृष्टिगोचर होते है,उनके सम्मुख प्रकट होते हैं तथा प्रेममयी सेवाके सिद्धान्त को नवजीवन प्रदान करते है। भक्ति देवी श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन,

अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य एव आत्मनिवेदन इन सम्पूर्ण नौ अगो से युक्त होकर अत्यन्त आह्लाद-दायिनी हो जाती है। उपरोक्त किसी भी एक अग को ग्रहण कर आश्रित जीव अविद्या के जाल से छूटकर बहिरङ्गाशक्ति के समस्त भ्रामक एव सम्मोहन-सम्भूत प्राकृत-दुखो से मुक्त हो जाता है। जीवो पर यह विशिष्ट-कृपा महाप्रभु श्रीचैतन्य के द्वारा प्रसारित हुई है।

[३६]

शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः,
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जना।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं,
भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम् ॥

शृण्वन्ति=सुनते है, गायन्ति=उच्चारण करते है, गृणन्ति=लेते है, अभीक्ष्णशः=निरन्तर, स्मरन्ति=स्मरण करते है, नन्दन्ति=आनन्द लेते है, तव=आपका, ईहितम्=कार्यक्रम, जना=सामान्य जनता, त=वह, एव=निश्चित ही, पश्यन्ति=देखते है, अचिरेण=अति शीघ्र, तावक=आपका, भवप्रवाह=पुनर्जन्म का प्रवाह, उपरमम्=निवृत्त हो जाता है: पद-अम्बुजम्=चरण कमलो को।

अनुवाद

हे श्रीकृष्ण, जो आपकी दिव्य लीलाओं का सतत श्रवण करते है, स्मरण करते है, एव उसका गायन करते हुए नाचते है तथा भक्तजनों को ऐसा करते हुये देखकर हर्षित होते है वे निश्चित रूप से जन्म मृत्यु की पुनरावृत्तियो को लाँघ जाते है, पार कर जाते हे तथा आपके सुखद शान्तम चरणकमलो का दर्शन करते है।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण कभी भी आश्रित जीवों के द्वारा देखे नही जा सकते। उनका दर्शन करने के लिए अपनी वर्तमान दृष्टि बदलनी होगी।

तथा जीवन की सर्वथा भिन्न अवस्था मे भगवत्प्रेममयी दृष्टि का विकास करना होगा। जब श्रीकृष्ण इस ससार मे व्यक्तिगत-रूप मे उपस्थित थे, उस समय भी प्रत्येक व्यक्ति उन्हे भगवान् की भाँति न देख सके थे। भौतिकवादी रावण, हिरण्यकशिपु, कस, जरासन्ध एव शिशुपाल बहुत विद्वान् एव उत्कृष्ट सम्पदावान् थे। परन्तु वे भगवान् को पहचानने मे असमर्थ रहे। इसलिए चाहे भगवान् हमारी दृष्टि के सम्मुख ही क्यों न उपस्थित हों जायँ तथापि यह आवश्यक नही है कि हम उन्हे देख ही सके। यह आवश्यक योग्यता केवल भगवान् की भक्तिमयी सेवा से ही विकसित हो सकती है। जिसका प्रारम्भ श्रवण से होता है, यह भगवत् वार्ता श्रवण अनुभवी गुरु से ही करनी चाहिए। भगवद्गीता एक ऐसा लोकप्रिय ग्रन्थ है; जो सामान्य जनता के द्वारा प्रायः सुना जाता है, प्रवचन किया जाता है तथा पाठ किया जाता है। तथापि देखा जाता है कि इन कार्यो मे सलग्न व्यक्ति हृदय शून्य रहे आते है, उन्हे कोई आध्यात्मिक अनुभव नही होता, उन्होने कभी भगवान् को नेत्र से नेत्र मिलाकर नही देखा। कारण यह है कि श्रवण अति महत्वपूर्ण तत्व है। यदि यह उचित केन्द्र से श्रवण किया जाता है तब अति शीघ्र कार्य करता है। सामान्यत जनता अनधिकारियों से श्रवण करती है। ऐसे अनधिकारी व्यक्ति चाहे भले ही विश्वविद्यालय की उपाधियो से अलकृत हो तथापि चूँकि वे प्रेममयी सेवा के सिद्धान्त का अनुगमन नही करते अत उनका प्रवचन श्रवण व्यर्थ कालक्षेप मात्र है। व्यर्थ समय नष्ट करना है। कभी-कभी श्लोक ऐसे आडम्बर पूर्ण ढग से व्याख्या किये जाते है, जिससे केवल उन्ही का प्रयोजन सिद्ध होता है। अतएव सर्व प्रथम हमे प्रामाणिक एवं अनुभवी वक्ता का निर्वाचन करना चाहिए। तत्पश्चात् उनसे विधि पूर्वक श्रवण करना चाहिए। जब श्रवण-क्रिया उचित एव पूर्ण है तब अन्य उसके सहयोगी तत्व स्वयमेव वक्ता का अनुगमन करते है। भगवान् की बहुत सी अद्भुत एव दिव्य लीलाये है। उनमे से प्रत्येक अभीष्ट-सिद्धि के लिए पर्याप्त है। शर्त केवल इतना ही है कि श्रवण-प्रक्रिया उचित एव पूर्ण हो। श्रीमद्भागवत में भगवान् की लीलाओ का प्रारम्भ पाण्डवो के प्रति उनकी कृपा से हुआ है। भगवान् की बहुत सी लीलाये है जिनमे उनका असुरो के प्रति कृपा का वर्णन है। तथा दसवे स्कन्ध मे माधुर्य प्रेममयी गोपियो एव गोपसखाओ एवं द्वारका की महारानियो का भी विस्तृत वर्णन है। चूँकि भगवान् अद्वय है। इसलिए उनके स्वरूप एव व्यवहार मे पार्थक्य नही है। परन्तु कभी-कभी लोग अनधिकारी

वक्ताओं से कथा-श्रवण करते है तथा गोपियो के साथ हुई उनकी लीलाओ पर अधिक रस लेते है। श्रोताओं की ऐसी प्रवृत्ति उनकी काम-वासना का द्योतक है। एक अधिकारी वक्ता भगवान् की रहस्यमयी लीलाओं को सुनाने के लिये आतुर नही होता। प्रत्येक व्यक्ति को भगवान् की लीलाएँ प्रारम्भ से ही सुननी चाहिए। जैसे कि श्रीमद्भागवत एव अन्य धर्म ग्रन्थों मे वर्णित है। तथा इसी प्रकार का श्रवण श्रोता के क्रमिक-विकास मे सहायक भी होगा। अतएव किसी को ऐसा नही सोचना चाहिए कि पाण्डवों के साथ उनकी लीला गोपियो के साथ उनकी लीला से कम महत्वपूर्ण है। हमे यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि भगवान् समस्त भौतिकताओ से अतीत है। उपरोक्त श्रीमद्भागवतोक्त व्यवहारो में भगवान् ही एकमात्र अभिनेता है, तथा उनके एव उनके भक्तों तथा भक्तो से सम्बन्धित कथाओं का श्रवण आध्यात्मिक जीवन मे प्रगति का सहयोगी है। यह कहा गया है कि वेद एव पुराण हमारे अनादि भगवत् सम्बन्ध की पुर्नस्थापना के लिये निर्मित हुए है। अतएव इन समस्त धर्म ग्रन्थों का श्रवण अति आवश्यक है।

[३७]

अप्यद्य नस्त्वं स्वकृतेहित प्रभो
जिहाससि स्वित्सुहृदोऽनुजीविन. ।
येषां न चान्यद्भवतः पदाम्बुजात्
परायण राजसु योजितांहसाम् ॥

अपि=यदि, अद्य=आज, नः =हमे; त्वम् – तुम, स्वकृत=स्वयकृत; ईहित -समस्त कर्तव्य, प्रभो हे मेरे स्वामी, जिहाससि=त्यागते हे, स्वित् सम्भवत, सुहृद – अन्तरङ्ग मित्र, अनुजीविन =कृपा के आधार पर जीवित रहने वाले, येषाम्=जिनको, न=नही; च=और, अन्यत्=अन्य कोई, भवतः=आपका, पद-अम्बुजात्=चरण कमलो से, परायणम्= अवलम्बित, राजसु=राजाओ मे, योजिता=-सलग्न, हसाम्=शत्रुता।

अनुवाद

हे मेरे प्रभु, क्या आज आप हमे छोड कर जा रहे है? आप जानते है कि हम सर्वथा आपकी कृपा पर अवलम्बित है। और आप ही हमारे एक

मात्र सुहृद् है। आप ही हमारे परम आश्रय है। आज जब समस्त राजा हमारे विरोधी हो गये है, तब हमे आपके चरण कमलो के अतिरिक्त अन्य कोई आश्रय दिखाई नही पड़ता है।

तात्पर्य

पाण्डव महा भाग्यशाली है, क्योकि सम्पूर्ण सौभाग्यो के साथ वे सर्वात्मभाव से भगवत् कृपा पर ही अवलम्बित है। भौतिक जगत मे किसी की दया पर अवलम्बित होना बडे दुर्भाग्य का लक्षण है परन्तु भगवान् के दिव्य सम्बन्ध के प्रसंग मे यह महान् सौभाग्य है। अपने को सम्पूर्ण क्षेत्रों मे स्वतन्त्र मानना ही भवरोग है। परन्तु क्रूर भौतिक नियम हमे स्वावलम्बी मानने का अवसर भी नही देते। प्रकृति के नियमों के जालो से स्वतन्त्र होने के मिथ्या प्रयास ही भौतिक विज्ञान का विकास माना जाता है। समस्त भौतिक जगत प्राकृतिक नियमो से स्वतन्त्र होने के मिथ्या प्रयासो में गतिशील हो रहा है। रावण, जिसने सीधे स्वर्ग तक सीढ़ी बनानी चाही थी, से लेकर वर्तमान काल पर्यन्त समस्त प्राणी प्रकृति के नियमो को पार करने की कोशिश कर रहे है। वे सुदूर अन्तरिक्ष मे विद्युत यंत्र की शक्ति से पहुँचने का प्रयास कर रहे है, परन्तु मानव-सभ्यता का सर्वोच्च लक्ष्य भगवान् पर सर्वथा अवलम्बित होकर उन्ही के मार्ग-दर्शन मे कठिन परिश्रम करना है। पूर्ण सभ्यता की उच्चतम उपलब्धि है प्रबल साहस पूर्वक कार्य करना। परन्तु इसके साथ-साथ भगवदालम्बन का ग्रहण भी अपेक्षित है। पाण्डव सभ्यता के सर्वोच्च स्तर के निर्वहन मे एक उच्च-आदर्श सिद्ध होते है। नि:सन्देह वे भगवान श्रीकृष्ण की इच्छा पर पूर्ण निर्भर थे परन्तु वे भगवान् के अकर्मण्य-आश्रयी नही थे। वे चरित्र एव नैतिकताओ मे उच्च सु-शिक्षित विद्वान् थे तथापि उन्होने निरन्तर भगवत् कृपा का बाट जोहा। क्योकि वे जानते थे कि प्रत्येक जीव अपनी वास्तविक अवस्था मे भगवदश है भगवदाश्रित है। इसलिए जीवन की पूर्णता-भगवदिच्छा पर अवलम्बित होना है। वे जो भगवान् से बिलग होकर अपने को स्वतन्त्र मानते है, वे अनाथ कहे जाते है, जब कि भगवदिच्छा पर सर्वथा अवलम्बित व्यक्ति "सनाथ" कहा जाता है। अतएव अवश्य ही हमे "सनाथ" होने का प्रयास करना चाहिए ताकि हम भौतिक अस्तित्व की प्रतिकूलताओ से अविचलित रहे आयं। बहिरङ्गा शक्तिके सम्मोहनके कारण हम भूल जाते है कि जीवन को भौतिक अवस्था पूर्ण रूपेण एक गहन विक्षिप्तता है, इसलिए भगवत्

गीता (७-१९) हमे निर्देश करती है कि अनेक जन्मों के पश्चात् कोई एक विरला भाग्यवान् यह जान पाता है कि वासुदेव ही सर्वत्र विराजमान हो रहे है। तथा इस सिद्धान्त को जीवन मे उतारने का सर्वोत्तम उपाय है—उन्हे सर्वतोभावेन समर्पण कर देना। यही एक महात्मा का लक्षण है। पाण्डव परिवार के सभी सदस्य महात्मा थे। महाराज युधिष्ठिर इन महात्माओ मे प्रधान थे तथा रानी कुन्ती देवी माँ थी। भगवद्गीता एव समस्त पुराणो का उपदेश अनिवार्य रूप से महात्मा पाण्डवो के इतिहास से सम्बद्ध है। उनके लिए भगवान् का विरह वैसा ही था, जैसे मछली जल के बाहर कर दी जाय। इसलिये श्रीमती कुन्ती इस विरह को वज्र की भाँति अनुभव करती है तथा उनकी समस्त प्रार्थनाएँ भगवान् को वही अपने साथ ही ठहरने के निवेदनों से परिपूर्ण है। महाभारत युद्ध के पश्चात् यद्यपि द्वेषी राजा मारे जा चुके थे तथापि उनके पुत्र पौत्र पाण्डवो से बदला चुकाने के लिए अद्यावधि विद्यमान थे। केवल पाण्डव ही इस विपन्नावस्था मे नही पडे थे हम सब भी ऐसी अवस्था के शिकार बने हुए है। तथा इससे उन्मुक्त होने का एकमात्र उपाय यही है कि हम सर्वतोभावेन भगवान् की इच्छा पर अवलम्बित हो जायें।

[३८]

के वयं नामरूपाभ्यां यदुभिः सह पाण्डवाः ।
भवतोऽदर्शनं यर्हि हृषीकाणामिवेशितुः ॥

के=कौन है, वयम्=हम, नामरूपाभ्याम्=बिना यश एव योग्यता के; यदुभि=यदुओ के, सह=साथ, पाण्डवा.=पाण्डवो के, भवत.=आप, अदर्शनम्=अनुपस्थिति, यर्हि=मानो कि; हृषीकाणाम्=इन्द्रियो का, इव=सदृश; ईशितु=जीवो का।

अनुवाद

हे श्रीकृष्ण ! जैसे प्राण निकल जाने पर शरीर एव इन्द्रियाँ व्यर्थ हो जाती है। उसी प्रकार आपके दर्शनो के बिना यदुवंशियो एव हमारे पुत्रो के नाम एव रूप का अस्तित्व ही क्या रह जायगा ?

तात्पर्य

कुन्तीदेवी भली भाँति जानती थी, कि पाण्डवों का अस्तित्व केवल एकमात्र श्रीकृष्ण के ही कारण अविशिष्ट है। इसमे कोई सन्देह नही कि पाण्डवो का नाम एव यश अत्यन्त व्यापक हो गया था तथा वह स्वयं धर्मावतार युधिष्ठिर के द्वारा संचालित हो रहा था तथा यदुवशी भी अत्यन्त सौभाग्यशाली हो गये थे। परन्तु श्रीकृष्ण के मार्ग दर्शन बिना वे वैसे ही निर्जीव थे जैसे शरीर एवं इन्द्रियाँ चेतना के बिना निर्जीव है। किसी को अपनी उच्चावस्था शक्ति एवं यश का गर्व नही करना चाहिए। जीव सदा पराश्रित है। किन्तु सर्वोत्तम आश्रय-स्थल साक्षात् भगवान है। इसलिए हम सब प्रकार की भौतिक सुविधाओं का आविष्कार कर सकते है। परन्तु भगवान् के मार्ग दर्शन के बिना यह समस्त आविष्कार चाहे वह कितना ही सुदृढ़ एवं सुगठित ही क्यों न हो एक महान् असफलता ही सिद्ध होते है।

[३९]

नेयं शोभिष्यते तत्र यथेदानीं गदाधर।
त्वत्पदैरङ्किता भाति स्वलक्षण विलक्षितैः॥

न=नही, इदम्=यह हमारी राजधानी की भूमि; शोभिष्यते=सुशोभित होती है, तत्र=तब; यथा=जैसे; इदानीम्=अब, गदाधर=हे गदा धारण करने वाले, त्वत्=तुम्हारा; पदै.=चरणों द्वारा; अङ्किता=चिह्नित, भाति=सुशोभित होती है; स्वलक्षण=अपने विशेष लक्षणों द्वारा; विलक्षितै=दृष्टिगोचर हो रहा है।

अनुवाद

कौमोदकी गदाधारण करने वाले श्रीकृष्ण, हमारी राजधानी तथा आसपास के वन उपवन आपके चरण चिन्हो से अकित होकर अत्यन्त सुशोभित हो रहे है। इन्हे देखकर नेत्रो एवं हृदय को अत्यन्त आनन्द प्राप्त होता है। किन्तु जब आप चले जायेंगे तो यह ऐसी शोभायमान न होगी।

तात्पर्य

भगवान् के चरणों में कुछ विशिष्ट चिन्ह हैं। उनके पादतल मे

ध्वज, वज्र, अंकुश, छत्र, कमल एवं चक्र के चिन्ह सुशोभित होते है। जब वे चलते है तब सुकोमल धूलि में यह चिन्ह अकित हो जाते है। हस्तिनापुर की भूमि भगवान् श्रीकृष्ण एव पाण्डवों के साथ-साथ विचरण करने से उनके चरण चिन्हों से चिह्नित हो गई थी। पाण्डवों की राजधानी सभी ओर से ऐसे चिन्हों से सुशोभित हो रही थी। कुन्ती देवी अपने इस महा सौभाग्य का उल्लेख कर रही है, तथा उनकी अनुपस्थिति मे होने वाले दुर्भाग्य से भयभीत भी हो रही है।

[४०]

इमे जनपदाः स्वृद्धाः सुपक्वौषधिवीरुधः।
वनाद्रिनद्युदन्वन्तो ह्येधन्ते तव वीक्षितैः॥

इमे=ये सब, जनपदा.=नगर एवं शहर, स्वृद्धा.=उन्नत हो रहे; सुपक्व=परिपक्व; औषधि=औषधियाँ, वीरूध.=लतायें, शाकसब्जियाँ; वन=जगल; अद्रि=पर्वत; नद्यः=नदियाँ; उदन्वन्त.=सागर; हि=निश्चित ही; एधन्ते=अभिवृद्ध होती है; तव=आपके, वीक्षितैः=देखने मात्र से।

अनुवाद

हे श्रीकृष्ण, ये नगर, ये ग्राम सम्पूर्ण दृष्टियों से विकसित हो रहे है; क्योंकि अन्न एव औषधियाँ विपुल परिमाण मे उत्पन्न हो रही है। वृक्ष फल फूलो से लदे हुये है। नदियाँ अगाध जल लिये बह रही है। पर्वत खनिज द्रव्यो से भरे हुये है तथा समुद्र रत्नो से परिपूर्ण है। भगवन्, राष्ट्र की इस समृद्धि का एकमात्र कारण यही है कि आप अपनी अमृत वर्षिणी दृष्टि से इन सबको देखा करते है।

तात्पर्य

देश की समृद्धि प्रकृति की देनो से प्राप्त होती है न कि भयंकर उद्योग प्रसाधनो से। भयंकर औद्योगिक-प्रसाधन निरीश्वरवादी सभ्यता की देन है। और वे मानव-जीवन की कोमलतम भावनाओ एवं उद्देश्यो के विघातक है। जितने अधिक हम ऐसे कष्टप्रद उद्योगों को विकसित करते जायेगे

उतने ही अधिक सामान्य जनता मे अशान्ति एव असन्तुष्टि बढती जावेगी। केवल गिने चुने व्यक्ति शोषण के बल पर विलासितापूर्वक जीवन यापन करने पाये जायेंगे। प्राकृतिक-देन जैसे अनाज, शाक-सब्जियाँ, फल, नदियाँ, रत्न, खनिज-द्रव्य एवं पर्वतो की मणियाँ, समुद्र के मोती भगवान् की आज्ञा मे ही उपलब्ध होते है। और जैसी वे इच्छा करते है भौतिक प्रकृति उसी परिमाण मे इन्हे उत्पन्न करती है प्रदान करती है। कभी उत्पादन अधिक कर देती है, कभी कम। यह सब उनकी इच्छा पर ही निर्भर है। प्राकृतिक नियम यह है कि मनुष्य प्राणी इन भगवत् प्रदत्त प्राकृतिक वस्तुओ का लाभ उठाये तथा सन्तोष पूर्वक बिना उसके स्वामित्व एवं शोषण की प्रवृत्ति को अपने भीतर लाये, उनका विकास करे। जितने अधिक हम भौतिक प्रकृति को अपने इन्द्रिय तृप्ति के लिए शोषण करने का प्रयास करते है उतने ही अधिक शोषक वृत्तियों के जाल मे फँस जाते है। यदि हमारे पास पर्याप्त अनाज, फल, शाक, सब्जियाँ एव औषधियाँ है; तब गरीब पशुओ की हत्या करने को हत्यालय चलाने की क्या आवश्यकता है? मनुष्य को पशु मारने की कोई आवश्यकता नही है यदि उसके पास पर्याप्त अनाज एव शाक सब्जियाँ हो। नदी के जल का प्रवाह सदा प्रवाहित होता रहे तो वह क्षेत्रो को उपजाऊ बनाता है। और जितनी आवश्यकता हो उससे अधिक उपज प्राप्त होती है। खनिज-द्रव्य पर्वतो से एव मणियाँ स्वयमेव समुद्र से बाहर आने लगती है यदि मनुष्य के पास पर्याप्त अनाज खनिज तत्व, मणियाँ, जल एव दूध आदि हो तब वह कुछ अभागे मजदूरों की कीमत पर क्यो भयकर औद्योगिक प्रसाधनो को बनाये रखने की इच्छा करेगा। परन्तु यह समस्त प्राकृतिक अनुदान भगवत् कृपा पर अवलम्बित है। इसलिए हमारी एकमात्र आवश्यकता यह है कि हम भगवान् के नियमो के प्रति आज्ञाकारी बने। तथा भगवान् के प्रति भक्ति करते हुए जीवन की पूर्णता प्राप्त करे। कुन्तीदेवी का सकेत बहुत महत्वपूर्ण है। वे चाहती है कि भगवान् की कृपा दृष्टि सदा उन पर बनी रहे। ताकि प्राकृतिक समृद्धि इसी भाँति समस्त जनता को उपलब्ध होती रहे।

[४१]

अथ विश्वेश विश्वात्मन् विश्वमूर्ते स्वकेषु मे।
स्नेहपाशमिमं छिन्धि दृढ पाण्डुषु वृष्णिषु॥

अथ=इसलिये, विश्व-ईश=हे विश्व के स्वामिन्, विश्व-आत्मन्=हे विश्व के आत्मा, विश्वमूर्ते=विश्व स्वरूप; स्वकेषु=अपने सम्बन्धियो मे, मे=मेरे, स्नेहपाश.=प्रेम बन्धन, इमम्=यह, छिन्धि=तोड़ दीजिये, दृढम्=गहन, पाण्डुषु=पाण्डवों मे, वृष्णिषु=वृष्णिओं में भी।

अनुवाद

हे विश्व के स्वामिन्, हे विश्वात्मन्, हे विश्वस्वरूप, पाण्डवों एवं वृष्णिवंशियो के प्रति मै कठिन स्नेह बन्धन से बँध गई हूँ। कृपया इसे तोड दीजिये. मुझे बन्धनमुक्त कर दीजिये।

तात्पर्य

सच्चा भक्त भगवान् से स्वसुख के लिए कोई पदार्थ माँगना लज्जाजनक मानता है परन्तु गृहस्थ कभी-कभी पारिवारिक स्नेही बन्धुओ से बँधकर भगवान् से याचना कर ही बैठता है। कुन्तीदेवी इस बात से अवगत थी, इसलिए उन्होने भगवान् से प्रार्थना की. कि सम्बन्धियों के प्रति जो मेरे हृदय मे घनीभूत ममता बस गई है, हे प्रभु उसे छिन्न-भिन्न कर दो। पाण्डव उनके पुत्र है, तथा वृष्णिवशी उनके पितृ-परिवार के सम्बन्धी है। दोनो परिवारो से श्रीकृष्ण समान रूप से सम्बन्धित थे। दोनों परिवारों ने भगवान् से सहायता याचना की। क्योकि वे दोनो ही भगवदवलम्बित थे। श्रीमती कुन्तीदेवी ने श्रीकृष्ण से चाहा कि वे उनके पुत्र पाण्डवो के साथ रह जायँ। परन्तु उनके ऐसा करने से उनका पितृकुल उनसे वचित रह जायेगा। इन सब प्रकार की भावनाओ ने कुन्तीदेवी के चित्त को व्यग्र कर दिया और इसलिए उन्होने स्नेह बन्धन को तोड देने की इच्छा की। सच्चा भक्त पारिवारिक स्नेह-बन्धन उखाड फेकता है। तथा कर्म का क्षेत्र अति विस्तृत बनाता है और भक्तिमयी सेवा के द्वारा विस्मृत प्राय जीवो को भगवदनुगत बनाता है इसका ज्वलन्त उदाहरण है छ गोस्वामियो का समूह; जिन्होने महाप्रभु श्रीचैतन्य का अनुसरण किया। वे समस्त अति उच्च वर्ग के धनी एव सुसंस्कृत परिवार मे उत्पन्न हुए थे। परन्तु सामान्य जनता के लाभ के लिये अपने सुख सुविधापूर्ण गृहो को त्याग कर वे परिव्राजक हो गये। पारिवारिक स्नेह-बन्धन के छेदन का अर्थ है—कार्य क्षेत्र का विस्तार। बिना यह किये कोई भी व्यक्ति न तो ब्राह्मण हो सकता है, न राजा और न

नेता और न भगवान् का भक्त ही हो सकता है। एक आदर्श राजा की भाँति भगवान् ने एक आदर्श प्रस्तुत किया। श्रीरामचन्द्र ने आदर्श राजा के गुणों का अनावरण करने के लिए अपनी परम प्रिया पत्नी के स्नेह बन्धन को तिलाञ्जलि दे दी।

एक ब्राह्मण, एक भक्त, एक राजा, एक नेता को अवश्य ही अपने कर्तव्यो का पालन करने मे अत्यन्त उदार चित्त होना चाहिए। श्रीमती कुन्तीदेवी यह बात जानती थी। तथा निर्बल होने के कारण उन्होने उन स्नेहानुबन्धनों से मुक्त करने के लिये प्रार्थना की। उन्होने भगवान् को विश्व के स्वामिन् कहकर सम्बोधित किया। इसका अर्थ है वैश्विकचित्त का स्वामी। यह सम्बोधन संकेत करता है, कि वे चूंकि सर्वशक्तिमान् है अत पारिवारिक स्नेह बन्धन की कठिन ग्रन्थि को अवश्य काट देंगे।

इसलिये यह कभी-कभी अनुभव किया जाता है, कि भगवान् अपने निर्बल भक्त पर विशेष कृपा प्रगट करने के लिये अपनी सर्वशक्तिमत्ता के द्वारा विचित्र घटनाओ की व्यवस्था कर उसके पारिवारिक स्नेह को छिन्न-भिन्न कर देते है। ऐसा करके वे भक्त को अपने ऊपर पूर्ण अवलम्बित बना लेते है। तथा उसका भगवत् प्राप्ति का मार्ग निष्कण्टक बना देते है।

[४२]

त्वयि मेऽनन्यविषया मतिर्मधुपतेऽसकृत।
रतिमुद्वहतादद्धा गङ्गेवौघमुदन्वति॥

त्वयि=तुमको, मे=मेरे, अनन्यविषया=अहैतुकी; मतिः=बुद्धि मधुपतये=हे मधुपुरी के स्वामी, असकृत्=निरन्तर, रति=आकर्षण, उद्वहतात्=निरन्तर प्रवाहित होता रहे, अद्धा=प्रत्यक्ष रूपेण, गङ्गा=गगा नदी, इव=सदृश, औघम्=प्रवाहित होना है, उदन्वति=समुद्र की ओर।

अनुवाद

हे मधुपति, जैसे गङ्गा की धारा कल-कल ध्वनि करती हुई अबाध गति से समुद्र की ओर प्रवाहित होती है। उसी भाँति मेरी मति निरन्तर आपके चरण-कमलो की ओर प्रवाहित होती रहे। किसी दूसरी ओर वह कभी भी न जावे।

तात्पर्य

जब चित्त की समस्त वृत्तियाँ भगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा की ओर अभिमुख हो जाती है; तब विशुद्ध भक्ति की पूर्णता प्राप्त होती है। सम्पूर्ण स्नेह बन्धनों के निवारण का यह अर्थ नही है कि सम्पूर्ण सूक्ष्म तत्वो को अस्वीकार कर दे। तथा सबके विरुद्ध हो जाये। यह सम्भव नही है। जीव वह चाहे जो भी हो, अन्यो के प्रति प्रेमभाव अवश्य होना चाहिए क्योकि जीवन का यही लक्षण है। इच्छा, क्रोध, लालसा एव आकर्षण भाव ये सब जीवन के लक्षण है, तथा इन्हें कभी भी समाप्त नही किया जा सकता। केवल दृष्टिकोण बदला जाना चाहिए। इच्छा कभी भी समाप्त नही की जा सकती किन्तु प्रेममयी सेवा में इच्छाये इन्द्रिय तृप्तिमयी से श्रीकृष्ण तृप्तिमयी में परिणित की जा सकती है। परिवार, समाज, देश आदि के प्रति तथा कथित प्रेम विभिन्न स्तरों की इन्द्रिय-तृप्ति से ही सम्बन्धित है। जब यह अभिलाषा भगवन्-तृप्ति से सम्बन्धित हो जाती है, तब यह प्रेममयी सेवा कहलाती है। भगवत् गीता मे हम देख सकते है कि अर्जुन ने अपनी निजी मान्यताओ एव इच्छाओ की सतुष्टि के लिए अपने भाइयों एवं सम्बन्धियो मे युद्ध करना अस्वीकार किया था। परन्तु जब उन्होने भगवान् का सन्देश श्रीमद्भगवत् गीता का श्रवण किया तब उन्होंने तत्क्षण अपना निर्णय बदल दिया एव भगवान् की सेवा की। और ऐसा करने के कारण वे भगवान् के विख्यात भक्त बने। यह सभी प्राचीन ग्रन्थो मे उल्लिखित है, कि अर्जुन भगवान् के सख्य भाव की साधना द्वारा आध्यात्मिक पूर्णता को उपलब्ध हुए।

युद्ध वहाँ था. मित्रता वहाँ थी, श्री अर्जुन वहाँ थे, श्रीकृष्ण वहाँ थे परन्तु अर्जुन भक्तिमयी सेवा के कारण तत्क्षण ही एक अन्य व्यक्ति हो गये इसलिए कुन्ती की प्रार्थनाये भी कार्यो की गुणवत्ता मे उसी परिवर्तन का संकेत करती है। श्रीमती कुन्ती ने भगवान् की अविच्छिन्न सेवा की अभिलाषा की। यह अहैतुकी भक्ति जीवन का चरम उद्देश्य है। हमारी चित्त-वृत्ति प्राय. किसी ऐसे व्यक्ति अथवा पदार्थ की सेवा मे संलग्न है जिसका सम्बन्ध परमात्मा से नही है। अथवा भगवन् प्राप्ति की योजना के अन्तर्गत नही है। जब योजना भगवत् सेवा मे परिवर्तित हो जाती है तब समस्त इन्द्रियां भगवत् सेवा के कारण सुसंस्कृत हो जाती है, तब यह अहैतुकी भक्ति कहलाती है। कुन्तीदेवी ने इस पूर्णता की अभिलाषा की तथा इसके लिए भगवान् से प्रार्थना की।

पाण्डवों एवं वृष्णिवशियों के प्रति उनका सम्बन्ध प्रेममयी सेवा की परिधि के बाहर न था क्योकि भगवान् की सेवा तथा भक्तों की सेवा दोनो अभिन्न है। कभी-कभी भक्त की सेवा भगवान् की सेवा से अधिक मूल्यवान हो जाती है। परन्तु यहाँ कुन्तीदेवी का पाण्डवो एव वृष्णिवशियों से प्रेम पारिवारिक सम्बन्धों के कारण था। यह स्नेह-बन्धन एक भौतिक सम्बन्ध, एक मायिक सम्बन्ध था। क्योकि शरीर एव मन का सम्बन्ध बहिरङ्गा शक्ति से है। जीव का सम्वन्ध जब परमात्मा से होता है तब वह वास्तविक सम्वन्ध कहलाता है। जब कुन्तीदेवी ने पारिवारिक सम्बन्ध तोडना चाहा तव उसका भाव है उन्होने दैहिक सम्बन्ध तोड़ना चाहा। दैहिक-सम्बन्ध भौतिक बन्धन का कारण है, परन्तु आत्मिक सम्बन्ध परम स्वतत्रता का कारण है। जीव का जीव से सम्बन्ध परमात्म सम्बन्ध के माध्यम से प्रतिष्ठित हो सकता है। अधेरे मे देखना देखना नही है। सूर्य के प्रकाश मे देखने का अर्थ यह है कि सूर्य का दर्शन तो करे साथ ही उन समस्त वस्तुओं पर भी दृष्टिपात करे जो अँधेरे मे अदृश्य थी। यही प्रेममयी सेवा का स्वरूप है।

[४३]

श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यृषभावनिध्रुग्
राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य ।
गोविन्द गोद्विजसुरार्तिहरावतार
योगेश्वराखिलगुरो भगवन्नमस्ते ॥

श्रीकृष्ण=हे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र, कृष्णसख=हे अर्जुन के सखा: वृष्णि=वृष्णि कुल मे उत्पन्न होने वाले, ऋषभ=श्रेष्ठ, अवनि=पृथ्वी. ध्रुक्=विद्रोही, राजन्यवश=राजाओ के कुल मे; दहन=दग्ध, अनपवर्ग=विना नष्ट हुए, वीर्य=पराक्रम, गोविन्द=गोलोक धाम के स्वामी, गो=गौओं; द्विज=ब्राह्मण, सुर=देवता, आर्तिहर=पीड़ाओ का हरण करने वाले; अवतार=स्वरूप, योगेश्वर=सम्पूर्ण चामत्कारिक शक्तिओ के स्वामी, अखिल=समस्त; गुरो=हे गुरु: भगवन्=समस्त ऐश्वर्य एवं वैभवों को धारण करने वाले, नम.ते=मैं आदर पूर्वक तुम्हे प्रणाम करती हूँ।

अनुवाद

हे अर्जुन के मित्र, हे यदुवश शिरोमणि आप पृथ्वी का भार बढाने वाले दुष्ट राजाओ के विशाल संगठन का नाश करने वाले है, आपकी शक्ति कभी क्षीण नही होती हे गोलोकधाम के अभिभावक, आप गौ, ब्राह्मण, देवताओं के कष्टो के निवारणार्थ अवतार ग्रहण करते है। हे योगेश्वर, हे विश्व-स्वरूप हे गुरु हे समस्त ऐश्वर्यो के स्वामी, मै तुम्हे प्रणाम करती हूँ।

तात्पर्य

यहाँ श्रीमती कुन्तीदेवी के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण के जीवन का संक्षिप्त रूप प्रस्तुत हुआ है। भगवान् का नित्य दिव्य धाम है जहाँ वे सुरभि, गौओं के पालन मे सतत सलग्न रहते है। सैकडो एव सहस्त्रो भाग्य की अधिदेवियाँ उनकी सेवा मे तत्पर रहती है। वे भौतिक जगत मे अपने भक्तो की रक्षा तथा विरोधी तत्वो के सहार के लिए प्रगट होते है। वे अपनी असीम शक्तियो से सृष्टि, पालन एव सहार करते है तथापि सदा अखण्ड शक्ति सम्पन्न बने रहते है। उनकी योग्यताएँ कभी क्षीण नही होती। गौओ ब्राह्मणों, एव भक्तों पर उनका विशिष्ट झुकाव होता है, क्योंकि वे सामान्य जीवो के महत्वपूर्ण कल्याण कर्ता महानुभाव है।

[४४]

सूत उवाच

पृथयेत्थं कलपदैः परिणूताखिलोदयः।
मन्दं जहास वैकुण्ठो मोहयन्निव मायया ॥

सूत=श्रीसूत जी, उवाच=बोले, पृथा=माता कुन्ती द्वारा; इत्थम् =यह, कलपदैः =चयन किये शब्दों द्वारा, परिणूत=पूजित हुए; अखिल= सम्पूर्ण; उदय=महिमाएँ; मन्द =मृदुल, जहास=मुस्कराये; वैकुण्ठ=भगवान्, मोहयन्=मोहित करते हुए, इव=जैसे, मायया=चामत्कारित शक्ति द्वारा।

अनुवाद

हे अर्जुन के मित्र, हे यदुवश शिरोमणि आप पृथ्वी का भार वढाने वाले दुष्ट राजाओं के विशाल संगठन का नाश करने वाले है, आपकी शक्ति कभी क्षीण नही होती हे गोलोकधाम के अभिभावक, आप गौ, ब्राह्मण, देवताओं के कष्टों के निवारणार्थ अवतार ग्रहण करते है। हे योगेश्वर, हे विश्व-स्वरूप हे गुरु हे समस्त ऐश्वर्यो के स्वामी, मै तुम्हे प्रणाम करती हूँ।

तात्पर्य

यहाँ श्रीमती कुन्तीदेवी के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण के जीवन का सक्षिप्त रूप प्रस्तुत हुआ है। भगवान् का नित्य दिव्य धाम है जहाँ वे सुरभि, गौओं के पालन मे सतत सलग्न रहते है। सैकडो एव सहस्त्रों भाग्य की अधिदेवियाँ उनकी सेवा मे तत्पर रहती है। वे भौतिक जगत मे अपने भक्तो की रक्षा तथा विरोधी तत्वो के सहार के लिए प्रगट होते है। वे अपनी असीम शक्तियो से सृष्टि, पालन एव सहार करते है तथापि सदा अखण्ड शक्ति सम्पन्न वने रहते है। उनकी योग्यताएँ कभी क्षीण नही होती। गौओ ब्राह्मणों, एवं भक्तों पर उनका विशिष्ट झुकाव होता है, क्योकि वे सामान्य जीवो के महत्वपूर्ण कल्याण कर्ता महानुभाव है।

[४४]

सूच उवाच

पृथयेत्थं कलपदैः परिणूताखिलोदयः ।
मन्दं जहास वैकुण्ठो मोहयन्निव मायया ॥

सूत=श्रीसूत जो, उवाच=बोले, पृथा=माता कुन्ती द्वारा; इत्थम् =यह, कलपदै =चयन किये शब्दो द्वारा, परिणूत=पूजित हुए; अखिल= सम्पूर्ण, उदय=महिमाएँ, मन्द=मृदुल; जहास=मुस्कराये; वैकुण्ठ=भगवान, मोहयन्=मोहित करते हुए; इव=जैसे, मायया=चामत्कारित शक्ति द्वारा।

रहे थे। भगवान् की लीला के मर्मज्ञ व्यास आदि ऋषि तथा आश्चर्यजनक लीलाएं करने वाले स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने अनेक इतिहास-कथाओं के द्वारा उन्हें उपदेश किया, तथापि उन्हें सान्त्वना न मिली, उनका शोक न मिट सका।

तात्पर्य

सदाचारी महाराज युधिष्ठिर अति उद्विग्न थे, क्योंकि उनके द्वारा कुरुक्षेत्र के मैदान में महान् जन-संहार हुआ था। दुर्योधन राजगद्दी पर प्रतिष्ठित था तथा वह भलीभाँति शासन कर ही रहा था। एक दृष्टि से युद्ध की कोई आवश्यकता न थी। किन्तु न्याय की दृष्टि से उक्त पद पर राजा युधिष्ठिर को होना चाहिये था। सम्पूर्ण राजनैतिक चक्रों का यही केन्द्र था तथा समस्त राजा एवं विश्व के वीर सेनानी इन दोनों भाइयों के परस्पर के युद्ध में सम्मिलित हो गये थे। भगवान् श्रीकृष्ण भी राजा युधिष्ठिर के दल में सम्मिलित हो गये। महाभारत आदि पर्व (२०) में कहा गया है कि महाभारत युद्ध के १८ दिनों में ६४,०००,०० चौसठ लाख व्यक्ति मारे गये तथा हजारों व्यक्तियों का कुछ पता भी न चला। भौतिक दृष्टि से ५,००० वर्ष पूर्व विश्व का यह सबसे बड़ा युद्ध था। यह महान युद्ध केवल महाराजा युधिष्ठिर को राज्याभिषिक्त करने के लिए हुआ था, इसलिए वे बहुत शोकातुर हो रहे थे अतएव व्यासादि ऋषियों ने तथा स्वयं भगवान् कृष्ण ने भी बहुत से इतिहास आख्यानों के द्वारा उनको सान्त्वना देने का प्रयास किया उन्होंने सिद्ध किया कि युद्ध सर्वथा धर्मयुक्त था, उचित था। परन्तु उस समय के महान् व्यक्तित्व भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा उपदिष्ट होने पर भी महाराजा युधिष्ठिर को सान्त्वना नही मिली। श्रीकृष्ण यहाँ अति मानवीय कार्यों के कर्ता कहे गये हैं, परन्तु इस स्थल में न तो वे और न व्यास ही राजा युधिष्ठिर को समझा सकने में समर्थ हुए। क्या इसका अर्थ है कि वे अतिमानव के रूप में असफल सिद्ध हुए ? नही कदापि नही। भगवान् ईश्वर या अन्तर्यामी की भाँति युधिष्ठिर और व्यास दोनों के हृदय में विराजमान थे। राजा युधिष्ठिर के हृदय में अन्तर्यामी की भाँति स्थित रहकर उन्होंने उन्हें व्यास एवं अन्यों के तथा अपने स्वयं के वक्तव्यों से नही प्रभावित होने दिया। क्योकि वे चाहते थे कि राजा युधिष्ठिर मरणासन्न पितामह भीष्मदेव से शिक्षा ग्रहण करें जो भगवान् के एक अन्यतम भक्त थे; भगवान् ने चाहा कि अपने जीवन के अन्तिम क्षण में महान् वीर एवं महान् भक्त भीष्म

अनुवाद

इस प्रकार श्रीमती कुन्तीदेवी की प्रार्थनाओं को भगवान् ने स्वीकार किया तत्पश्चात् हस्तिनापुर के राजमहल में प्रवेश की सूचना अन्य महिलाओं को प्रेषित की। परन्तु प्रस्थान का उपक्रम करते हुए राजा युधिष्ठिर ने अत्यन्त प्रेमवश उन्हें आग्रह पूर्वक रोक लिया।

तात्पर्य

भगवान् जब द्वारका को प्रस्थान का निर्णय कर चुके थे तो उन्हे हस्तिनापुर मे कोई नही रोक सकता था। परन्तु राजा युधिष्ठिर की विनम्र करुण प्रार्थना, कि भगवान् कुछ दिन और ठहर जायँ, तत्क्षण प्रभावकारक थी, यह सकेत करना है कि राजा युधिष्ठिर की शक्ति प्रेममयी थी। जिसे भगवान् अस्वीकार नही कर सकते थे। सर्व शक्तिमान भगवान् इस प्रकार केवल प्रेममयी सेवा से वश में होते हैं तथा अन्य कोई उपाय नही है। वे व्यवहार में पूर्ण आत्मनिर्भर हैं। वे अपने सच्चे भक्तों की अभ्यर्थनायें स्वेच्छापूर्वक स्वीकार करते हैं।

[४६]

व्यासाद्यैरीश्वरेहाज्ञैः कृष्णेनाद्भुतकर्मणा।
प्रबोधितोऽपीतिहासैर्नाबुध्यत शुचार्पितः॥

व्यासाद्यैः=व्यास आदि महामहिम ऋषियों द्वारा; ईश्वरः=सर्वशक्तिमान्; ईहः=इच्छा के द्वारा; अज्ञैः=महान् विद्वानों द्वारा; कृष्णेन=स्वय भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा; अद्भुत-कर्मणा=अति विचित्र अति मानवीय कार्यों के करने वाले भगवान्; प्रबोधितः=सान्त्वना दिये गये, अपि=भी, इतिहासैः=इतिहासों के विभिन्न प्रमाणों द्वारा; न=नही; अबुध्यत=सन्तुष्ट हुए; शुचअर्पितः=अत्यन्त दुखी।

अनुवाद

महाराज युधिष्ठिर अपने बान्धवों के मारे जाने से अत्यन्त दुखी हो

रहे थे। भगवान् की लीला के मर्मज्ञ व्यास आदि ऋषि तथा आश्चर्यजनक लीलाएं करने वाले स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने अनेक इतिहास-कथाओं के द्वारा उन्हें उपदेश किया, तथापि उन्हें सान्त्वना न मिली, उनका शोक न मिट सका।

तात्पर्य

सदाचारी महाराज युधिष्ठिर अति उद्विग्न थे, क्योंकि उनके द्वारा कुरुक्षेत्र के मैदान में महान् जन-संहार हुआ था। दुर्योधन राजगद्दी पर प्रतिष्ठित था तथा वह भलीभाँति शासन कर ही रहा था। एक दृष्टि से युद्ध की कोई आवश्यकता न थी। किन्तु न्याय की दृष्टि से उक्त पद पर राजा युधिष्ठिर को होना चाहिये था। सम्पूर्ण राजनैतिक चक्रों का यही केन्द्र था तथा समस्त राजा एवं विश्व के वीर सेनानी इन दोनों भाइयों के परस्पर के युद्ध में सम्मिलित हो गये थे। भगवान् श्रीकृष्ण भी राजा युधिष्ठिर के दल में सम्मिलित हो गये। महाभारत आदि पर्व (२०) में कहा गया है कि महाभारत युद्ध के १८ दिनों में ६४,०००,०० चौसठ लाख व्यक्ति मारे गये तथा हजारों व्यक्तियों का कुछ पता भी न चला। भौतिक दृष्टि से ५,००० वर्ष पूर्व विश्व का यह सबसे बड़ा युद्ध था। यह महान युद्ध केवल महाराजा युधिष्ठिर को राज्याभिषिक्त करने के लिए हुआ था, इसलिए वे बहुत शोकातुर हो रहे थे अतएव व्यासादि ऋषियों ने तथा स्वयं भगवान् कृष्ण ने भी बहुत से इतिहास आख्यानों के द्वारा उनको सान्त्वना देने का प्रयास किया उन्होंने सिद्ध किया कि युद्ध सर्वथा धर्मयुक्त था, उचित था। परन्तु उस समय के महान् व्यक्तित्व भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा उपदिष्ट होने पर भी महाराजा युधिष्ठिर को सान्त्वना नही मिली। श्रीकृष्ण यहाँ अति मानवीय कार्यों के कर्ता कहे गये हैं, परन्तु इस स्थल मे न तो वे और न व्यास ही राजा युधिष्ठिर को समझा सकने में समर्थ हुए। क्या इसका अर्थ है कि वे अतिमानव के रूप में असफल सिद्ध हुए ? नहीं कदापि नहीं। भगवान् ईश्वर या अन्तर्यामी की भाँति युधिष्ठिर और व्यास दोनों के हृदय में विराजमान थे। राजा युधिष्ठिर के हृदय में अन्तर्यामी की भाँति स्थित रहकर उन्होंने उन्हें व्यास एवं अन्यों के तथा अपने स्वयं के वक्तव्यों से नहीं प्रभावित होने दिया। क्योकि वे चाहते थे कि राजा युधिष्ठिर मरणासन्न पितामह भीष्मदेव से शिक्षा ग्रहण करें जो भगवान् के एक अन्यतम भक्त थे; भगवान् ने चाहा कि अपने जीवन के अन्तिम क्षण में महान् वीर एवं महान् भक्त भीष्म

उनका प्रत्यक्ष दर्शन करें तथा अपने परम प्रिय युधिष्ठिरादि पौत्रों को भी देखें। जो जीवन के पूर्वार्ध में अत्यन्त कष्टों को भोग कर अब राज्याभिषिक्त हो गये हैं। भीष्मदेव पाण्डवों के जो उनके पितृहीन परम प्रिय पौत्र थे, विरुद्ध युद्ध नहीं करना चाहते थे। परन्तु क्षत्रियतत्व एक कठोर व्यक्तित्व होता है; इसलिए उन्हें बाध्य होकर दुर्योधन का पक्ष ग्रहण करना पड़ा; क्योंकि वे दुर्योधन के अन्न से पोषित हो रहे थे। इन सबके अतिरिक्त भगवान् श्रीकृष्ण चाहते थे कि राजा युधिष्ठिर स्वयं भीष्मदेव के उद्बोधक वचनों से परम सान्त्वना प्राप्त करे और सारा विश्व यह देखे कि उनके परम भक्त भीष्मदेव किस प्रकार सम्पूर्ण ज्ञानों में पारङ्गत है।

[४७]

आह राजा धर्मसुतश्चिन्तयन् सुहृदां वधम्।
प्राकृतेनात्मना विप्राः स्नेहमोहवशं गतः॥

आह=कहा; राजा=राजा युधिष्ठिर; धर्मसुतः=धर्मपुत्र; चिन्तयन्=सोचते हुए; सुहृदाम्=मित्रों का; वधम्=हत्या; प्राकृतेन=केवल प्राकृत धारणा द्वारा; आत्मना=आत्मा द्वारा; विप्राः=हे ब्राह्मणो; स्नेह=प्रेम; मोह=भ्रम; वशं=वश मे, गतः=चले गये।

अनुवाद

धर्म पुत्र महाराजा युधिष्ठिर को अपने स्वजनों के वध से बड़ी चिन्ता हो रही थी। वे सामान्य भौतिकवादी व्यक्ति की भांति शोकातुर हो रहे थे। हे ऋषियो, सम्बन्धियों के प्रति मोह बन्धन में बंधकर वे राजा इस प्रकार कहने लगे।

तात्पर्य

राजा युधिष्ठिर से यद्यपि सामान्य व्यक्ति की भाँति शोकातुर होने की अपेक्षा नहीं की जा सकती थी; तथापि वे भगवान् की इच्छा से मोहित हो गये ठीक उसी प्रकार जैसे भगवद्गीता के उपदेश के पूर्व अर्जुन बाह्य दृष्टि से मोहित हो गया था। सत्यदर्शी व्यक्ति यह जानता है कि जीव न [illegible] है न मन है वरन् वह जीवन की समस्त संस्कारगत मान्यताओं एवं

धारणाओं से अतीत है। सामान्य व्यक्ति शारीरिक दृष्टिकोण से हिसा एवं अहिंसा की बात सोचता है; परन्तु वह मोह का ही एक प्रकार है। प्रत्येक व्यक्ति अपने वृत्तिगत कर्तव्य बन्धन से बँधा हुआ है एक क्षत्रिय उचित कारण को लेकर संघर्षरत होने से बँधा हुआ है। उस समय उसे विरोधी दल के ममत्व का तनिक भी विचार नही होना चाहिए। ऐसे कर्तव्यों के पालन मे क्षत्रिय को मृत्यु से विचलित नही होना चाहिए। क्योंकि वह मृत्यु और कुछ नहीं जीव के केवल बाह्य वेष का परिवर्तन मात्र है। यह सब महाराजा युधिष्ठिर को अवगत था। परन्तु भगवान् की इच्छा से वे एक सामान्य व्यक्ति की भाँति हो गये। क्योकि युधिष्ठिर के मोह के पीछे भगवान् की एक अद्भुत लीला छिपी हुई थी। भगवान् चाहते थे कि राजा युधिष्ठिर भीष्मदेव से उसी भाँति शिक्षित हों जिस प्रकार स्वय उनके द्वारा अर्जुन शिक्षित हुए थे।

[४८]

अहो मे पश्यताज्ञानं हृदि रूढं दुरात्मनः।
पारक्यस्यैव देहस्य बह्व्यो मेऽक्षौहिणीर्हताः॥

अहो=ओह; मे=मेरे; पश्यत=देखो तो; अज्ञान=अज्ञान; हृदि=हृदय में; रूढं=अवस्थित है; दुरात्मनः=पापी का; पारक्यस्य=दूसरों के लिये; एव=निश्चित ही; देहस्य=शरीर का; बह्व्यः=बहुत-बहुत; मे=मेरे द्वारा; अक्षौहिणी=चतुरङ्गिणी सेनाओं का बहुत बड़ा समूह; हता.=मार डाले गये।

अनुवाद

महाराज युधिष्ठिर ने कहा मुझे धिक्कार है। मैं महान् पापी व्यक्ति हूँ। मेरे हृदय को तो देखो, यह कितने अज्ञान से परिपूर्ण है यह शरीर जो अन्त मे कुत्तों एवं कौओं का आहार हो जाता है, उसके लिए मैंने बहुत-बहुत अक्षौहिणी सेनाओं का संहार करा डाला।

तात्पर्य

एक अक्षौहिणी सेना का अर्थ है २१,८७० रथ, २१,८७० हाथी,

१,०६,६५० घुड़सवार एवं ६५,६०० पैदल सेना। और महाभारत के युद्ध मे इस प्रकार १८ अक्षौहिणी सेनाओं का संहार हुआ था। महाराजा युधिष्ठिर संसार के महान् सदाचारी सम्राट् थे। अतः इन समस्त सैन्य समूह के वध का उत्तरदायित्व स्वयं अपने मस्तक पर ले लिया। क्योंकि यह युद्ध स्वय उन्हीं को राज्याभिषिक्त करने के लिए हुआ था। अन्ततः यह शरीर दूसरो का ही भाग है और जव तक इस शरीर में प्राण है, तव तक यह दूसरो की सेवा के लिए है और जव प्राण निकल जाते हैं तव यह कुत्तों सियारों एव कौओं के द्वारा खाया जाता है। वे वहुत दुखी थे क्योकि ऐसे क्षण भंगुर शरीर के लिए इतना भीषण जन संहार किया।

[४९]

वाल द्विजसुहृन्मित्रपितृभ्रातृगुरुद्रुहः।
न मे स्यान्निरयान्मोक्षो ह्यपि वर्षायुतायुतैः॥

वाल=वालक; द्विज=ब्राह्मण; सुहृत्=शुभचिन्तक; मित्र=मित्र; पितृ=पिता; भ्रातृ=भाई; गुरु=गुरु; द्रुहः=मार डाला; न=नहीं; मे=मेरे; स्यात्=होगा; निरयात्=नरक से; मोक्षः=छुटकारा; हि=निश्चित ही; अपि=भी; वर्ष=वर्ष; अयुता=लाखों; युतैः=करोड़ों।

अनुवाद

मैंने वहुत से वालकों, ब्राह्मणों, शुभ चिन्तकों, मित्रों, माता-पिताओं, शिक्षकों एवं भाइयों को मार डाला। इस कारण चाहे मैं हजारों वर्षों तक ही क्यों न जीऊँ; तथापि इन समस्त पापों के फलस्वरूप नर्क तो मेरी प्रतीक्षा ही करता रहेगा।

तात्पर्य

जव कभी भी युद्ध होता है, तव निश्चित ही वहुत से निरपराध जीवों पर भी जैसे ब्राह्मणों एवं स्त्रियों पर भी महान् संकट आता है। एक प्रकार से उनका भी वध हो जाता है, और यह महान् पाप माना गया है। वे सव निरपराध प्राणी है अतः सभी परिस्थितियों में धर्मग्रन्थों में उनका वध निषिद्ध है। महाराजा युधिष्ठिर इस प्रकार सामूहिक संहार का परिणाम

जानते थे। इसी प्रकार दोनों ही दलों में मित्र, माता-पिता एवं शिक्षक भी थे और वे सब मारे गये। ऐसे महान् संहार के विषय में सोचना भी भयानक था और इसलिए उसके परिणाम स्वरूप वे लाखों और करोड़ों वर्षो तक नर्कवास की बात सोच रहे है।

[५०]

नैनो राज्ञः प्रजाभर्तुर्धर्मयुद्धे वधो द्विषाम्।
इति मे न तु बोधाय कल्पते शासनं वचः॥

न=कभी नही, एनः=पाप, राज्ञः=राजा का, प्रजाभर्तुः=जो नागरिकों के पालन में सलग्न है, धर्म=उचितकरण के लिये, युद्धे=युद्ध में, वध=मारना, द्विषाम्=शत्रुओ का, इति=ये सब, मे=मेरे लिये; न=नही, तु=किन्तु, बोधाय=सन्तुष्टि के लिये; कल्पते=शासन के लिये, शासन=शिक्षाये; वचः=वचन।

अनुवाद

जो राजा न्याय, सत्य, धर्म एवं प्रजा की रक्षा के लिए युद्ध करता है उस राजा को कोई पाप नहीं लगता है ऐसा कहा गया है। तथापि यह मेरे उपयुक्त नही है।

तात्पर्य

महाराज युधिष्ठिर ने सोचा कि यद्यपि वे उस राज्य शासन में सलग्न हैं जिसमें दुर्योधन बिना नागरिक का वध किये राज्य कर रहा था। अतएव उनके द्वारा उन सब का संहार राजसिंहासन की प्राप्ति रूपी स्वार्थ के लिए माना जायगा। यह वध शासन सुव्यवस्था के अन्तर्गत नहीं वरन् अपनी स्वार्थपूर्ण महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए माना जायगा और इस प्रकार वह समस्त पापों के लिए स्वयं को ही उत्तरदायी मान रहे हैं।

[५१]

स्त्रीणांमद्धत बन्धूनां द्रोहो योऽसाविहोत्थितः।
कर्मभिर्गृहमेधीयैर्नाहं कल्पो व्यपोहितुम्॥

१,०९,६५० घुड़सवार एवं ६५,६०० पैदल सेना। और महाभारत के युद्ध में इस प्रकार १८ अक्षौहिणी सेनाओं का संहार हुआ था। महाराजा युधिष्ठिर ससार के महान् सदाचारी सम्राट् थे। अतः इन समस्त सैन्य समूह के वध का उत्तरदायित्व स्वय अपने मस्तक पर ले लिया। क्योकि यह युद्ध स्वय उन्ही को राज्याभिषिक्त करने के लिए हुआ था। अन्ततः यह शरीर दूसरो का ही भाग है और जब तक इस शरीर मे प्राण है, तव तक यह दूसरो की सेवा के लिए है और जब प्राण निकल जाते है तव यह कुत्तों सियारों एव कौओं के द्वारा खाया जाता है। वे बहुत दुखी थे क्योकि ऐसे क्षण भंगुर शरीर के लिए इतना भीषण जन संहार किया।

[४९]

बाल द्विजसुहृन्मित्रपितृभ्रातृगुरुद्रुहः।
न मे स्यान्निरयान्मोक्षो ह्यपि वर्षायुतायुतैः॥

बाल=बालक; द्विज=ब्राह्मण; सुहृत्=शुभचिन्तक; मित्र=मित्र; पितृ=पिता; भ्रातृ=भाई; गुरु=गुरु; द्रुहः=मार डाला, न=नही; मे=मेरे; स्यात्=होगा; निरयात्=नरक से; मोक्षः=छुटकारा; हि=निश्चित ही; अपि=भी; वर्ष=वर्ष; अयुता=लाखों; युतैः=करोड़ों।

अनुवाद

मैंने बहुत से बालकों, ब्राह्मणों, शुभ चिन्तकों, मित्रों, माता-पिताओं, शिक्षकों एवं भाइयों को मार डाला। इस कारण चाहे मैं हजारों वर्षो तक ही क्यों न जीऊँ; तथापि इन समस्त पापों के फलस्वरूप नर्क तो मेरी प्रतीक्षा ही करता रहेगा।

तात्पर्य

जब कभी भी युद्ध होता है, तव निश्चित ही बहुत से निरपराध जीवों पर भी जैसे ब्राह्मणों एवं स्त्रियों पर भी महान् संकट आता है। एक प्रकार से उनका भी वध हो जाता है, और यह महान् पाप माना गया है। वे सव निरपराध प्राणी है अतः सभी परिस्थितियों मे धर्मग्रन्थो में उनका वध निषिद्ध है। महाराजा युधिष्ठिर इस प्रकार सामूहिक संहार का परिणाम

जानते थे। इसी प्रकार दोनों ही दलों में मित्र, माता-पिता एवं शिक्षक भी थे और वे सब मारे गये। ऐसे महान् संहार के विषय में सोचना भी भयानक था और इसलिए उसके परिणाम स्वरूप वे लाखों और करोड़ों वर्षो तक नर्कवास की बात सोच रहे है।

[५०]

नैनो राज्ञः प्रजाभर्तुर्धर्मयुद्धे वधो द्विषाम् ।
इति मे न तु बोधाय कल्पते शासनं वचः ।।

न=कभी नही; एन:=पाप, राज्ञ:=राजा का, प्रजाभर्तु =जो नागरिकों के पालन में सलग्न है, धर्म=उचितकरण के लिये, युद्धे=युद्ध मे, वध =मारना, द्विषाम्=शत्रुओं का, इति=ये सब, मे=मेरे लिये; न=नही, तु=किन्तु; बोधाय=सन्तुष्टि के लिये; कल्पते=शासन के लिये; शासनं= शिक्षाये; वच:=वचन।

अनुवाद

जो राजा न्याय, सत्य, धर्म एवं प्रजा की रक्षा के लिए युद्ध करता है उस राजा को कोई पाप नहीं लगता है ऐसा कहा गया है। तथापि यह मेरे उपयुक्त नही है।

तात्पर्य

महाराज युधिष्ठिर ने सोचा कि यद्यपि वे उस राज्य शासन में सलग्न हैं जिसमें दुर्योधन विना नागरिक का वध किये राज्य कर रहा था। अतएव उनके द्वारा उन सब का संहार राजसिंहासन की प्राप्ति रूपी स्वार्थ के लिए माना जायगा। यह वध शासन सुव्यवस्था के अन्तर्गत नही वरन् अपनी स्वार्थपूर्ण महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए माना जायगा और इस प्रकार वह समस्त पापों के लिए स्वयं को ही उत्तरदायी मान रहे हैं।

[५१]

स्त्रीणांमद्धत बन्धूनां द्रोहो योऽसाविहोत्थितः ।
कर्मभिर्गृहमेधीयैर्नाहं कल्पो व्यपोहितुम् ।।

स्त्रीणा=स्त्रियों का, मत्=मेरे द्वारा; हत-वन्धूनाम्=मित्रगण जो मार डाले गये हैं, द्रोहः=शत्रुता, य =जो; असौ=वे सब, इह=यहाँ, उत्थित=उपस्थित है, कर्मभिः=कर्मों के द्वारा; गृहमेधीयै =वह व्यक्ति जो जगत् के कल्याण में संलग्न है; न=नही; अहं=मै; कल्पः=अपेक्षा कर सकता; व्यपोहित=वैसा न करके ।

अनुवाद

मैंने असंख्य स्त्रियो के पतियों का जो वध किया है, उसके फलस्वरूप जो मुझे पाप लगा है उसे मैं अनेकों पाप-शोधक यज्ञादिकों के द्वारा भी निष्फल करने मे असमर्थ हूँ ।

तात्पर्य

गृहमेधी वे है, जो भौतिक समृद्धि के लिए कल्याणकारी यज्ञादि कार्यों मे सलग्न रहते है । कभी-कभी यह पापकृत्यों से प्रतिरुद्ध हो जाता है तथा उसके लिए गृहमेधी को पापों का फल भोगना पडता है । अपने भौतिक कर्तव्यों का पालन करते हुए अनिच्छा से भी अगर पाप हो जाय तो भी उसका फल भोगना पडता है ऐसी पापपूर्ण प्रतिक्रियाओं से मुक्ति पाने के लिए वेद प्रायश्चित-स्वरूप यज्ञों का विधान करते है । वेदो मे यह कहा गया है कि अश्वमेध यज्ञ करके कोई भी व्यक्ति ब्रह्महत्या से भी छुटकारा पा सकता है ।

युधिष्ठिर महाराज ने अश्वमेध यज्ञ किया था, किन्तु वे सोचते है कि ऐसे यज्ञ करके भी उनके लिए उन पापों से छुटकारा पाना संभव नही है । युद्ध में पति, भाई, पिता एवं पुत्र भी युद्ध के लिए जाते है परन्तु जब वे मारे जाते है तब एक नई शत्रुता निर्मित होती है और इस प्रकार कर्म एव उसकी प्रतिक्रियाये वृद्धिंगत होते जाते है जिसका निवारण सैकड़ो अश्वमेध यज्ञो से भी सभव नही है ।

कर्म का मार्ग ही ऐसा है यह क्रिया एवं प्रतिक्रिया एक साथ उत्पन्न करता है । और इस प्रकार कर्ता को भौतिक बन्धन मे बाँधते हुए सासारिकता का एक अनन्त कालीन दुश्चक्र प्रारम्भ हो जाता है भगवद्गीता (९-२७-२८) मे इसके उपचार का वर्णन हुआ है कि कर्म के मार्ग मे ऐसी

क्रियाये एवं प्रतिक्रियाये केवल तब ही निवृत्त हो सकती है जब वे भगवत् प्रीत्यर्थ की जायँ। कुरुक्षेत्र का युद्ध वस्तुत. भगवान् श्रीकृष्ण की इच्छा से ही हुआ था। जैसे कि उनके वक्तव्य से ही प्रमाणित होता है। और उन्ही की इच्छानुसार युधिष्ठिर हस्तिनापुर की राजगद्दी पर अभिषिक्त हुए। इसलिए पाण्डवों को कोई पाप स्पर्श नही कर सकता था। क्योकि वे भगवान् के केवल आज्ञावाहक मात्र ही थे। दूसरों के लिए जो निजी स्वार्थ के लिए युद्ध घोषित करते है उन्ही पर समस्त पापों का उत्तरदायित्व होता है।

[५२]

यथा पङ्केन पङ्काम्भः सुरया वा सुराकृतम्।
भूतहत्यां तथैवैकां न यज्ञैर्मार्ष्टुमर्हति॥

यथा=जैसे; पकेन=कीचड़ द्वारा; पङ्क-अम्भ.=कीचड मिश्रित जल, सुरया=मदिरा द्वारा, वा=या, सुराकृतम्=मदिरा के तनिक स्पर्श द्वारा हुई अशुद्धता, भूतहत्यां=प्राणियो की हत्या, तथा=उसके इव=सदृश, एका=एक, न=कभी नही, यज्ञैः=सुनिश्चित यज्ञो द्वारा, मार्ष्टु=प्रतीकार, अर्हति=योग्य होना।

अनुवाद

जैसे कीचड़ से गन्दा जल स्वच्छ नही किया जा सकता तथा मदिरा पात्र की अपवित्रता मदिरा से धोकर नही मिटाई जा सकती है; वैसे ही वहुत से हिसायुक्त यज्ञों के द्वारा मनुष्य की हत्या का प्रायश्चित नही किया जा सकता।

तात्पर्य

अश्वमेध यज्ञ अथवा गोमेध यज्ञ, जिसमे घोड़े या वैलों की वलि दी जाती थी वे यज्ञ केवल उन प्राणियों की हत्या के लिए नही किये जाते थे। महाप्रभु श्रीचैतन्य ने कहा है कि ऐसे प्राणियों की यज्ञवेदी पर वलि उनके लिए नवीन जीवन में आध्यात्मिक विकास प्रदान करता है। यह वेद मन्त्रों

की गरिमा एवं उपयोगिता प्रमाणित करने के लिए था। वेद मन्त्रों का उचित् विधि से उच्चारण निश्चित ही पापों की प्रतिक्रियाओं से मुक्ति प्राप्त कराता है। परन्तु यदि ऐसे यज्ञ अविधि एव अव्यवस्था पूर्वक किये जाये तो निश्चित ही वह व्यक्ति पशु हत्या के लिए उत्तरदायी सिद्ध होगा। इस कलह एवं भयंकर पाखण्ड के कारण कलियुग में यज्ञ कार्यो के संचालन मे कुशल ब्राह्मणों का अत्यन्त अभाव है। अतः यज्ञ अपने सम्पूर्ण विधि-विधानों के साथ सम्पन्न होने की कोई सम्भावना नही। इसलिए महाराजा युधिष्ठिर कलियुग में यज्ञ के लिए कुछ सकेत कर रहे हैं। कलियुग में केवल एक ही यज्ञ की स्वीकृति प्राप्त हुई है और वह है हरिनाम-सकीर्तन-यज्ञ। जिसका उद्घाटन श्रीचैतन्य महाप्रभु के द्वारा हुआ है। किन्तु किसी भी व्यक्ति को पशुहत्या के पाप का प्रतीकार करने के लिए हरिनाम यज्ञ नही करना चाहिए। जो भगवान् के भक्त है वे कभी भी स्वार्थ के लिए प्राणी हत्या नही करते है।

भगवान् ने अर्जुन को यही आदेश दिया है कि वे व्यर्थ प्राणीहत्या मे तो चूके पर क्षत्रियो के कर्तव्य पालन करने में कभी पराङ्मुख न हों। इसलिए सम्पूर्ण कर्म जब भगवत्प्रीत्यर्थ किये जाते है तब ही सम्पूर्ण प्रयोजनों की सम्पन्नता होती है। और यह केवल भक्तों के लिए ही सम्भव है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत् प्रथम स्कन्ध अष्टम अध्याय शीर्षक "माता कुन्ती की प्रार्थना एवं परीक्षित की रक्षा" पर भक्ति वेदान्त टीका समाप्त हुई।

नवम् अध्याय

भगवान् श्रीकृष्ण की उपस्थिति में भीष्मदेव का प्राणत्याग

[१]

सूत उवाच

इति भीतः प्रजाद्रोहात्सर्वधर्मविवित्सया ।
ततो विनशनं प्रागाद् यत्र देवव्रतोऽपतत् ।।

सूत उवाच=श्री सूत गोस्वामी बोले, इति=इस प्रकार, भीत=डरकर, प्रजा-द्रोहात्=अपने सम्बन्धियों के नाश से, सर्व=सभी, धर्म=धर्मकार्य, विवित्सया=समझने के लिये, तत=उसके अनन्तर, विनशनम्=युद्धभूमि, प्रागात्=वे सब गये, यत्र=जहाँ, देवव्रत=भीष्मदेव, अपतत्=गिरे हुये थे ।

अनुवाद

श्री सूत गोस्वामी बोले, कुरुक्षेत्र के युद्ध के मैदान मे हुये अपने भाई बन्धुओ के महान् जन-सहार के परिणाम स्वरूप होने वाले पापो से भयभीत होकर धर्मराज युधिष्ठिर आत्मशान्ति के लिये भीष्मदेव के पास गये जो रणभूमि मे शरशय्या पर मरणासन्न लेटे हुए थे ।

तात्पर्य

इस नवे अध्याय मे भगवान् श्रीकृष्ण की इच्छानुसार भीष्मदेव महा-

राज युधिष्ठिर को उनके वर्ण, आश्रम एवं परिस्थिति के अनुकूल प्रजा-पालन रूप कर्तव्य के पालन का उपदेश करेंगे। भीष्मदेव अपने प्राणत्याग के अवसर पर उनका दर्शन करते हुए प्रार्थना भी करेंगे और इस प्रकार अग्रिम सासारिक बन्धनों से सदा सर्वदा के लिए मुक्त हो जाएँगे। भीष्मदेव को यह वरदान प्राप्त था, कि जब वे इच्छा करेंगे केवल तभी उनका देह-पात् होगा और इस समय शरशय्या पर शयन स्वय उनका ही चुनाव था। इस महान् योद्धा एव महान् भक्त का प्राणोत्क्रमण दृश्य अति अद्भुत था। यह एक ऐतिहासिक घटना थी। इसलिए तत्कालीन अनेक राजा एव ऋषि इस ओर आकृष्ट हुए और वे सब अपना प्रेम एव सम्मान इस महापुरुष को अर्पित करने के लिए विभिन्न दिशाओ से आकर वहाँ एकत्रित हुए।

[२]

तदा ते भ्रातरः सर्वे सदश्वैः स्वर्णभूषितैः।
अन्वगच्छन् रथैर्विप्रा व्यासधौम्यादयस्तथा॥

तदा=उस समय, ते=वे सब, भ्रातर.=भाई, सर्वे=सभी, सदश्वै=सर्वश्रेष्ठ घोड़ो द्वारा, स्वर्ण=स्वर्ण, भूपितैः=सुशोभित होकर, अन्व-गच्छन्=अनुगमन; रथै=रथ पर, विप्राः=हे ब्राह्मणो; व्यास=महर्षि व्यास, धौम्य=महर्षि धौम्य, आदयः=अन्य दूसरे; तथा=भी।

अनुवाद

उस समय उनके समस्त भ्राताओं ने स्वर्णमय आभूपणों से आभूपित घोडो से जुते हुये रथ पर सवार होकर उनका अनुगमन किया। व्यास, धौम्य (पाण्डवों के पुरोहित) आदि अनेक ऋपि महर्षि भी उनके साथ चल पड़े।

[३]

भगवानपि विप्रर्षे रथेन सधनञ्जयः।
स तैर्व्यरोचत नृपः कुवेर इव गुह्यकैः॥

भगवान्=भगवान् श्रीकृष्ण, अपि=भी, विप्रर्षे=हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ ऋषि; रथेन=रथ पर; स-धनञ्जयः=अर्जुन के साथ; स=वह, तैः=उनके द्वारा, व्यरोचत=भव्य प्रतीत हुआ, नृपः=राजा (युधिष्ठिर), कुबेर= कुबेर, देवताओ के धनाध्यक्ष; इव=सदृश; गुह्यकैः=गुह्यको के साथ।

अनुवाद

हे ब्रह्मर्षि, भगवान् श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन के साथ रथ पर विराजमान होकर उनका अनुगमन किया, इस प्रकार महाराज युधिष्ठिर समस्त राजर्षि एवं विप्रर्षियों से घिर कर वैसे ही शोभायमान हुए जैसे गुह्यको से घिरकर स्वय लोकपाल कुबेर सुशोभित होते है।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण ने चाहा कि पाण्डव भीष्मदेव के सम्मुख अति वैभवसम्पन्न रूप मे उपस्थित हों; ताकि उन्हें अन्तिम समय मे ऐश्वर्यपूर्ण देखकर वे सुखपूर्वक देह-त्याग कर सके। कुबेर देवताओं के धनाध्यक्ष है और यहाँ राजा युधिष्ठिर उन्हीं की भाँति प्रतीत हो रहे है, क्योकि साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण उनके साथ चल रहे है।

[४]

दृष्ट्वा निपतितं भूमौ दिवश्च्युतमिवामरम् ।
प्रणेमुः पाण्डवा भीष्मं सानुगाः सह चक्रिणा ॥

दृष्ट्वा=ऐसा देखकर; निपतितम्-भूमौ=रणभूमि पर, दिवः= आकाश से, च्युतम्=पतित; इव=सदृश, अमरम्=देवता, प्रणेमुः=झुक कर प्रणाम किया, पाण्डवाः=पाण्डु के पुत्र, भीष्मम्=भीष्म को, स-अनुगः =लघु भ्राताओं सहित; सह=के साथ, चक्रिणा=सुदर्शनचक्र धारण करने वाले भगवान् कृष्ण।

अनुवाद

रणभूमि में पहुँचकर उन्होने देखा मानों कोई देवता स्वर्ग से गिर

पड़ा हो इस प्रकार भीष्मदेव भूमि पर पड़े हुए है। महाराज युधिष्ठिर ने अपने समस्त भाइयो एवं भगवान् श्रीकृष्ण के साथ उन्हे झुककर प्रणाम किया।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण भी महाराज युधिष्ठिर के ममेरे भाई थे। अर्जुन के अन्तरङ्ग-सखा थे। परन्तु समस्त पाण्डव परिवार जानता था, कि वे साक्षात् भगवान् है। यद्यपि वे उनके महिमामय स्वरूप से परिचित थे; तथापि उन्होंने उनसे सामान्य सामाजिक-प्रथानुसार व्यवहार किया। और इस प्रकार उन्होने भीष्मदेव को प्रणाम किया मानो वे भी युधिष्ठिर के केवल भाइयो मे से ही एक हों।

[५]

तत्र ब्रह्मर्षयः सर्वे देवर्षयश्च सत्तम।
राजर्षयश्च तत्रासन् द्रष्टुं भरतपुङ्गवम्॥

तत्र=वहाँ, ब्रह्म-ऋषयः=ब्राह्मणों में श्रेष्ठ ऋषि, सर्वे=सब; देव-ऋषय.=देवताओं में ऋषि, च=और; तत्र=उस स्थान में; आसन्=उपस्थित थे, द्रष्टु=देखने के लिये; भरत-पुङ्गवम्=राजा भरत के वंशजों मे श्रेष्ठ।

अनुवाद

उस समय भरतवंशियों में श्रेष्ठ राजर्षि भीष्म को देखने के लिये बहुत से ब्रह्मर्षि, देवर्षि एवं राजर्षियो का समूह वहाँ पर आ उपस्थित हुआ। इस प्रकार वहाँ एक विशाल सन्त समागम का समाँ बँध गया।

तात्पर्य

ऋषि वे कहलाते है जिन्होने आध्यात्मिक उन्नति करके व्यक्तित्व की पूर्णता प्राप्त कर ली हो। आध्यात्मिक उपलब्धि प्रत्येक व्यक्तियों के द्वारा अर्जित की जा सकती है, चाहे वह राजा हो अथवा संन्यासी। भीष्मदेव

स्वयं सम्राट् भरत के वंशजों में श्रेष्ठ एक राजर्षि थे तथा वे समस्त ऋषि-गण जिनका व्यक्तित्व सत्वगुण अभिवृद्धि से परिपूत था, उस महान् योद्धा की इच्छा मृत्यु का समाचार सुनकर वहाँ आ एकत्रित हुए।

[६]

पर्वतो नारदो धौम्यो भगवान् बादरायण ।
बृहदश्वो भरद्वाजः सशिष्यो रेणुकासुतः ॥

[७]

वसिष्ठ इन्द्रप्रमदस्त्रितो गृत्समदोऽसितः ।
कक्षीवान् गौतमोऽत्रिश्च कौशिकोऽथसुदर्शन. ॥

पर्वत.=पर्वत मुनि; नारद=नारद मुनि, धौम्य.=धौम्य मुनि; भगवान्=भगवदवतार, बादरायणः=व्यासदेव, बृहदश्व.=बृहदश्व, भर-द्वाजः= भरद्वाज ऋषि; स-शिष्यः=शिष्यों के साथ, रेणुकासुत =परशुराम, वशिष्ठः=वशिष्ठ, इन्द्रप्रमदः=इन्द्रप्रमद, त्रित.=त्रित मुनि, गृत्समद =गृत्समद, असित.=असित; कक्षीवान्=कक्षीवान्; गौतम =गौतम, अत्रिः=अत्रि; कौशिकः=कौशिक, अथ=अव, सुदर्शनः=सुदर्शन।

अनुवाद

पर्वत मुनि, नारद, धौम्य, भगवदवतार व्यास, भरद्वाज एव शिष्यों सहित परशुराम, वशिष्ठ, इन्द्रप्रमद, त्रित, गृत्समद, असित, कक्षीवान्, गौतम, अत्रि, कौशिक एवं सुदर्शन आदि अनेक ऋषि महर्षि चारो दिशाओ से वहाँ आकर एकत्रित हुए।

तात्पर्य

पर्वत मुनि—एक अत्यन्त प्राचीन ऋषि माने गये है, वे प्राय नारद मुनि के साथ उनके सहचर के रूप मे बिना भौतिक-वायु-यान की सहायता के आकाश-मार्ग से विचरण करते है। पर्वत मुनि भी देवर्षि कहलाते हैं।

वे महाराज परीक्षित के पुत्र जन्मेजय के यज्ञ में नारद के साथ उपस्थित हुए थे। उक्त यज्ञ मे संसार के समस्त सर्पों की बलि दी जाने वाली थी। पर्वत मुनि एवं नारद मुनि गन्धर्व भी कहे जाते हैं। क्योंकि वे भगवान् के गुणों का गायन करते हुए वायुमण्डल में पक्षियों की भाँति उन्मुक्त गमन करते है। चूँकि वे आकाशचारी हैं; उन्होंने द्रौपदी स्वयवर का भी अवलोकन किया था। नारद मुनि की भाँति पर्वत मुनि भी इन्द्र की राजसभा में यदाकदा पहुँचते है। गन्धर्व की तरह गायन करते हुए वे कुबेर की राजसभा के अतिथि बनते है। एक बार नारद एवं पर्वत दोनों महाराज सृञ्जय के अतिथि बने। वहाँ उन्होंने चातुर्मास किया। उस समय उनकी युवती कन्या उनकी सेवा में नियुक्त की गई थी। उससे श्रीनारद का प्रेम हो गया। तथा इस प्रकार श्रीनारद के द्वारा महाराज सृञ्जय को आशीर्वाद के रूप मे एक पुत्र की प्राप्ति हुई थी।

नारद मुनि—पुराणों की गाथाओं से अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं; वे भागवत में भी वर्णित हुए है। पूर्वजन्म में वे दासीपुत्र थे परन्तु शुद्ध भक्तो के सत्संग से उनका जीवन भगवद्भक्ति के आलोक से आलोकित हो उठा। दूसरे जन्म मे वे भक्ति के परमाचार्य हुए। अपनी तुलना में वे समस्त विश्व मे एक अकेले ही हैं। महाभारत में कई स्थलों पर उनका नाम निर्दिष्ट है। वे देवर्षियों मे मुख्य तथा ब्रह्माजी के शिष्यानुपरम्परा में शिष्य एवं पुत्र दोनों हैं। तथा वे उनके द्वारा उपदिष्ट वैदिक धर्म सन्देश के श्रेष्ठ प्रसारक भी है। उन्होने प्रह्लाद महाराज, ध्रुव महाराज तथा वैदिक वाङ्मय के विभाजन-कर्ता वेदव्यास को भी भक्तिमार्ग में दीक्षित किया था। व्यासदेव से मध्वाचार्य को दीक्षा प्राप्त हुई। और मध्व-सम्प्रदाय सारे विश्व मे व्याप्त हुआ जिसमें गौड़ीय-सम्प्रदाय भी सम्मिलित है। श्रीचैतन्य महाप्रभु भी माध्व-सम्प्रदाय के अन्तर्गत माने गये हैं। इसलिए ब्रह्माजी, नारद, व्यास, मध्व, श्रीचैतन्य तथा षड् गोस्वामीगण एक ही शिष्य परम्परा के अनुगत है। नारदजी ने अनादिकाल से अब तक असंख्य राजाओं को भक्ति मार्ग मे दीक्षित किया। श्रीमद्भागवत में भी हम देख सकते है कि उन्होंने प्रह्लाद महाराज को तभी दीक्षित कर दिया था जब वे अपनी माता के गर्भ में थे। उन्होंने वसुदेव जी को भी दीक्षा दी जो श्रीकृष्ण के पिता थे। और उन्होने ही महाराज युधिष्ठिर को भी दीक्षा दी थी।

धौम्य—एक महान् ऋषि थे। उन्होने उत्कोचक तीर्थ मे तीव्र

तपस्या की थी। कालान्तर मे वे पाण्डव राजाओ के पुरोहित बने। उन्होने पाण्डवो के अनेक धार्मिक समारोहो मे पौरोहित्य का कार्य सम्पन्न किया। वे पाण्डवो को द्रौपदी सगाई के अवसर पर भी अकस्मात् आ प्राप्त हुए। पाण्डवो के वनवास काल में भी वे उनके साथ बने रहे। तथा जब पाण्डव निराश हो जाते, उदास हो जाते तब वे समस्त परिस्थितियो मे अनेक शास्त्र कथाओ के उदाहरण के द्वारा उपदेश करते हुए उन्हे सान्त्वना प्रदान करते थे, उन्हे जीवन मे आशा एव उत्साह की नयी किरण दिखलाते थे। उनका नाम महाभारत के अनुशासन पर्व मे भी वर्णित है, जिसमें दुर्योधनादि कौरवों की मृत्यु के अनन्तर वे मृतक सस्कार क्रिया सम्पन्न कराने के लिए जा रहे थे। वे सदा महाराज युधिष्ठिर को शिक्षाएं देते रहे। वे एक गृहस्थ के अनुरूप सर्वथा एक महान् पुरोहित थे। उन्होने पाण्डवों को धर्म मार्ग पर अति उत्तम रूप से मार्ग दर्शन किया। एक पुरोहित को गृहस्थो को आश्रमधर्म एवं वर्णधर्म के पथ पर अत्यन्त सावधानी पूर्वक सचालित करना चाहिए। आध्यात्मिक गुरु एव पुरोहित मे कोई अन्तर नही है। ऋषि ब्राह्मण प्राय इस पद के अधिकारी होते थे। तथा गृहस्थों से समस्त धर्म क्रियाएं सम्पन्न कराते थे। बादरायण व्यासदेव कृष्ण-द्वैपायन, व्यास, पाराशर्य या पराशरात्मज वेद-व्यास आदि अनेक नामों से जाने जाते है। वे महाराज शान्तनु से अपनी माता सत्यवती की सगाई होने के पूर्व ही महामुनि पराशर के द्वारा उनके गर्भ से उत्पन्न हुए थे। वे नारायण के शक्ति सम्पन्न अवतार है। इस अवतार में उन्होने ससार में वैदिक-ज्ञान को सामान्य जनता के समझने योग्य बनाया। अतएव जब कोई वैदिक वाङ्मय विशेषकर पुराणों का स्वाध्याय करता है तब वह उनके प्रति नियमित रूप से अभ्यर्थना अर्पित करता है। श्रीशुकदेव गोस्वामी उनके पुत्र थे एवं वैशम्पायन आदि ऋषि वेद की विभिन्न शाखाओं मे पारङ्गत उनके शिष्य थे। श्रीव्यासदेव ही महाभारत, महाकाव्य के लेखक है तथा श्रीमद्भागवत महापुराण के भी वे ही लेखक है। ब्रह्मसूत्र या वेदान्तसूत्र या बादरायण सूत्र भी उन्ही के द्वारा सकलित है। वे एक कठोर तपस्वी के रूप में तपस्वियो के समाज द्वारा महा सम्मानित है। जब कलियुग की जनता के कल्याण के लिए उन्होने महाभारत महाकाव्य का निर्माण करना चाहा तब उन्होने अतुल लेखन शक्ति-सम्पन्न लेखक की आवश्यकता अनुभव की। ब्रह्माजी के आदेश से श्रीगणेश जी ने यह कार्य अपने हाथों मे लिया, किन्तु एक शर्त रखी कि वे लेखन कार्य के मध्य मे एक क्षण के लिए भी न रुके।

तब व्यासदेव ने उनसे कहा कि आप प्रत्येक श्लोक भलीभाँति समझकर ही लिखे। और इस प्रकार व्यासदेव को जब भी विचार करना होता तो वे एक गूढ श्लोक की रचना कर देते, जिस पर गणेश जी को समझने मे कुछ समय लग जाता और उस समय का सदुपयोग व्यासदेव अग्रिम वार्ता स्मरण अग्रिम घटनाओं पर श्लोक रचना करने में किया करते थे। इस प्रकार महाभारत की सरचना श्रीव्यास एवं श्रीगणेश के सम्मिलित प्रयासो से हुई। अपनी माता सत्यवती की आज्ञा से एव भीष्मदेव की प्रार्थना से उन्होने उनकी पुत्र-वधुओं को तीन पुत्र प्रदान किये; जिनके नाम धृतराष्ट्र, पाण्डु एव विदुर है। महाभारत काव्य का सकलन महाभारत युद्ध के पश्चात् उसमे भाग लेने वाले सम्पूर्ण वीरो की मृत्यु के पश्चात् हुआ। सर्व प्रथम यह महाराज परीक्षित के पुत्र महाराज जन्मेजय की सभा मे गाया गया था।

बृहद्दश्व—ये प्राचीन सन्त यदा कदा महाराज युधिष्ठिर से मिलते रहते थे। सर्वप्रथम वे महाराज युधिष्ठिर से काम्यवन में मिले थे। उस समय इन्होंने उन्हें उन्ही की भाँति द्यूत क्रीड़ा के कारण विपत्ति मे पड़े हुए राजा नल की कथा सुनाई थी।

भरद्वाज—सप्त ऋषियो में से एक है तथा अर्जुन के जन्मोत्सव के समय उपस्थित थे। ये शक्ति सम्पन्न ऋषि कभी कभी गंगातट पर कठोर तपस्या करते थे। एक बार स्वर्गलोक मे निवास करने वाली घृताची नामक अप्सरा से उनका समागम हो गया, उससे उनके वीर्य से द्रोणाचार्य की उत्पत्ति हुई। इसलिये द्रोणाचार्य भरद्वाज ऋषि के पुत्र है।

परशुराम—महर्षि जमदग्नि एव श्रीमती रेणुका के पुत्र है। वे भगवान् के अतुल शक्ति सम्पन्न अवतार है। उन्होने २१ बार जगत के सम्पूर्ण क्षत्रियो का सहार किया। कुरुक्षेत्र मे उनके रक्त से भरे कुड मे ही उन्होने पितृ तर्पण किया। तदनन्तर वे तपस्या करने मन्दराचल पर्वत पर चले गये। क्षत्रियो से सम्पूर्ण पृथ्वी का राज्य छीन कर उन्होने कश्यप मुनि को दान कर दिया। उन्होने द्रोणाचार्य की द्विजोचित नियमनिष्ठता पर प्रसन्न होकर उन्हे धनुर्विद्या की शिक्षा दी। उन्होने महाराज युधिष्ठिर के राजतिलक महोत्सव मे बहुत से ऋषियों के साथ उपस्थित होकर उन्हे आशीर्वाद प्रदान किया था।

परशुराम की आयु इतनी अधिक है कि उन्होने भगवान् श्रीराम एवं भगवान् श्रीकृष्ण दोनो से विभिन्न अवसरों पर साक्षात्कार किया।

एक बार उन्होने भगवान् श्रीराम के विरुद्ध वाक्-संघर्ष छेड दिया। निश्चित् ही उसमे वे पराजित हुए, परन्तु श्रीकृष्ण को उन्होने स्वत. स्वयमेव साक्षात् भगवान् स्वीकार किया। उन्होंने अर्जुन की भी प्रार्थना की, जब उन्होने देखा कि वे श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त तथा अन्तरङ्ग सखा है। जब भीष्म ने अम्बा से विवाह करना अस्वीकार कर दिया, तब वह परशुराम से मिली, और प्रार्थना की कि वे भीष्मदेव को आज्ञा करे कि उन्हें पत्नी की भाँति वे स्वीकार कर ले। किन्तु भीष्मदेव ने परशुराम की आज्ञा मानने से अस्वीकार कर दिया। यद्यपि वे उनके गुरु थे, किन्तु बाल्यकाल मे ही भीष्म ने आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत ले रखा था। परशुराम ने तब भीष्म पितामह को युद्ध की चुनौती दी। किन्तु भीष्म पितामह चूँकि अपने पिता से ब्रह्मचर्य व्रत की अखण्डता के लिये वचनबद्ध थे अतएव उन्होंने परशुराम के विरुद्ध, अपने गुरुदेव के विरुद्ध लोहा लिया। दोनों के मध्य घोर युद्ध हुआ और अन्त मे परशुराम भीष्म से बहुत सन्तुष्ट हुये। उन्हे वर दिया कि वे ससार के एक महान्तम योद्धा बने।

वशिष्ठ—ब्राह्मणों में एक अन्यतम महान् ऋषि हुये। वे ब्रह्मर्षि वशिष्ठदेव के रूप में सर्वत. प्रसिद्ध है। वे रामायण एवं महाभारत काल के उच्चातिउच्च ऋषियों एव मुनिजनों से सम्मानित व्यक्तित्व हुये। उन्होने भगवान् श्रीराम से अनेक महान् यज्ञ करवाये। जब कुरुक्षेत्र मे महाभारत का भीषण युद्ध हो रहा था, तब भी वे वहाँ आ उपस्थित हुये। वे उच्च एव निम्न सम्पूर्ण लोकों में अबाध गति से यात्रा करते है। उनका नाम हिरण्यकशिपु के इतिहास से भी सम्बद्ध है। उनके एव राजा विश्वामित्र के मध्य कभी बहुत बड़ा तनाव आ उपस्थित हुआ था। राजा विश्वामित्र वशिष्ठाश्रम की कामधेनु को अधिकृत करना चाहते थे। वशिष्ठ मुनि ने उन्हे कामधेनु का अधिकारी नही समझा और इसलिये विश्वामित्र ने अत्यन्त कुपित होकर उनके सौ पुत्रों का वध कर डाला। एक सच्चे ब्राह्मण के सम्पूर्ण गुणो से सम्पन्न वशिष्ठदेव ने विश्वामित्र के इन अत्याचारों को क्षमा कर दिया। एक बार वे विश्वामित्र के अत्याचारों से उत्पीड़ित होकर आत्महत्या करने का प्रयत्न करने लगे थे, किन्तु उनके प्रयास असफल रहे। वे पर्वत से कूदे परन्तु वह प्रस्तर जिस पर वे कूदे वह कपास की भाँति अत्यन्त मृदुल हो गया और वे बच गये। वे सागर मे कूदे किन्तु लहरो ने उन्हे अपनी गोद मे लेकर पुनः तट पर रख दिया, वे नदी मे कूदे परन्तु नदी ने उन्हे स्नान कराकर पुनः तट पर रख दिया। इस प्रकार उनके आत्म-

हत्या के प्रयास असफल रहे आये। वे अरुन्धती के पति है। अद्यावधि वे सप्त ऋषियो मे एक अति सम्मानित महर्षि के के रूप में आकाश मण्डल में ध्रुवलोक की परिक्रमा करते हुए पाये जाते है।

इन्द्र प्रमद—एक अति सम्मानित ऋषि थे।

त्रित—प्रजापति गौतम के पुत्रों मे से ये तीसरे पुत्र थे और उनके अन्य दो भाई एकत एव द्वित के नाम से प्रसिद्ध है। तीनों भाई महान् सन्त एव वैदिक धर्म के सिद्धान्तो के प्रवल अनुयायी हुए। तीव्र तपस्या से उन्होने ब्रह्मलोक की प्राप्ति की। एक बार त्रित मुनि कुयें मे गिर पड़े। वे अनेक यज्ञों के सचालक हुये और जब भीष्मदेव मृत्यु शय्या पर शयन कर रहे थे। तो वे उन्हे एक महान् सन्त की भाति स्वागत अर्पित करने के लिए वहाँ पधारे। वे वरुणलोक के सात ऋषियों मे से एक अन्यतम ऋषि है। वे पाश्चात्य जगत् मे भी अति सम्मानित है। और ऐसा कहा जाता है कि उन्होने अपने जीवन का अधिकतम समय यूरोपीय देशों में व्यतीत किया। उस समय सारा जगत् वैदिक सस्कृति का अनुयायी था।

गृत्समद—स्वर्गीय ऋषियों में से एक अन्यतम ऋषि है। स्वर्ग के राजा इन्द्र के अन्तरङ्ग मित्र है। वे बृहस्पति की भाँति महान् प्रतिभा सम्पन्न ऋषि है। वे कभी-कभी महाराज युधिष्ठिर की राजसभा मे पधारते थे। अन्त समय मे जब भीष्मदेव अपनी अन्तिम घड़ियाँ व्यतीत कर रहे थे। उस क्षण उनका ऐतिहासिक महाप्रयाण देखने के लिये वे भी पधारे थे। कभी-कभी वे महाराज युधिष्ठिर के समक्ष भगवान् शिव की लीलाओं का गान करते। वे महर्षि वीतहव्य के पुत्र थे तथा बाह्य शरीर से इन्द्र की भाँति प्रतीत होते थे। कभी-कभी इन्द्र के शत्रु उन्हें इन्द्र समझ कर कैद कर लेते और जब वे जानते कि ये तो इन्द्र नही ऋषि है तो क्षमा माँगकर उन्हे मुक्त करते। वे ऋग्वेद के धुरन्धर विद्वान् थे। और इस प्रकार ब्राह्मण समाज मे एक अत्यन्त महान् सम्मान का पद प्राप्त किया था। वे आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर अवस्थित रहे। सम्पूर्ण दृष्टियों से वे अत्यन्त शक्तिशाली थे।

असित—इसी नाम के एक राजा भी हुए परन्तु यहाँ जो असित ऋषि वर्णित हुये है वे देवल-पुत्र असित है। ये उस काल के एक महान् आध्यात्मिक प्रतिभा सम्पन्न ऋषि हुये। इन्होने अपने पिता को पद्रह लाख श्लोकों में महाभारत की कथा सुनाई। वे जनमेजय महाराज के सर्पयज्ञ में

आमन्त्रित अनेक ऋत्विजों में मे एक अन्यतम थे। वे महाराज युधिष्ठिर के यज्ञ के समय अनेक ऋषियों के साथ उपस्थित हुये थे। महाराज युधिष्ठिर को उन्होने अति उत्तम शिक्षाएँ दी थी, जब वे अञ्जन पर्वत पर निवास करते थे। भगवान शिव के एक अत्यन्त गहरे भक्त थे।

कक्षीवान्—ये श्री गौतम ऋषि के पुत्र थे तथा चण्डकौशिक ऋषि के पिता थे। ये महाराज युधिष्ठिर के संसद सभा के सदस्य थे।

अत्रि—ये एक महान् मुनि हुये जो ब्रह्मा जी के मानस पुत्र कहे जाते हैं। ब्रह्मा इतने अधिक सिद्ध सकल्प है कि वे सकल्प मात्र से पुत्र उत्पन्न करते है। ये पुत्र मानस पुत्र कहे जाते है। सात मानस पुत्रो में अत्रि एक हैं। अत्रि मुनि के दो पुत्र हुये। जो महान् विश्व के शासक हुये। उनमें से एक का नाम अर्थम्ा था। वे इक्कीस प्रजापतियों में से एक माने जाते है। महर्षि अत्रि की पत्नी का नाम अनुसूयादेवी था। उन्होने महाराज परीक्षित को उनके महायज्ञ में भगवान् की शुद्ध भक्ति का आशीर्वाद दिया था।

कौशिक—महाराज युधिष्ठिर के संसद सभा के एक प्रतिभा सम्पन्न महान् ऋषि थे। कभी-कभी भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शनार्थ द्वारका पधारते थे। इस नाम के अन्य कई ऋषि पुराणों मे पाये जाते है।

सुदर्शन—भगवान् कृष्ण अथवा भगवान् विष्णु के करकमलो की तर्जनी अँगुली में जो प्रखर तेज सम्पन्न एक चक्र देदीप्यमान ज्वाला माला से आवृत दृष्टिगोचर होता है वे यही सुदर्शन चक्र है। ये इतने शक्तिशाली अस्त्र हैं, जो ब्रह्मास्त्र से भी अधिक शक्तिशाली तथा अति भयानक है। वैदिक साहित्यों में अग्निदेव ने भगवान् श्रीकृष्ण को इसे समर्पित किया था। परन्तु वास्तव मे यह अस्त्र नित्य अनादिकाल से भगवान् के कर-कमलों मे सुशोभित होता रहता है, अग्निदेव ने इसे भगवान् को अर्पित किया। यह माना जा सकता है किन्तु उसी भाँति जैसे महाराज भीष्मक ने रुक्मिणीदेवी को भगवान् श्रीकृष्ण को समर्पित किया तथा भगवान् ने अपने भक्त का उपहार स्वीकार किया। यद्यपि यह प्रस्तुति, यह उपहार, उपहार नहीं था। यह तो उनकी अपनी सम्पत्ति थी। नित्य निरन्तर उनके साथ वनी रहने वाली उनकी जीवन सङ्गिनी लक्ष्मी सी रुक्मिणी के रूप में प्रगट हुई थी। इसी भाँति सुदर्शन भी भगवान् का नित्य अनादिकालीन अस्त्र है। ये उनके ही साथ रहते हैं। इसका विशिष्ट वर्णन महाभारत के आदि पर्व में प्राप्त होता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने इस अस्त्र का उपयोग शिशुपाल वध के लिये किया

था। शाल्व को भी उन्होंने इसी से समाप्त किया था। कभी-कभी भगवान् श्रीकृष्ण अपने सखा अर्जुन के द्वारा प्रतिपक्षी योद्धाओ के सहार के लिये इस अस्त्र का प्रयोग कराते है। (महाभारत विराट पर्व ५६, ३)

[८]

अन्ये च मुनयो ब्रह्मन् ब्रह्मरातादयोऽमलाः।
शिष्यैरुपेता आजग्मुः कश्यपाङ्गिरसादयः।

अन्ये=अन्य बहुत से; च=भी; मुनयः=मुनिगण, ब्रह्मन्=हे ब्राह्मणो; ब्रह्म रात्=श्री शुकदेव गोस्वामी; आदयः=आदि-आदि, अमलाः =सर्वथा विशुद्ध, शिष्यैः=शिष्यों, उपेता.=के साथ मिलकर, आजग्मुः= आ पहुँचे; कश्यपः=कश्यप; आङ्गिरस=आङ्गिरस, आदयः=आदि।

अनुवाद

श्री शुकदेव गोस्वामी की भाँति अन्य अनेक महान् विशुद्धान्त करण महात्मा कश्यप एवं अङ्गिरा आदि सब अपने-अपने शिष्यों से घिरे हुए वहाँ पर पधारे।

तात्पर्य

शुकदेव गोस्वामी (ब्रह्मरात्)—ये श्री व्यासदेव के पुत्र एवं शिष्य है। श्री व्यासदेव ने ही इन्हें श्रीमद्भागवत एवं महाभारत की शिक्षा दी। श्री शुकदेव गोस्वामी ने गन्धर्वों की सभा में १४,००,००० श्लोको मे महाभारत काव्य का गान किया था। यक्ष-राक्षस भी वहाँ पर उपस्थित थे। तथा श्रीमद्भागवत का सर्व प्रथम प्रगान महाराज परीक्षित की सन्तसभा में उन्होने ही किया। उन्होने वैदिक वाङ्मय का अपने पिता श्री व्यासदेव से यथावत् अध्ययन किया और इस प्रकार धर्म के महान् सिद्धान्तों को अवगत कर उन्हें जीवन में उतार कर एक परम शुद्धान्त'करण, विशुद्धान्तरात्मा महात्मा हो गये। महाभारत के सभा पर्व (४-११) से यह भलीभाँति समझा जा सकता है। ये महाराज युधिष्ठिर की राज्य सभा मे यदा-कदा भी पधारते थे। तथा जब महाराज परीक्षित उपवास कर रहे थे। गंगातट पर

प्रायोपवेशन करते हुए बैठे थे; उस अवसर पर भी ये उन्हे कृतार्थ करने के लिये पधारे थे। तथा महर्षि व्यासदेव के एक अत्यन्त कृपापात्र-प्रामाणिक शिष्य के रूप में उन्होने अपने पिता से समस्त धर्म के गुप्त रहस्यों पर जिज्ञासाये की तथा उनके पिता ने भी गूढरहस्यमय तत्वों का उपदेश किया एव वस्तुतत्व का साक्षात्कार कराकर उन्हें सदा-सदा के लिये परम सन्तुष्ट नित्य तृप्त कर दिया। वेदव्यास ने अपने इन सुयोग्य पुत्र को सकाम कर्मो एव अद्वय तत्व के गूढ़ विज्ञान का दिग्दर्शन कराया तथा अध्यात्म के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्वो पर प्रकाश डाला। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास आदि चारों आश्रमों का विशद वर्णन एवं समस्त धर्मों का परित्याग एव भगवान् के चरणो मे शरण ग्रहण का क्षण तथा उन क्षणों की समग्र जीवन मे व्याप्ति एवं उसकी उपलब्धि का विस्तृत रूप से वर्णन किया। तथा भगवान् को नेत्र से नेत्र मिला कर साक्षात् दर्शन करने की विधि पर भी प्रकाश डाला। उन्होने अपने इन प्रिय पुत्र को पाँच तत्वो तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहकार, प्रकृति तथा जीव की विशिष्टता तथा आत्म प्राप्ति तथा भगवत् प्राप्ति के गूढ रहस्यो का दिग्दर्शन कराया, भौतिक शरीर एव त्रिगुणात्मिका प्रकृति के लक्षणो का वर्णन किया। विचार वृक्ष की अनन्त शाखाओ का, कर्म की अनेक शाखा-प्रशाखाओं का भी वर्णन किया, कभी-कभी श्रीशुकदेव गोस्वामी अपने पिता तथा श्री नारदमुनि की आज्ञा से सूर्यलोक की यात्रा करते थे। उनकी इन यात्राओं का वर्णन शान्तिपर्व महाभारत के तीन सौ तैंतीस वे अध्याय मे भलीभाँति वर्णित है। अन्त में उन्होने भगवद्धाम की प्राप्ति की। वे आरणेय, अरुणिसुत, वैयासकि, व्यासात्मज इत्यादि अनेक नामो से प्रसिद्ध है।

कश्यप—ये एक प्रजापति है तथा महर्षि मरीचि के पुत्र हैं। प्रजापति दक्ष के जामाताओं मे से एक है। वे महान् बलशाली पक्षिराज गरुड के पिता हैं, जो हाथियों एवं विशालकाय कछुओ को भी अपना आहार बना लिया करते है। उन्होंने प्रजापति दक्ष की तेरह कन्याओ से विवाह किया उनके नाम हैं अदिति, दिति, देनु, केल, दनयु सिहका, क्रोधा, प्रधा. विश्वा-विनता, कपिला, मुनि, एवं कद्रु। उन्होने इन समस्त पत्निओं मे अनेक पुत्र भी प्राप्त किये। वे देवता भी हुए तथा दैत्य भी। प्रथम पत्नी अदिति से द्वादश आदित्यों का जन्म हुआ जिनमें से एक वामन थे। वे साक्षात् भगवान् के अवतार थे। ये महान् ऋषि, अर्जुन के जन्म काल में भी उपस्थित थे, उन्होंने परशुराम से यज्ञ कराया तथा उपहार के रूप मे

दक्षिणा के रूप मे समग्र जगत का राज्य प्राप्त किया और अन्त मे परशुराम के वीभत्स कार्यो को देखकर उन्होने जनता के कल्याणार्थ उन्हे पृथ्वी मण्डल के अपने राज्य से बाहर चले जाने का आदेश किया। उनका नाम अरिष्ट-नेमि भी है। उनका निवास उत्तरी ध्रुव के आसपास कही है।

आङ्गिरस–ये महर्षि अङ्गिरा के पुत्र है एव बृहस्पति के नाम से जाने जाते है। ये देवताओं के गुरु है। तथा यह कहा जाता है कि द्रोणाचार्य उनके अंशावतार थे। दैत्यो के गुरु शुक्राचार्य थे और बृहस्पति ने उन्हें चुनौती दी थी। उनके पुत्र का नाम कच है। एक बार उन्होने भरद्वाज मुनि पर आग्न्यास्त्र निक्षिप्त किया था। उन्होने अपनी पत्नी चन्द्रमसि से अग्नि की भाँति छः पुत्र प्राप्त किये उनकी पत्नी चन्द्रमसि अद्यावधि एक प्रकाशवान् तारा के रूप में आकाश में अवस्थित हैं। ये महर्षि अकाशचारी है और इस प्रकार वे ब्रह्मलोक, इन्द्रलोक, जनलोक, तपलोक, अतल, वितल, तला-तल आदि समस्त लोकों मे अवाधगति से विचरण करते हैं। वे कही भी उपस्थित हो जाते है। वे इन्द्र को कभी-कभी दानवों पर विजय प्राप्ति के सूत्रों पर उपदेश देते है। एक बार उन्होंने किसी अपराध पर इन्द्र को शाप दे दिया। और इन्द्र उनके शापवश पृथ्वी पर शूकर हो गये तब वे अपने उस शरीर से इतने अधिक आसक्त, आवद्ध हो गये। माया में इतने अधिक फँस-गये कि उन्हे याद दिलाये जाने पर भी उन्होने स्वर्ग आने से अस्वीकार कर दिया। उन्हें अपनी शूकर पत्नी एवं शूकर बच्चों में वड़ा आनन्द आ रहा था भगवान् की भ्रामिका शक्ति की ऐसी ही विचित्र क्रीडाएँ हैं। शूकर भी स्वर्गीय राज्यों के मूल्य पर अपने तुच्छ एवं घृणित सुखों का त्याग करने की इच्छा नही करता। ये महर्षि आङ्गिरस विभिन्न लोकों के निवासियो के धर्मगुरु भी है।

[६]

तान् समेतान् महाभागानुपलभ्य वसूत्तमः।
पूजयामासधर्मज्ञो देशकाल विभागवित् ॥

तान्=वे समस्त; समेतान्=एकत्रित हुए; महा-भागान्=महा-प्रतिभा सम्पन्न, उपलभ्य=प्राप्तकर, वसूत्तम.=वसुश्रेष्ठ (भीष्मदेव), पूज-यामास=स्वागत किया; धर्मज्ञः=धर्म सिद्धान्तों के पूर्ण ज्ञाता, देश=स्थान,

काल=समय, विभाग-विन्=देश कालानुसार व्यवस्थाओं के मर्मज्ञ।

अनुवाद

आठ वसुओं में सर्वश्रेष्ठ भीष्मदेव ने वहाँ आये हुए आध्यात्मिक शक्ति सम्पन्न समस्त महान् ऋषियों का स्वागत किया। वे देशकाल के अनुसार धर्म के सिद्धान्तों को भलीभाँति जानते थे अतः निश्चित ही उनका स्वागत उनके ही अनुरूप था।

तात्पर्य

कुशल धर्मज्ञ देशकाल के अनुसार धर्म सिद्धान्तों को व्यवस्थित करना जानते हैं। समस्त महान् धर्म प्रचारक एवं विश्व सुधारकों ने देश-काल के अनुसार धर्म सिद्धान्तों को प्रस्तुत करना ही अपना उद्देश्य बनाया था। संसार में विभिन्न जलवायु एवं परिस्थितियों से युक्त अनेक देश है। और यदि कोई भगवत्सन्देश रूपी अपने परम कर्तव्य का पालन करना चाहता है, तो उसे अवश्य ही देशकालानुसार धर्म को प्रस्तुत करने मे कुशल होना चाहिए। भीष्मदेव भक्ति के द्वादश परम भागवतों मे से एक थे और इसलिए वे संसार के समस्त क्षेत्रों से आये हुए ऋषि महर्षियों एवं राजाओं के स्वागत योग्य थे। यद्यपि वे शारीरिक दृष्टि से उनके स्वागत मे असमर्थ थे तथापि उनकी मनोदशा अति स्वस्थ्य थी। और मधुर शब्दो मे वे उनके प्रति अपने भावों को प्रकट कर सकते थे। और इस प्रकार वे जानते थे कि उचित स्थल पर उनका उपयोग कैसे किया जाता है इसलिए उनके स्वागत मे उन्हे कोई कष्ट न हुआ।

[१०]

कृष्णं च तत्प्रभावज्ञ आसीनं जगदीश्वरम्।
हृदिस्थं पूजयामास माययोपात्तविग्रहम्॥

कृष्ण=भगवान् श्रीकृष्ण को; च=भी; तत्=उनका; प्रभाव-ज्ञः=महिमाओं के ज्ञाता; आसीनम्=बैठे हुए; जगत्-ईश्वरम्=समस्त संसार के स्वामी, हृदि-स्थं=हृदय में विराजमान; पूजयामास=पूजन किया,

मायया=अन्तरङ्गा शक्ति के द्वारा; उपात्त=निर्मित होकर, विग्रहम्=स्वरूप।

अनुवाद

भगवान् श्रीकृष्ण प्रत्येक प्राणधारी के हृदय मे विराजमान हैं तथापि वे अपनी अन्तरङ्गा शक्ति से अपना दिव्य रूप भी प्रकट करते हैं। वे साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण भीष्मदेव के सम्मुख बैठे हुए थे। चूँकि भीष्म उनकी समस्त महिमाओ से अवगत थे, उन्होने हृदय मे ही उन महाप्रभु की पूजा की।

तात्पर्य

भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता यही है कि वे अपने नित्य धाम गोलोक वृन्दावन में निवास करते हुए भी सर्वत्र विद्यमान है तथापि वे समस्त प्राणियो के हृदय में भी अवस्थित है और अदृश्य अणु के भीतर भी विद्यमान है। जब वे भौतिक जगत् मे अपना नित्य अप्राकृत दिव्य रूप प्रकट करते हैं तब ऐसा वे अपनी अन्तरङ्गा शक्ति के माध्यम से ही करते है। बहिरङ्गा शक्ति अथवा भौतिक ऊर्जा का इस अन्तरङ्गा शक्ति से कोई सम्बन्ध नही है। ये समस्त तथ्य भीष्मदेव को अवगत थे। तथा उसी के अनुसार उन्होने उनकी पूजा की।

[११]

पाण्डुपुत्रानुपासीनान् प्रश्रयप्रेमसङ्गतान्।
अभ्याचष्टानुरागाश्रैरन्धीभूतेन चक्षुषा॥

पाण्डु=महाराज युधिष्ठिर आदि पाण्डवों के पिता; पुत्रान्=पुत्रों; उपासीनान्=समीप शान्त बैठे हुए, प्रसाद्य=अद्भुत; प्रेम=प्रेम; सङ्गतान् =एकत्रित होकर, अभ्याचष्ट=स्वागत किया, अनुराग=मृदुल भावनाएँ; अश्रैः=आनन्दाश्रु; अन्धीभूतेन=प्रेमाश्रु से आर्द्र; चक्षुषा=नेत्रों द्वारा।

अनुवाद

महाराज पाण्डु के समस्त पुत्र अपने प्यारे पितामह की मरणासन्न अवस्था पर अत्यन्त शोक-युक्त प्रेम से अभिभूत होकर उनके समीप ही शान्ति एव गम्भीरता पूर्वक जा बैठे। भीष्मदेव ने उन्हे देखकर भावपूर्ण हृदय से उनका स्वागत किया। उस समय उनके नेत्रों मे आनन्दाश्रु उमड़ आये। उनका हृदय प्रेम एव स्नेह से आर्द्र हो उठा।

तात्पर्य

जब महाराज पाण्डु की मृत्यु हुई तो उनके बालक बहुत छोटे थे। और स्वाभाविक ही परिस्थितिवश वे अपने वयोवृद्ध पितामहों के द्वारा रक्षित हुए थे। विशेषकर भीष्मदेव के सरक्षण में उनका पालन पोषण हुआ था। तत्पश्चात् पाण्डव बड़े हुए, एव दुर्योधन तथा उनके दलो के द्वारा विभिन्न प्रकार से सताये जाने लगे। भीष्मदेव यद्यपि यह जानते थे कि पाण्डव निर्दोष है, वे अनावश्यक व्यर्थ ही पीड़ित किये जा रहे है। तथापि वे कुछ राजनैतिक कारणो से पाण्डवों का पक्ष न ग्रहण कर सके। जीवन के अन्तिम पहलू में जब भीष्मदेव ने देखा कि महाराज युधिष्ठिर एव उनके अत्यन्त सम्मान्य परम प्रिय पौत्र शान्ति पूर्वक चारों ओर बैठे हुए हैं। अत्यन्त करुणा उनके नेत्रों एवं हृदय में छा रही है। वे देख रहे हैं उनकी ओर तब महान् योद्धा भीष्म अपना हृदय संवरण न कर सके। प्रेमाश्रु बह चले। स्वाभाविक रूप से उनके अश्रु बह चले थे। वे अपने पौत्रो की उन महान् पीडाओं का स्मरण करने लगे थे। कुछ क्षणों के पश्चात् अत्यन्त सन्तुष्ट एवं प्रसन्न भी हो गये, क्योकि वे जान गए कि अब वे राज्याभिषिक्त हो गये है। भगवान् श्रीकृष्ण ने विपत्तियों से पग-पग पर उनकी रक्षा की। और अब अन्त में उन्होंने उन्हें राजगद्दी पर भी बैठा दिया था। तथा अन्याय एवं अधर्म का मूर्त रूप दुर्योधन अपने समस्त दुष्ट साथियो के साथ मारा गया। तो अब वे इस प्रकार उनका स्वागत करते हुए बोले।

[१२]

अहो कष्टमहोऽन्याय्यं यद्यूयं धर्मनन्दनाः।
जीवितुं नार्हथ क्लिष्टं विप्रधर्माच्युताश्रयाः॥

अहो=ओह; कष्टम्=कितना कष्ट है; अहो=ओह, अन्याय्यम्=कितना भयङ्कर अन्याय है, यत्=जो, यूयम्=तुम सव, धर्म-नन्दना:=साक्षात् धर्म के पुत्रो, जीवितुम्=जीवित रहने के लिए; न=कभी नही, अर्हथ=योग्य हुआ; क्लिष्टम्=दुखी होने को; विप्र=ब्राह्मण, धर्म=दया, अच्युत=भगवान्; आश्रय:=रक्षित हुआ।

अनुवाद

भीष्मदेव बोले, ओह ! महान् दु.ख है, महान् अन्याय है, तुम निरपराध, निर्दोष बालकों पर। पुत्रो ! तुम लोग उन भीषण कष्टों से बच नही सकते थे। उनका कोई निवारण नही था। तथापि निश्चित ही तुम पर ब्राह्मणों की, भगवान् की, एवं धर्म की कृपा है, इसीलिए तुम लोग सकुशल बच गये हो।

तात्पर्य

महाराज युधिष्ठिर कुरुक्षेत्र के महाभारत युद्ध के कारण उद्विग्न हो गये थे। भीष्मदेव इसे समझते थे और इसलिए उन्होने सर्व प्रथम महाराज युधिष्ठिर के भयकर दुख की चर्चा की और कहा कि अन्याय पूर्वक ही वे महा कष्ट मे डाले गये थे। तथा महाभारत का युद्ध इस अन्याय का प्रतीकार था। इसलिए वे इस युद्ध पर शोकातुर न हों। वे विशेष रूप से यह चाहते थे कि ब्राह्मणों के द्वारा वे सदा सुरक्षित रहें। भगवान् एवं धर्म निरन्तर उनकी सहायता करते रहे। जब तक मनुष्य प्राणी इन तीन तत्वो के द्वारा सहायता प्राप्त है, तब तक उन्हें उद्विग्न होने का कोई अवसर नही, कोई कारण नही है। इसप्रकार भीष्मदेवने महाराज युधिष्ठिरको विषण्णता का त्याग करने की प्रेरणा दी। जब तक भगवान् की इच्छा से वह सहायता प्राप्त कर रहा है, ब्राह्मणों का मार्ग दर्शन उसे प्राप्त हो रहा है। वैष्णवोचित-धर्म-सिद्धान्तों का पालन वह कर रहा है तब तक विषण्णता का, निराशा का कोई कारण नही है। इस प्रकार भीष्मदेव ने पाण्डवों पर दयार्द्र होकर उनका शोक मिटाने का प्रयास किया।

[१३]

संस्थितेऽतिरथे पाण्डौ पृथा बालप्रजा वधूः।
युष्मत्कृते वहून् क्लेशान् प्राप्ता तोकवती मुहुः॥

सम्थिते=मृत्यु के अनन्तर, अतिरथे=महान् योद्धा का, पाण्डौ=पाण्डु का, पृथा=कुन्ती, बाल-प्रजा=बच्चों की माँ, वधू=पुत्रवधू, युष्मत्-कृते=तुम्हारे लिए भी, बहून्=बहुत से, क्लेशान्=क्लेश, प्राप्ता=प्राप्त हुए, तोकवती=पुत्रों के वय. प्राप्त होने पर भी, मुहु=निरन्तर।

अनुवाद

मेरी पुत्रवधू कुन्ती भी महान् योद्धा पाण्डु की मृत्यु के पश्चात् विधवा हो गई तथा अपने पुत्रों के साथ अत्यन्त पीडित हुई। जब बालक बड़े हो गये तब उन पर आने वाले कष्टों से भी वह सदा पीड़ित होती रही।

तात्पर्य

कुन्तीदेवी की अवस्था निश्चित ही शोकजनक है क्योंकि वे शीघ्र ही विधवा हो गई थी। तथा उनके पुत्र जो राजोचित पालन-पोषण प्राप्त करने के अधिकारी थे, अति विपन्नावस्था मे पालित-पोषित हुए। और जब वे बडे हो गये तब भी वे दुख उठाती रही, क्योंकि उनके पुत्रों पर एक के पश्चात् दूसरी विपत्तियाँ लगातार आती रही। इसका अर्थ यह हुआ कि दैववश वे दुख उठाने के लिए ही यहाँ आई थी। अत उन्हे स्थित प्रज्ञ एव अविचलित रहकर उनका सामना करना था।

[१४]

सर्वं कालकृतं मन्ये भवतां च यदप्रियम्।
सपालो यद्वशे लोको वायोरिव घनावलिः॥

सर्वं=ये सब, काल-कृतम्=अजेय काल के द्वारा किया हुआ, मन्ये=मानता हूँ; भवतान् च=तुम्हारे लिये भी, यत्=जो कुछ, अप्रियम्=अप्रिय, सपाल=शासकों के साथ, यत्-वशे=समय के नियन्त्रण के अन्तर्गत, लोक=प्रत्येक लोक में प्रत्येक व्यक्ति, वायो=वायु के ले जाये जाने के, इव=सदृश, घन-अवलि=मेघ समूहों को।

अनुवाद

मेरी दृष्टि से तो यह दुर्लंघ्य काल ही इन सबका एक मात्र कारण है, जिसके द्वारा संसार के समस्त जीव वैसे ही खीचे ओर चलाये जा रहे है, जैसे वायु से सञ्चालित होकर मेघ यत्र तत्र आन्दोलित होते है।

तात्पर्य

ससार के समस्त क्षेत्रों मे, समस्त अवकाशो मे समय का ही शासन है, समय का ही नियत्रण है। समस्त लोको मे उसका ही शासन चल रहा है। ये विशाल एव भयकर ग्रह, ये सूर्य चन्द्र, ये नक्षत्र वायु की ही शक्ति से नियंत्रित हो रहे है। जिस प्रकार मेघ वायु के वेग से आन्दोलित हो उठता है, उसी भाँति अजेय दुर्लङ्घ्य काल वायु की भाँति प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति एव परिस्थितियो का नियत्रण कर रहा है। इस भौतिक जगत मे भगवान् की शक्ति का वही एकमात्र प्रतिनिधि है। इस प्रकार युधिष्ठिर को समयानुसार घटित होने वाले कार्यों से उद्विग्न नही होना चाहिए, दुखी नही होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्मो एव उसकी प्रतिक्रियाओं का समयानुसार भौतिक जगत की विभिन्न शर्तों के अन्तर्गत फल भोगना ही पडता है। युधिष्ठिर को नही सोचना चाहिए कि उन्होंने पूर्व जन्म मे पाप किए उसी के परिणाम स्वरूप वे दुख भोग रहे है। क्योंकि देखा जाता है कि जो महान् सदाचारी है, वे भी भौतिक प्रकृति के घटना-चक्रो के अन्तर्गत दुख उठाते हुए पाये जाते हैं। सदाचारी व्यक्ति भगवान् के प्रति श्रद्धापूर्ण होता है विश्वास-मय होता है। उसका हृदय उनके प्रति सदा आर्द्र होता है। क्योकि उसने ब्राह्मणो एव वैष्णवों का मार्ग दर्शन प्राप्त किया है। ये तीन मार्गदर्शक तत्व जीवन के प्रकाश स्तम्भ होने चाहिए। तथा काल के उपद्रवो से आन्दोलित नही होना चाहिए, विचलित नही होना चाहिए। यहाँ तक कि विश्व के सर्वश्रेष्ठ अभियन्ता ब्रह्मा जी भी समय के नियन्त्रण में पाये जाते है, इसलिए धर्म-सिद्धान्तों के अनुसरण करने वाले सज्जनों को कालाधीन होकर कार्य करने के कारण चिन्तित तथा विषादमग्न नही होना चाहिए।

[१५]

यत्र धर्मसुतो राजा गदापाणिर्वृकोदरः।
कृष्णोऽस्त्रीगाण्डिवं चापं सुहृत्कृष्णस्ततोविपत् ॥

यत्र=जहाँ, धर्म-सुतः=धर्मराज के पुत्र, राजा=राजा, गदा-पाणि =हाथों में गदा धारण करने वाले; वृकोदर=भीमसेन, कृष्ण=अर्जुन, अस्त्री=अस्त्र धारण करने वाले, गाण्डीवम्=गाण्डीव धनुष, चापम्=बाण; सुहृत्=शुभ-चिन्तक, कृष्ण.=भगवान् श्रीकृष्ण, तत=तत्पश्चात्, विपत्=विपत्ति।

अनुवाद

भीष्मदेव कहते हैं, अहो! कितना आश्चर्य है? समय का कैसा दुर्निवार्य प्रभाव है कि यह महाराज युधिष्ठिर से भी निवृत्त नही हो सका? जो साक्षात् धर्मपुत्र है धर्मावतार है। गदाधारण करने वाले महायोद्धा, स्वय भीम उपस्थित है। गाण्डीवधन्वा अर्जुन हैं। समस्त दिव्यास्त्रो के ज्ञाता भगवान् गोविन्द साथ है। ओह! पाण्डवो के इन परम सहृद् गोविन्द के रहते हुए भी समय का दुर्निवार्य प्रभाव निवृत्त न हो सका।

तात्पर्य

जितनी आध्यात्मिक एव आधिभौतिक साधनो की आवश्यकता थी, पाण्डवो के पास उनकी कमी न थी। भौतिक दृष्टि से वे एक महान् योद्धा थे। भीम, अर्जुन वहाँ उपस्थित थे। आध्यात्मिक दृष्टि से राजा स्वय धर्म के प्रतीक थे, धर्मावतार थे। इसके अतिरिक्त साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण उनके परम स्नेहमय भाई थे, उनके शुभचिन्तक थे। तथापि पाण्डवो के पक्ष मे भारी विपत्ति जनक घटनाये घटी। इन सबके रहते हुए भी उनकी सदाचार पूर्ण कृतियो एव शक्तिशाली व्यक्तित्वो एव कुशलतापूर्ण सुव्यवस्थाओ एव अस्त्र चलाने के अतुललाघवो एव भगवान् श्रीकृष्ण की विशाल भुजाओ की छत्रछाया के अनन्तर भी पाण्डव दुख उठाते गए। तो यही कहा जा सकता है कि काल का प्रभाव अलघ्य है, अनिवार्य है। काल स्वय भगवान् से एक है, अभिन्न है, इसलिए काल का प्रभाव इङ्गित करता है कि भगवान् की इच्छा ही अलंघ्य है, भगवान् की इच्छा ही अनिवार्य है। उसका किसी जीव के पास कोई उत्तर, कोई प्रतीकार ही नहीं तब उस पर शोक करना उचित नही है।

[१६]

न ह्यस्य कर्हिचिद्राजन् पुमान् वेद विधित्सितम् ।
यद्विजिज्ञासया युक्ता मुह्यन्ति कवयोऽपि हि ॥

न=कभी नही; हि=निश्चित ही; अस्य=इसका, कर्हिचित्=कोई भी; राजन्=हे राजा; पुमान्=कोई पुरुष; वेद=जानता है; विधित्सया= योजना; यत्=जो, विजिज्ञासस्य=तीव्र जिज्ञासा के होते हुए भी, युक्ताः =सलग्न; मुह्यन्ति=भटक गये; कवयः=महा दार्शनिक; अपि=भी, हि= निश्चित ही ।

अनुवाद

भीष्मदेव कहते है, हे राजा युधिष्ठिर ! कोई नही जान सकता कि भगवान् श्रीकृष्ण की योजना क्या है यहाँ तक कि बडे-बड़े दार्शनिक तीव्र जिज्ञासा लेकर गवेषणा में तत्पर होते है फिर भी भटक जाते है और भट-कते ही रहते है और पता ही नही चलता ।

तात्पर्य

महाराज युधिष्ठिर अपने पूर्वकृत कर्मो का चिन्तन कर एक प्रकार से भ्रमित-चित्त है, उन कर्मों के फलों की आशङ्का से मोहित हो रहे है, मन अशान्त है । भटक रहा है उनका मन । तथा महान् प्रामाणिक भक्त भीष्म के द्वारा उनकी भ्रान्त अवस्था निर्दशित की गई है । भीष्म युधिष्ठिर के हृदय में यह प्रभाव अंकित करना चाहते हैं कि चूँकि समय अनन्त है, शिव एवं ब्रह्मा भी भगवान् की योजना का पार नही पाते है तो हम उस विषयमे क्या समझ सकते है ? उस विषयमे अधिकार पूर्वक कुछ कहना करना निरुपयोगी सिद्ध होगा । यहाँ तक कि अत्यन्त गूढ दार्शनिक जिज्ञासाएँ भी सन्तों को भगवद्योजना का स्पष्टीकरण नही प्रदान करतीं । अतएव अति सुन्दर युक्ति यह है कि हम भगवान् की आज्ञाओं, उनके आदेशो के समक्ष विनम्र हो । एक समर्पण भाव से युक्त हों । तर्क न करें । दावा न करे । पाण्डवों को उनके पूर्वकृत कर्मो के द्वारा दुःख प्राप्त नही हुआ था । यह भग-वान् की योजना ही थी, स्वय भगवान् श्रीकृष्ण ऐसा चाहते थे । और इसी-

लिए उनके भक्त स्वयं कुछ समय के लिए पीडित हुए। क्योंकि कलिकाल के प्रथम चरण मे इसके द्वारा वे दुर्गुणों पर सद्गुणों की विजय प्रदर्शित करना चाहते थे। तथा अपने भक्तो के हृदय की मृदुलता का प्रदर्शन भी उनका लक्ष्य था। भीष्मदेव निश्चित ही सद्गुणों के इस मूर्तिमान स्वरूप को देखकर अति सन्तुष्ट हुये थे तथा राजा युधिष्ठिर को राजगद्दी पर अभिषिक्त देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए थे; यद्यपि उन्होंने स्वयं उनके विरुद्ध युद्ध किया था। यद्यपि महान् योद्धा भीष्म कुरुक्षेत्र के युद्ध मे जीते नही। क्यों कि भगवान् ने यह प्रदर्शित करना चाहा कि दुर्गुण सदाचरण पर कभी विजय प्राप्त नही कर सकता है। चाहे जो भी ऐसा करना चाहे उसे हारना पडेगा। उसे मुंह की खानी पडेगी। दुराचार हमेशा हारेगा, चाहे भीष्म हों, चाहे द्रोण हों, कोई भी क्यों न हों। भीष्मदेव भगवान् के एक भक्त थे, परन्तु पाण्डवों के विरुद्ध उन्होने पक्ष ग्रहण किया। भगवान् की इच्छा से ही,क्योकि भगवान् ने चाहा कि इच्छामृत्यु का वरदान प्राप्त किये हुए भीष्म जैसे महान् योद्धा भी उनके भक्त से लड़कर, एक सदाचारी से लड़कर जीत नही सकते। वच नही सकते। तो अन्य किस खेत के ढेले है ? उनकी क्या विसात है ?

[१७]

तस्मादिदं दैवतन्त्रं व्यवस्य भरतर्षभ।
तस्यानुविहितोऽनाथा नाथ पाहि प्रजाः प्रभो ॥

तस्मात् = इसलिए; इदम् = यह सव; दैव-तन्त्रम् = दैवकृत; व्यवस्य = निश्चय कर; भरत-ऋषभ = भरतवशियों मे श्रेष्ठ; तस्य = उसका; अनुविहितः = जैसे उनके द्वारा सोचा गया; अनाथाः = असहाय, नाथ = हे स्वामी पाहि = रक्षा करे; प्रजाः = प्रजा का; प्रभो = हे स्वामी।

अनुवाद

हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ ! इसलिए मैं चाहता हूं, मैं मानता हूं कि ये सव भगवान् की ही योजनाये है। भगवान् की इन अचिन्त्य योजनाओं को तुम स्वीकार करो। इसका अनुगमन करो। तुम विश्व साम्राज्य के

एकमात्र शासक हो उत्तराधिकारी हो। और मेरे प्रभु, तुम्हे अव उन प्रजाओ की चिन्ता करनी चाहिए जो असहाय है।

तात्पर्य

कहा जाता है कि सास पुत्रवधू को समझाने के लिए पुत्री को शिक्षा देती है। इसी प्रकार भगवान् जगत को शिक्षा देने के लिए भक्तो को शिक्षा देते है। भक्त भगवान् से कुछ नई वस्तु नही सीखते, क्योकि भगवान् सदैव श्रद्धामय हृदय के भक्तों के भीतर से शिक्षा प्रदान करते है, प्रेरणाओ के द्वारा शिक्षा देते है इसलिए जब कभी भी वे भक्तोको शिक्षा देते हुए से प्रतीत होते है, जैसे कि भगवद्गीता मे दृष्टिगोचर हो रहे है। तो यह अल्पबुद्धि ससार के व्यक्तिओ के लिए है। भक्तो का कर्तव्य है कि वे भगवान् के द्वारा प्रेरित दुखो एव कष्टो को आदर पूर्वक स्वीकार करे। उन्हे एक वरदान की तरह माने। पाण्डव भीष्म के द्वारा यही समझाये जा रहे है कि राज्य-शासन का उत्तरदायित्व बिना किसी प्रकार के संकोच के, बिना किसी दुविधा के स्वीकार करे। गरीब प्रजा कुरुक्षेत्र के महान् युद्ध के कारण असुरक्षित सी हो गई है तथा वे महाराज युधिष्ठिर के न्याय युक्त एव पवित्र शासन की प्रतीक्षा कर रहे है। भगवान् का एक विशुद्ध भक्त कष्टो को भगवत्कृपा मानता है। भगवान् अद्वय है और भक्त उनसे अभिन्न है। वहाँ दो नही है। एक ही हैं। अतएव दोनो ही अद्वय है।

[१८]

एष वै भगवान् साक्षादाद्यो नारायणः पुमान्।
मोहयन्मायया लोकं गूढश्चरति वृष्णिषु ॥

एष=यह; वै=सचमुच, भगवान्=भगवान्, साक्षात्=मौलिक; आद्य=प्रथम; नारायण=क्षीर सागर के जल मे शयन करने वाले भगवान्, पुमान्=सर्वोच्च पुरुष, मोहयन्=मोहित करते हुए, मायया=अपनी शक्ति से, लोकम्=लोक, गूढः=अचिन्त्य; चरति=विचरण करते है, वृष्णिषु—वृष्णिवशियो के परिवार में।

अनुवाद

ये श्रीकृष्ण अन्य कोई नही है ये साक्षात् पूर्ण भगवान् है। ये ही आदिपुरुष नारायण है, संसार के कर्ता-धर्ता यही है। किन्तु इस समय ये महाराज वृष्णि के कुल में अवतीर्ण होकर हम में से ही एक की भाँति चङ्-क्रमण कर रहे है, वे हमें अपनी माया से भ्रमित कर रहे हैं, मोह में डुबा रहे है। लेकिन मोह में डुबाना भी इनकी एक लीला है। वस्तुतः वे हमें प्रेम-सूत्र में बांधकर अपने साथ दिव्य धाम के नित्य निवासी बना देने कें लिए आये हुए है।

तात्पर्य

ज्ञान प्राप्ति की वैदिक-विधि एक वियोजक प्रक्रिया है। वैदिक ज्ञान प्रामाणिक गुरु से शिष्यानुपरम्परा के द्वारा पूर्णता मे उपलब्ध होता है। यह प्रामाणिकता स्वमताभिमानी होना मात्र नही, कट्टरता नही है। भगवद्-गीता (४-२) मे जीवन का यह सत्य स्वीकार किया गया है। शिक्षा ग्रहण करने की प्रक्रिया, प्रामाणिक गुरु के चरणकमलों की शरण ग्रहण से प्रारम्भ होती है। तथा यही एक सार्वभौम दृष्टिकोण है। परन्तु मिथ्यावाद-विवाद करने वाले इस पद्धति के प्रतिकूल कार्य करते हैं। उदाहरण के लिए आधु-निक आकाश यात्रा करने वाले कहते है कि उन्होने चन्द्रलोक के ऊपर यात्रा कर ली है। तथा अल्पबुद्धि मनुष्य उस पर विश्वास भी करते है। मूढ़ मनुष्य अन्धों की ही भाँति विश्वास करते हैं, क्योंकि उन्होंने आधुनिक वैज्ञानिको को ही प्रामाणिक मान लिया है। प्रामाणिक व्यक्तित्व जो कहते हैं, सामान्य जनता उस पर विश्वास करती है। वैदिक सत्यों के सदर्भ मे वे उन तथाकथित प्रामाणिको द्वारा समझाये गये है कि उस पर वे विश्वास न करें। और यदि वे उसे स्वीकार भी करते हैं, तो अन्य व्याख्या देकर। प्रत्येक व्यक्ति वैदिक ज्ञान को स्वभावतः पूर्ण रूपेण स्वीकार करना चाहता है, किन्तु उसकी मूर्खता निरन्तर उससे अस्वीकार कराती रहती है। इसका अर्थ है कि मूर्ख व्यक्ति मार्गभ्रष्ट व्यक्ति पर विश्वास करते हैं। तथा-कथित वैज्ञानिकों पर विश्वास कर वेद की प्रामाणिकता अस्वीकार करते हैं। परिणाम यह होता है कि उनके जीवन की नयी-नयी दिव्यानुभूति की सम्भावनाओ के द्वार वन्द हो जाते है वे विशृङ्खलित हो जाते है। यहाँ प्रामाणिकता कहती है कि भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् है, नारायण है।

यहाँ तक कि निराकारवादी आचार्य शकर भी अपनी भगवद्गीता की टीका के प्रारम्भ में कहते है कि साक्षात् भगवान् नारायण भौतिक सृष्टि के परे है। यह विश्व एक भौतिक सृष्टि है, परन्तु नारायण इसकी समस्त भौतिकताओ के परे है। भीष्मदेव उन द्वादश महाजनों मे से एक है, जो दिव्य, अप्राकृत ज्ञान को उपलब्ध है। उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण को साक्षात् भगवान् जाना-माना यह आचार्य शंकर के द्वारा अनुमोदित भी हुआ है। उनके द्वारा यह आप्तवाक्य उद्धृत भी हुआ है। अन्य आचार्य भी इस वक्तव्य को स्वीकार करते है। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण को साक्षात् भगवान् मानने के प्रतिपक्ष में कोई अवकाश नही, कोई पवित्र प्रवल तर्क नही है। भीष्मदेव कहते है कि वे प्रथम पुरुष नारायण है ब्रह्माजी ने भी श्रीमद्भागवत (१०-१४-१४) मे कहा है कि श्रीकृष्ण आदि पुरुष नारायण है। वे वैकुण्ठलोक के निवासी है। वहाँ उनके असख्य रूप हैं; जो उन्ही की भाँति वेप-भूषा से अलंकृत है। वे सब उनके अश एव अशाश माने गये हैं। श्रीकृष्ण का जो प्रथम रूप है, जो उनकी प्रथम अभिव्यक्ति है वे श्री वलदेव है। वलदेव का विस्तार बहुत से रूपों में होता है। जैसे सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, वासुदेव, नारायण, राम, नृसिह इत्यादि। ये सब अवतार विष्णुतत्व से सम्वन्धित है। एव श्रीकृष्ण इन समस्त अवतारों के अवतारी है। वे स्वय भगवान् है। इसलिये वे साक्षात् परब्रह्म परमात्मा है। इसलिए वे भौतिक जगत के सृष्टिकर्ता है। वे ही ससार मे प्रधान रूप से अर्चित होने वाले नारायण है। समस्त वैकुण्ठलोकों मे उन्ही की पूजा होती है। इसलिए उनकी मनुष्यलोक मे मनुष्यो के बीच होने वाली लीलाएँ सचमुच भ्रामक है लोगों की मति भ्रम मे पड़ जाती है। भगवान् भगवद्गीता मे कहते है कि मूर्ख व्यक्ति उन्हे सामान्य व्यक्ति समझता है, क्योंकि उनकी गतिविधियाँ अति उलझनपूर्ण है। विद्वान् उन्हें जानकर सुखी होते है और मूर्ख भटक जाते है। श्रीकृष्ण के सदर्भ मे भटकन के दो कारण है। अन्तरङ्गा शक्ति, बहिरङ्गा शक्ति तथा तीसरी शक्ति है तटस्था। समस्त जीवगण केवल तटस्था शक्ति के ही प्रसार है अतः वे अन्तरङ्गा शक्ति के सदर्भ में प्रायः भ्रमित हो हो जाते है। कभी-कभी अन्तरङ्गा शक्ति द्वारा सुव्यवस्थित, सुनियोजित एक मधुर भ्रम मे श्रीकृष्ण स्वय को नारायण एव नारायण के समस्त अनन्त अवतारो मे प्रसारित, विस्तारित करते है। एव उनके रूपो के द्वारा जीवो से प्रेममयी सेवा स्वीकार करते है ओर इस प्रकार उन्हे अपने आनन्दमय दिव्यलोक के निवासी वनाते है। तथा उनकी वहिरङ्गा शक्ति के अभिव्यक्त-स्वरूप वहिरङ्गा शक्ति क प्रसार के अन्तर्गत वे स्वय को भौतिक जनता में मनुष्यों, पशुओ एव

देवताओं के बीच अवतार ग्रहण करते है। एवं जीवो के अपने प्रति विस्मृत सम्बन्ध की पुर्नस्थापना करते है। भीष्म जैसे महान् प्रामाणिक व्यक्तित्व भगवान् की दया से ऐसे किसी भ्रम मे नही पडते। वे सदा निर्भ्रम रहे आते हैं। वे सदा अपने स्वरूप में स्थित रहे आते है, भगवान् से सम्बन्धित रहे आते है।

[१९]

अस्यानुभावं भगवान् वेद गुह्यतमं शिवः।
देवर्षिर्नारदः साक्षाद्भगवान् कपिलो नृप ॥

अस्य=उसका; अनुभावम्=महिमाओ को, भगवान्=षडैश्वर्यपूर्ण भगवान्; गुह्यतमम्=अति रहस्यमय, शिव =भगवान् शिव, देवर्षि.= देवताओं के मध्य ऋषि, नारदः=श्रीनारद, साक्षान्= साक्षात्, भगवान्= भगवान्; कपिलः=कपिल; नृप=हे राजा।

अनुवाद

हे राजा ! भगवान् शकर, देवर्षि नारद एव भगवद्वतार श्रीकपिल ये सब अत्यन्त दृढता पूर्वक यह जानते हैं कि ये साक्षात् भगवान् ही है।

तात्पर्य

भगवान् के विशुद्ध भक्त भाव है। वे भगवान् की प्रेममयी सेवा की विभिन्नताओ एवं रहस्यो के पारदर्शी ज्ञाता है। भगवान् के अनन्त अशावतार है, जैसे कि भगवान् के असख्य भक्त है। जो विभिन्न स्वरूपो के प्रति अपनी सेवा अर्पण करने मे संलग्न है। साधारणतया भगवान् के द्वादश भागवत है। उनके नाम है-ब्रह्मा, शिव, नारद, कुमार, कपिल, मनु, प्रह्लाद भीष्म, जनक, शुकदेव गोस्वामी, वलि महाराज, एवं यमराज। भीष्म ने इनमें से केवल तीन महापुरुषो का नाम गिनाया, जो भगवान् की महिमा के रहस्य को पूर्णतया जानते हैं। वर्तमानकाल के महान् आचार्य श्रील् विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार अनुभाव या भगवान् की महिमा भक्त के देह मे अप्ट लक्षण प्रगट करते हुये अन्त.करण मे आनन्द प्रवाह के रूप मे सक्रमण करता है, जो भक्त मे स्तम्भ, स्वेद, रोमाच, स्वर-भङ्ग एवं

वेपथु इत्यादि रूपों में अभिव्यक्त हुआ करते है; जो आगे चलकर भगवत-महिमा की प्रगाढ अनुभूति एव परिज्ञान मे रूपान्तरित हो जाते है। भाव की ऐसी विभिन्न अनुभूतियाँ माता यशोदा एव भगवान् के मध्य घटित दामोदर-लीला मे प्रकट हुई थीं। तथा भगवान् जब अर्जुन का रथ हाँक रहे थे, तब उन दोनो सखाओं के मध्य भी घटित हुई थी। भगवान् की ये महिमाये उनके भक्तों के अनुगमन एव सेवा करने पर ही प्रगट होती है। शुकदेव गोस्वामी एव कुमारगण यद्यपि पहले ब्राह्मी स्थिति नामक भाव की एक अन्य अभिव्यक्ति मे प्रतिष्ठित थे; तथापि भगवान् की महिमा के श्रवण से अनायास ही उनके हृदय मे दिव्य विशुद्ध प्रेममयी भावास्था का सञ्चार हो गया। तथा वे एक महान् रूपान्तरण को उपलब्ध हुए। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध मे भगवान् कहते है कि मै अपने भक्तों पर बहुत सी भयङ्कर विपत्तियाँ डाल देता हूँ उससे उनका अन्त करण अत्यन्त कोमल हो जाता है, पवित्र हो जाता है। वे भाव से भरने लगते है तथा उनका मुझसे प्रगाढ सम्बन्ध हो जाता है। भगवान् अपने भक्तों को जब भौतिक विपत्ति मे डालते है तो उनकी इच्छा का एकमात्र रहस्य यही होता है, कि वे भौतिक बन्धनों से मुक्त हो जायें। भौतिक सम्बन्ध इन्द्रिय तृप्ति से सम्बन्धित हैं और वह केवल भौतिक सम्बन्धों पर ही आधारित है। जब भौतिक सुख-सुविधाये भगवान् के द्वारा अपहृत हो जाती है, तब भक्त भगवान् की ओर, उनकी प्रेममयी सेवा की ओर, सम्पूर्ण रूप से आकृष्ट होता है। इस प्रकार भगवान पतित जीवों का जगत के भयङ्कर जाल से उद्धार कर लेते है। भगवान् के द्वारा भक्तो पर ढहाई गई विपत्तियाँ, स्थूल दृष्टि से बहुत बड़े पाप के फलो के सदृश होती है। यद्यपि वे पापो के फल नही होते है तथापि उन्ही के तुल्य मात्र दृष्टिगोचर होते है। यह सब भगवान् की अद्भुत विचित्र महिमा केवल महाजनो के द्वारा जैसे ब्रह्मा, नारद, शिव, कपिल, कुमार एवं भीष्म के द्वारा ही जाने गये है, तथा उन्ही की कृपा से कोई व्यक्ति इसे जान सकता है।

[२०]

यं मन्यसे मातुलेयं प्रियं मित्रं सुहृत्तमम्।
अकरोः सचिवं दूतं सौहृदादथ सारथिम्॥

यम्=जिसे; मन्यसे=आप सोचते है, मातुलेयम्=मामा का पुत्र,

प्रियम्=बहुत प्यारा, मित्रम्=मित्र, सुहृत्तमम्=परम शुभचिन्तक; अकरोत्=नियुक्त किया, सचिवम्=सचिव; दूतम्=दूत, सौहृदात्=परम प्रेम से, अथ=तत्पश्चात्, सारथिम्=रथचालक।

अनुवाद

हे राजा! जिन्हें तुम अज्ञानवश अपना ममेरा भाई मान रहे हो, अपना अन्तरङ्ग मित्र मान रहे हो, शुभचिन्तक मान रहे हो, अपना बुद्धि-सहायक या बैरिस्टर मान रहे हो, जिन्हे तुमने अपना दूत, सारथी तथा मन्त्री बनाने मे भी संकोच नही किया, वे ही ये श्रीकृष्ण भगवत्ता के साक्षात् सर्वोच्च व्यक्तित्व है।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण, यद्यपि युधिष्ठिर आदि पाण्डवों के साथ उनके ममेरे भाई की भाँति, मित्र की भाँति, शुभचिन्तक की भाँति, सन्देश वाहक की भाँति व्यवहार कर रहे है तथापि वे साक्षात् भगवान् है। अपनी अहैतुकी कृपा से अपने अनन्य भक्तो पर करुणा वर्षा करने के लिए इन समस्त प्रकार की सेवाएँ वे स्वय स्वीकार कर रहे है। परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि उन्होने अपनी वह अद्वयावस्था, अपनी वह अप्राकृत अचिन्त्य षडैश्वर्यपूर्ण उस उच्चतम भूमिका का परित्याग कर दिया हो। नही ऐसा नही है। उन्हे एक सामान्य व्यक्ति मानना ही अज्ञान का द्योतक है। अपराध है। वे साक्षात् भगवत्ता के श्रेष्ठतम व्यक्तित्व है जिनके बाह्यप्रकाश क्रमशः परमात्मा एव ब्रह्म है यही भीष्म यहाँ सूचित कर रहे है।

[२१]

सर्वात्मनः समदृशो ह्यद्वयस्यानहङ्कृतेः ।
तत्कृतं मतिवैषम्यं निरवद्यस्य न क्वचित् ॥

सर्व-आत्मनः=सबके हृदय मे अवस्थित, समदृशः=समदर्शी, हि=निश्चित ही, अद्वयस्य=अद्वय का; अनहङ्कृतेः=प्राकृत कृत्रिम अहङ्कार से रहित, तत्-कृतम्=सब कुछ उन्ही के द्वारा किया गया; मति=बुद्धि;

वैषम्य =विषमता, निरवद्यस्य--सम्पूर्ण आसक्तियो से रहित, न=नही, क्वचित्=कभी भी ।

अनुवाद

ये सम्पूर्ण भूत प्राणियो के हृदय मे विराजमान है। सबके प्रति समान भाव रखने वाले है तथा अहकार की विविध विचित्रताओ से परे है। सम्पूर्ण भौतिकता के लेश से वे निवृत्त हैं। वे निरवद्य कहे जाते हैं।

तात्पर्य

भगवान् अद्वय है। उनसे पृथक् कुछ भी नही है वे कैवल्य है; इसलिए उनके स्वय के अतिरिक्त अन्य वस्तु का कोई अस्तित्व नही है। प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक दृश्य, उनकी शक्ति का विस्तार है। और इस प्रकार वे अपनी शक्ति से अभिन्न रहते हुए सदा सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रहे है। दृश्य एव अदृश्य रूप से सर्वत्र व्याप्त हो रहे है वे प्रभु। जैसे सूर्य किरणों से व्याप्त प्रत्येक अणु-अणु मे प्रत्येक इच-इच स्थलो मे सूर्य विद्यमान हैं, ठीक उसी प्रकार परमात्मा भी विद्यमान है। शक्तियो के कारण विभक्त मे प्रतीत होते हैं। वे परमात्मा हैं अर्थात् अन्तर्यामी के रूप से सम्पूर्ण भूत प्राणियो के अन्तराल में अवस्थित होकर मार्ग-दर्शन कर रहे हैं। अतएव वे सबके हृदय मे विराजमान बुद्धि प्रेरक अनादि सिद्ध सारथी हैं। तथा सम्पूर्ण जीवो के उपदेशक भी हैं। जब वे यहाँ प्रगट होकर अर्जुन का सारथ्य कर रहे हैं, पाण्डवों का दौत्य कर्म कर रहे हैं तो इसमे उनकी कोई मानहानि नही है। अपने गूढ गहन भक्तो के ही वे सारथ्य-कर्म करते हैं। प्रेममयी सेवा ही एक ऐसा तत्व है, जो उन्हे उनका सारथ्य करने के लिए, दौत्य करने के लिए आकृष्ट करती है उत्सुक करती है। उन्हे जीवन की भौतिक धारणाओ से कोई सम्बन्ध नही है। वे अप्राकृतत्व से अभिन्न हैं। उनके लिए निषिद्ध कर्म, निकृष्ट कर्म अथवा उत्कृष्ट कर्म निर्धारित नहीं है। भगवान् साक्षात् भगवान् है। उन्हें प्राकृत अहकार स्पर्श नही करता। इसलिए अन्य बाह्य दृष्टिगोचर होने वाली वस्तु व्यक्ति एव दृश्यों से उनका तादात्म्य नही होता। भौतिक अहकार का उनसे कोई सम्बन्ध नही है। वे अनुभव ही नही करते हैं उस अति तुच्छता का। इसीलिये तो जब वे दौत्य कर्म अथवा सारथ्य कर्म करते है अपने विशुद्ध भक्तों का तो वे निम्न नही

हो जाते। यह तो उनके परमप्रिय भक्तो को महिमान्वित करना है। और इस प्रकार उन्हे अपने नवनवायमान सौन्दर्य, गुण एव माधुर्य के द्वारा निरन्तर आकृष्ट करते रहना है।

[२२]

तथाप्येकान्तभक्तेषु पश्य भूपानुकम्पितम् ।
यन्मेऽसूंस्त्यजत साक्षात्कृष्णो दर्शनमागतः ॥

तथापि=तथापि, एकान्त=अनन्य, भक्तेषु=भक्तों में, पश्य=देखो तो, भूप =हे राजा !, अनुकम्पितम्=कितने दयालु है, यत्=जो, असून= प्राण, त्यजत =त्याग करते हुए; मे=मेरे समक्ष, साक्षात्=साक्षात्, कृष्ण =भगवान् श्रीकृष्ण, दर्शनम्=दर्शन देने के लिए, आगत =आये है।

अनुवाद

यद्यपि भगवान् सम्पूर्ण भूत प्राणियों के प्रति सम है। तथापि हे राजा, देखो तो ये कितने कृपालु है; मै मरणासन्न असहाय यहाँ पड़ा हुआ था, मेरी मृत्यु के अवसर पर इन महामहिम प्रभु ने आकर मुझे साक्षात् दर्शन दिया है।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण यद्यपि समस्त प्राणियो के प्रति सम है, तथापि अपने मे अनन्य भाव से समर्पित भक्तों के प्रति अधिक सम्बद्ध है। क्योकि उन्होने उन्हे सर्वस्व समर्पण कर दिया है, उनके एकमात्र स्वामी वे ही है, वे ही एकमात्र रक्षक है। भगवान् की इच्छा से ही जीवो की सरचना इस भांति हुई है कि वे सुखी तब ही हो सकेगे, उन्हें आनन्द तभी प्राप्त हो सकेगा इस ससार मे जब वे भगवद्वलम्बित होंगे। भगवान् का ही आश्रय ग्रहण करेंगे। इसके विरोधी मनोवृत्ति के मनुष्यो का पतन अनिवार्य है। सामान्य व्यक्तियो की मनोवृत्ति पतनोन्मुखी होती है। क्योकि वे भगवान् से स्वय को स्वतत्र मानते है। तथा उस स्वतन्त्रता को और अधिक दृढ करने का प्रयत्न करते रहते है। वे भौतिक सम्पदाओ का स्वामी, भौतिक जगत का स्वामी बनने के प्रयास मे है। और यही उनकी मिथ्या अवधारणा, उनकी

समस्त समस्याओं एव दु'खो का मूल कारण है। हमें अवश्य ही इस मनोवृत्ति को सभी ओर से मोड़ कर भगवच्चरणो से सयुक्त करना चाहिए। क्योकि श्रीमद्भागवत के नवे स्कन्ध मे कहा गया है कि पृथ्वी मे जितने भी धान्य स्वर्ण, पशु और स्त्रियाँ है वे सबके सब मिल कर भी उस पुरुष के मन को सन्तुष्ट नही कर सकते, जो कामनाओ के प्रहार से जर्जर हो रहा है। विषयों की भोगवासना कभी शान्त नही हो सकती। बल्कि जैसे घी की आहुति डालने से आग और भडक उठती है वैसे ही भोगवासनाये भोगों से और भी प्रबल हो उठती है। अतएव हमारी सारी समस्याओं एव दु खो का मूल कारण यह मिथ्या अवधारणा है कि भगवद्विमुख रहते हुये हम स्वतन्त्र हो सकते है, हम इन समस्त पदार्थो के स्वामी हो सकते है। लेकिन यह एक भ्रममात्र है। हमे इस भ्रम का त्याग करके सर्वतोभावेन भगवान् को समर्पित हो जाना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण का भीष्म की मरणशय्या के सम्मुख आगमन उनकी अनन्य भक्ति के कारण ही सभव हो सका था। अर्जुन का भगवान् श्रीकृष्ण के साथ कुछ शारीरिक सम्बन्ध भी था। क्योकि वे उनके ममेरे भाई थे। किन्तु भीष्म के साथ ऐसा कोई सम्बन्ध नही था, इसलिए भीष्म के हृदय मे जो भी भगवदाकर्षण है वह आत्मिक है, वह प्रेममयी सेवा का है। तथापि यह सम्बन्ध, भगवान् और भीष्म की यह प्रीति अत्यन्त आह्लाददायी एव स्वाभाविक है। इसीलिये तो जब वे नन्द महाराज के कुमार, नन्द गोप तनय के सम्बोधन से सम्बोधित होते है तो अत्यन्त प्रसन्न होते है। जब यशोदानन्दन के सम्बोधन से सम्बोधित होते हैं, तो अति प्रसन्न होते है। राधारानी के प्रिय इस सम्बोधन से अति आह्लादित होते है वे प्रभु। यह भगवान् का दैहिक सम्बन्ध उनकी प्रेममयी सेवा का एक अद्वितीय स्वरूप है। भीष्मदेव उनकी इस दिव्य-माधुर्य-वैचित्री से अवगत थे, इसलिए उन्होने उन्हे "विजयसखे" "पार्थसखे" इत्यादि मधुर सम्बोधनों से सम्बोधित किया। नन्दनन्दन एवं यशोदानन्दन ये शब्द भगवान्के प्रति हमारा वास्तविक सम्बन्ध-स्थापन करने के लिए अति महत्वपूर्ण है, अद्वितीय हैं। इन सम्बोधनों के द्वारा हम उनके अनन्य भक्तो से सम्बन्धित होते हैं। और उनके द्वारा स्वत भगवत्सम्बन्ध सम्पादित होता है किसी भी व्यक्ति को सीधे भगवान् से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। अवश्य ही वहाँ माध्यम होना चाहिए, जो प्रामाणिक हो, योग्य हो तथा उक्त पथ पर हमें अग्रसर कर सके।

[२३]

भक्त्याऽऽवेश्य मनो यस्मिन् वाचा यन्नाम कीर्तयन् ।
त्यजन् कलेवरं योगी मुच्यते कामकर्मभिः ॥

भक्त्या=परम प्रेम से; आवेश्य=एकाग्र कर, मन =मन, यस्मिन् =जिसमें, वाचा=वाणी के द्वारा, यत्=जिसका, नाम=पवित्र नाम, कीर्तयन्=उच्चारण के द्वारा, त्यजन्=त्यागते हुए, कलेवरम्=शरीर को; योगी=भक्त, मुच्यते=मुक्त हो जाते है, कामकर्मभि =सकाम कर्मो से ।

अनुवाद

अत्यन्त तीव्र सघन भक्ति योग एव ध्यान से, नाम सङ्कीर्तन से भगवान् जब भक्त के हृदय मे आ विराजते है, तो उनका यह आविर्भाव भक्त के भौतिक शरीर त्याग के समय उसके सम्पूर्ण कर्म एवं पाप बन्धनो को समाप्त कर देता है ।

तात्पर्य

योग का अर्थ है चित्त की वृत्तियों की एकाग्रता । तथा सम्पूर्ण बाह्य-विपयो से निवृत्त होकर चित्त की वृत्तियाँ अन्तर्मुख़ होकर द्रष्टा में अवस्थित हो जाती है तब समाधि कहलार्ता है । तथा यह समाधि सुगमतापूर्वक उपलब्ध होती है जब हम भगवत्सेवा मे सर्वतोभावेन समर्पित होते है । जो अपने मन को अपनी चेतना को इस प्रकार एकाग्र करते है वे योगी कहलाते है । भगवान् का ऐसा भक्तयोगी चौबीस घण्टे स्वभावत: भगवत्सेवा मे सलग्न होता है । भगवत्सम्बन्धी विचारो मे वह डूबा हुआ होता है भक्तिमयी सेवा के जो विविध प्रकार है उन प्रकारों तथा तत्तद्भावेन स्वयं को, वस्तुओ को,स्थितियों को भगवत्सेवा में सलग्न करने के विचारों मे, भावो में वह सर्वथा निमग्न होता है । जैसे श्रवण, अर्चन. कीर्तनं स्मरणम् व वन्दन, दास्य सख्य, आत्म निवेदन । इस प्रकार वह भक्तयोगी भगवान् के चरण कमलो मे अपना सर्वस्व समर्पण कर देता है । ऐसा भक्ति का अभ्यासी भगवद्गीता के अनुसार योगी कहा गया है । ऐसा ही योगी भगवान् की कृपा से अपनी इन्द्रियो को उनकी सेवा मे पूर्णतया समाहित करने मे योग्य

होता है। उनके नामो का पवित्र उच्चारण करते हुए देह त्याग कर योगी तत्क्षण ही भगवान् की अन्तरङ्गा शक्ति के सरक्षण मे चला जाता है। उनके दिव्य धाम में पहुँच जाता है, जहाँ भौतिक जीवन तथा इनसे सम्बन्धित अनेक दुरवस्थाओं एव दु खोत्पादक तत्वो का कोई प्रश्न नही है। जगत में त्रितापों की नाना प्रकार की आधियाँ एव व्याधियाँ जन्म जन्मान्तर पर्यन्त भोगते रहनी पडती है, सकाम कर्म चलते रहते है, उनके फल आते जाते रहते है, पुन. कर्म होने रहते है, पुन फल आते है। इस प्रकार वह एक लम्बे जाल मे पडा होता है। ऐसे भौतिक जीवन भौतिक कामनाओ से ही उत्पन्न होते है। परन्तु भगवान् की भक्तिमयी सेवा जीवो की स्वाभाविक कामनाओं का नाश नही करती वरन् एक ऐसा विचारक्रम, विचार प्रवाह प्रदान करती है जिसके द्वारा विचारों का बन्धनकारक प्रभाव निवृत्त होकर परव्योम मे स्थानान्तरण की सम्भावना सम्भव हो जाती है। योद्धा भीष्मदेव भक्ति योगी है। और वे इतने सौभाग्यशाली है, कि भगवान् साक्षात् खड़े हुए है और वे देह त्याग कर रहे है। इसलिए उन्होने सोचा, उन्होने चाहा कि भगवान् उनके सम्मुख बस ऐसे ही खड़े रहे। और वे उन्हे देखते रहें। और इसी प्रकार देखते हुए शरीर-त्याग कर दे। निम्न श्लोको से यही प्रतिध्वनित हो रहा है।

[२४]

स देवदेवो भगवान् प्रतीक्षतां
कलेवरं यावदिदं हिनोम्यहम्।
प्रसन्नहासारुणलोचनोल्लस-
न्मुखाम्बुजो ध्यानपथश्चतुर्भुजः ॥

स.=वह, देवदेव =देवताओ के भी परमदेव, भगवान्=साक्षात् भगवान्, प्रतीक्षताम्=कृपया प्रतीक्षा करे, कलेवरम्=शरीर को, यावद्=जब तक, इदम्=यह हिनोमि= त्यागता हूँ, अहम्=मै, प्रसन्न=प्रसन्न, हास=मुस्कानपूर्वक अरुण-लोचन=प्रात.कालीन सूर्य की प्रभा वाले, उल्लसत्=सुन्दरता मे सजे हुए, मुखम्-अम्बुजम्=कमल पुष्प की भाँति मुख वाले, ध्यान-पथ =ध्यानमार्ग से, चतुर्भुज =चार भुजाधारी नारायण।

अनुवाद

ये देवाधिदेव भगवान् कृपया प्रतीक्षा करे, मुझ पर दया करके कुछ क्षण प्रतीक्षा करे जब तक मै इस प्राकृत देह का परित्याग न कर लूँ। केवल तब तक, बस ऐसे ही खड़े रहे, चार विशाल भुजाओं से सुशोभित, अनन्त सौन्दर्य माधुर्य-सुधामय मुखारविन्द युक्त, सूर्योदय कालीन उल्लास प्रभा-युक्त अरुण कमल नयनों वाले, मन्द-मन्द मुस्कराते हुए, प्रेम के मतवाले योगियो के ध्यानपथ मे स्फुरित होने वाले मेरे भगवन् आप बस यो ही विराजमान रहे, अब मै इस शरीर का त्याग करता हूँ।

तात्पर्य

भीष्मदेव जानते थे कि भगवान् श्रीकृष्ण आदिपुरुष नारायण है। वे ही उनके अर्चनीय कुल देवता चतुर्भुज श्रीनारायण है। किन्तु वे यह भी जानते थे कि चतुर्भुज श्रीनारायण भगवान् श्रीकृष्ण के ही अंशावतार है। अप्रत्यक्ष रूप से उन्होने भगवान् श्रीकृष्ण से कामना की कि वे चतुर्भुज स्वरूप से दर्शन दे। एक वैष्णव सदा नम्र स्वभाव का होता है, विनीत होता है। यद्यपि यह शत प्रतिशत सही है, कि भीष्मदेव शरीर त्याग के पश्चात् वैकुण्ठ धाम मे पहुँच रहे है। तथापि एक विनीत वैष्णव की भाँति उन्होंने विचार किया। उन्होने कामना की कि भगवान् का अत्यन्त आह्लाददायी, अति सुन्दर मुखारविन्द उनके सम्मुख दर्शन देता रहे, उनके सम्मुख वे महाप्रभु ऐसे ही बने रहे, ताकि वे दर्शनजनित आह्लाद पूर्वक देहत्याग कर सके। देहत्याग के अनन्तर फिर उनके इस मधुर मृदुल-सौन्दर्य-वैभव का दर्शन न जाने कहाँ कब हो ? अत. उन्होने चाहा कि अवतारी श्रीनारायण के भी मौलिक स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण चतुर्भुज रूप में उन्हे दर्शन दे। क्योंकि श्रीकृष्ण के चतुर्भुज रूप में और नारायण के चतुर्भुज रूप मे महान् अन्तर है। वे कहते है कि जब तक मैं इस शरीर का त्याग न करूँ तब तक आप यहा विराजमान रहे। इसका अर्थ है कि वे महान् योद्धा अपने इच्छानुसार शरीर त्याग करने में समर्थ थे। प्रकृति के नियमो से गम्न नही थे। प्रकृति के नियमो के आधीन नही थे। वे इतने शक्ति सम्पन्न थे कि जब तक उनकी इच्छा होती तब तक इस शरीर में सुखपूर्वक रह सकते थे। उन्होने अपने पिता से यही वर प्राप्त किया था। उन्होंने सोचा कि भगवान् यहाँ

होता है। उनके नामों का पवित्र उच्चारण करते हुए देह त्याग कर योगी तत्क्षण ही भगवान् की अन्तरङ्गा शक्ति के संरक्षण मे चला जाता है। उनके दिव्य धाम मे पहुँच जाता है, जहाँ भौतिक जीवन तथा इनसे सम्बन्धित अनेक दुरवस्थाओं एव दु:खोत्पादक तत्वो का कोई प्रश्न नही है। जगत में त्रितापों की नाना प्रकार की आधियाँ एवं व्याधियाँ जन्म जन्मान्तर पर्यन्त भोगते रहनी पडती हे, सकाम कर्म चलते रहते है, उनके फल आते जाते रहते है, पुन. कर्म होते रहते है, पुनः फल आते है। इस प्रकार वह एक लम्बे जाल मे पडा होता है। ऐसे भौतिक जीवन भौतिक कामनाओ से ही उत्पन्न होते है। परन्तु भगवान् की भक्तिमयी सेवा जीवों की स्वाभाविक कामनाओं का नाश नही करती वरन् एक ऐसा विचारक्रम, विचार प्रवाह प्रदान करती है जिसके द्वारा विचारों का बन्धनकारक प्रभाव निवृत्त होकर परव्योम में स्थानान्तरण की सम्भावना सम्भव हो जाती है। योद्धा भीष्मदेव भक्ति योगी है। और वे इतने सौभाग्यशाली है, कि भगवान् साक्षात् खड़े हुए है और वे देह त्याग कर रहे है। इसलिए उन्होने सोचा, उन्होने चाहा कि भगवान् उनके सम्मुख बस ऐसे ही खड़े रहे। और वे उन्हे देखते रहे। और इसी प्रकार देखते हुए शरीर-त्याग कर दे। निम्न श्लोको से यही प्रतिध्वनित हो रहा है।

[२४]

स देवदेवो भगवान् प्रतीक्षतां
कलेवरं यावदिदं हिनोम्यहम्।
प्रसन्नहासारुणलोचनोल्लस-
न्मुखाम्बुजो ध्यानपथश्चतुर्भुजः॥

स =वह, देवदेव.=देवताओ के भी परमदेव; भगवान्= साक्षात् भगवान्; प्रतीक्षताम्=कृपया प्रतीक्षा करें, कलेवरम्=शरीर को, यावद्= जब तक; इदम्=यह हिनोमि=त्यागता हूँ, अहम्=मै, प्रसन्न=प्रसन्न, हास=मुस्कानपूर्वक. अरुण-लोचन=प्रात कालीन सूर्य की प्रभा वाले, उल्लसत्=सुन्दरता मे सजे हुए, मुखम्-अम्बुजम्=कमल पुष्प की भाँति मुख वाले, ध्यान-पथ =ध्यानमार्ग से, चतुर्भुज=चार भुजाधारी नारायण।

अनुवाद

ये देवाधिदेव भगवान् कृपया प्रतीक्षा करे, मुझ पर दया करके कुछ क्षण प्रतीक्षा करे जब तक मै इस प्राकृत देह का परित्याग न कर लूँ। केवल तब तक, बस ऐसे ही खड़े रहे, चार विशाल भुजाओ से सुशोभित, अनन्त सौन्दर्य माधुर्य-सुधामय मुखारविन्द युक्त, सूर्योदय कालीन उल्लास प्रभा-युक्त अरुण कमल नयनों वाले, मन्द-मन्द मुस्कराते हुए, प्रेम के मतवाले योगियो के ध्यानपथ मे स्फुरित होने वाले मेरे भगवन् आप बस यों ही विराजमान रहे, अब मै इस शरीर का त्याग करता हूँ।

तात्पर्य

भीष्मदेव जानते थे कि भगवान् श्रीकृष्ण आदिपुरुष नारायण है। वे ही उनके अर्चनीय कुल देवता चतुर्भुज श्रीनारायण है। किन्तु वे यह भी जानते थे कि चतुर्भुज श्रीनारायण भगवान् श्रीकृष्ण के ही अशावतार है। अप्रत्यक्ष रूप से उन्होने भगवान् श्रीकृष्ण से कामना की कि वे चतुर्भुज स्वरूप से दर्शन दे। एक वैष्णव सदा नम्र स्वभाव का होता है, विनीत होता है। यद्यपि यह शत प्रतिशत सही है, कि भीष्मदेव शरीर त्याग के पश्चात् वैकुण्ठ धाम मे पहुँच रहे है। तथापि एक विनीत वैष्णव की भाँति उन्होंने विचार किया। उन्होने कामना की कि भगवान् का अत्यन्त आह्लाददायी, अति सुन्दर मुखारविन्द उनके सम्मुख दर्शन देता रहे, उनके सम्मुख वे महाप्रभु ऐसे ही बने रहे, ताकि वे दर्शनजनित आह्लाद पूर्वक देहत्याग कर सके। देहत्याग के अनन्तर फिर उनके इस मधुर मृदुल-सौन्दर्य-वैभव का दर्शन न जाने कहाँ कब हो ? अत· उन्होने चाहा कि अवतारी श्रीनारायण के भी मौलिक स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण चतुर्भुज रूप मे उन्हें दर्शन दे। क्योकि श्रीकृष्ण के चतुर्भुज रूप मे और नारायण के चतुर्भुज रूप मे महान् अन्तर है। वे कहते है कि जब तक मै इस शरीर का त्याग न करूँ तब तक आप यहाँ विराजमान रहे। इसका अर्थ है कि वे महान् योद्धा अपने इच्छानुसार शरीर त्याग करने में समर्थ थे। प्रकृति के नियमों से ग्रस्त नही थे। प्रकृति के नियमो के आधीन नही थे। वे इतने शक्ति सम्पन्न थे कि जब तक उनकी इच्छा होती तब तक इस शरीर मे सुखपूर्वक रह सकते थे। उन्होने अपने पिता से यही वर प्राप्त किया था। उन्होने सोचा कि भगवान् यहाँ

रुकें, कृपया मेरे सामने ऐसे ही बने रहें, चतुर्भुज रूप धारण करके, ताकि वे उन पर चित्त एकाग्र कर सकें। और "ध्यानावस्थिततद्गतेनमनसा" हो जायें। तब उनका मन अत्यन्त पावनतम हो जायगा, उनके ही विचार करते करते उनका हृदय गद्गद् हो जायगा, नेत्र झरने लग जायेंगे तब चेतना की उस अत्यन्त पवित्रतम अवस्था में ही वैकुण्ठ उपलब्ध होता है। इस प्रकार वे वैकुण्ठ से साक्षात् सम्बन्धित हो जायेंगे। इस महा महिमामय स्थिति में भक्त इसकी चिन्ता बिलकुल नहीं करता कि वह कहाँ जायगा। एक सच्चा भक्त भगवान् के लोक में जाने के लिए भी चिन्तित नहीं होता। वह सर्वथा भगवान् की इच्छा पर अवलम्बित होता है। उनकी इच्छा पर ही सर्वस्व न्यौछावर किये हुए होता है। वह सन्तुष्ट होता है तब भी यदि भगवान् उन्हें नर्क भेज दे। वह एक ही कामना करता है कि येन केन प्रकारेण भगवान् के चरण-कमलों का स्मरण होता रहे। भीष्मदेव चाहते थे, एकमात्र यही चाहते थे कि उनका चित्त भगवान् के श्रीचरणकमलों में समाहित हो जाय, तन्मय हो जाय, डूब जाय। और यही एक सच्चे भक्त की परम चरम महत्वाकांक्षा है।

[२५]

सूत उवाच

युधिष्ठिरस्तदाकर्ण्य शयानं शरपञ्जरे।
अपृच्छद्विविधान्धर्मानृषीणां चानुशृण्वताम् ॥

सूतः उवाच=श्रीसूत गोस्वामी बोले, युधिष्ठिर =राजा युधिष्ठिर ने, तत्=वह; आकर्ण्य=सुनकर; शयानम्=लेटे हुए, शर-पञ्जरे=बाणों की शैया पर, अपृच्छत्=पूछने लगे, विविधान्=बहुत से, धर्मान्=कर्तव्यों को, ऋषीणाम्=ऋषियों का, च=और, अनुशृण्वताम्=सुनने के पश्चात्।

अनुवाद

सूत गोस्वामी बोले, शरशय्या पर शयन किये हुए भीष्मदेव के उपरोक्त हृदयग्राही उद्गार सुनकर राजा युधिष्ठिर ने उनसे समस्त ऋषिमुनियों के सम्मुख धर्म के गूढ गहन सिद्धान्तों, कर्तव्यों एवं सदाचारों के सम्बन्ध में [illegible]ासा की।

तात्पर्य

भीष्मदेव उपरिवर्णित मनःस्थितिको प्राप्त होकर भाव गद्गद् होकर बोल रहे थे जिससे महाराज युधिष्ठिर बहुत प्रभावित हुए। उनका हृदय आर्द्र होगया यह सोचकर कि एक महान् योद्धा एव महान् भक्त उनके पितामह शरीर त्याग करने वाले है। महाराज युधिष्ठिर ने भगवान् श्रीकृष्ण मे प्रेरित होकर धर्मके सिद्धान्तों के सन्दर्भमे जिज्ञासा की। इसके द्वारा भगवान् ने यह प्रगट किया कि उनका भक्त यद्यपि बाह्य दृष्टि से सासारिको की ही भाँति प्रतीत होताहै। किन्तु वस्तुत वह महान् ऋषियोसे भी उच्चतर होता है। दूसरा विचार यह है कि भीष्मदेव उस समय मृत्यु शय्या पर शयन कर रहे थे। बाणो की शय्या पर शयन कर रहे थे। वे अत्यन्त दुःखमय विपत्ति ग्रस्त अवस्था मे थे। अत्यन्त पीडित थे। उस समय उनसे कोई प्रश्न पूछे जाने योग्य न था। परन्तु भगवानश्रीकृष्ण यह प्रमाणित करना चाहते थे कि उनका सच्चा भक्त अत्यन्त विपत्ति जनक अवस्था मे अत्यन्त शोक एव उद्विग्नता जनक अवस्था मे भी आध्यात्मिक प्रकाश की पीडा रहित उन्मुक्त अवस्था मे होता है। किन्ही भी परिस्थितियो मे वह जीवन के उचित मार्ग प्रदर्शन करने मे सुव्यवस्थित होता है। युधिष्ठिर भी अपनी जिज्ञासा अन्य किसी से न पूछकर भीष्मदेव के समक्ष रखने मे ही सुविधा अनुभव कर रहे थे। यह सब भगवान् चक्रधारी की ही व्यवस्थाये थी। जो अपने भक्तों की महिमा सर्वत्र प्रसारित करने के लिये निरन्तर उत्सुक बने रहते है। जिस प्रकार पिता अपने पुत्र को अपने से भी अधिक प्रसिद्ध देखना चाहता है, उसी प्रकार भगवान् भी अपने अनन्य भक्तो को ससार के समक्ष अति मूल्यवान् अत्यन्त महत्वपूर्ण रूप में देखना पसन्द करते है।

[२६]

पुरुषस्वभावविहितान् यथावर्ण यथाश्रमम्।
वैराग्यरागोपाधिभ्यामाम्नातोभयलक्षणान् ॥

पुरुष=पुरुष, स्वभाव=स्वभाव, विहतान्=सुनिश्चित, यथा=जैसे, वर्णम्=वर्ण, यथा=जैसे, आश्रमम्=आश्रम, वैराग्य=वैराग्य, राग=मोह, उपाधिभ्याम्=ऐसी समस्त औपचारिकताओ से, आम्नात=क्रमश, विधिपूर्वक, उभय=दोनो, लक्षणान्=लक्षणो।

अनुवाद

महाराज युधिष्ठिर के प्रश्न करने पर भीष्मदेव ने चेतना के विभिन्न धरातलो पर आधारित सम्पूर्ण वर्णो एव आश्रमो का विस्तृत वर्णन किया तत्पश्चात् उन्होने क्रमश धर्म, वैराग्य तथा राग की प्रवृत्ति एव निवृत्ति रूप विविध अवस्थाओं का वर्णन किया।

तात्पर्य

चार वर्णो एवं आश्रमों की व्यवस्था स्वयं भगवान् के द्वारा स्थापित हुई है। यह व्यक्ति के दिव्य गुणो के उत्थान की एक क्रमिक-साधना व्यवस्था है जो उसे भौतिक बन्धनो से तथा इन्द्रियों की दासता से छुड़ाकर भगवत्सान्निध्य रूपी चेतना विकास की परम उत्थान की अवस्था को उपलब्ध कराता है। प्रायः समस्त पुराणो मे यह विषय इसी रूप मे वर्णित हुआ है। तथा महाभारत भी इसी विषय का अधिक स्पष्ट प्रतिपादन करता है। भीष्मदेव ने शान्तिपर्व के छठे अध्याय मे इस व्यवस्था का अति विस्तृत एव सारगर्भित वर्णन किया है। वर्णाश्रम धर्म सभ्य जगत् के लिये एक सुनियोजित एव सुनिर्णीत विषय है। वर्णाश्रम धर्म सभ्य मानव के लिए सुनिश्चित हुआ है। ताकि वह जीवन की प्रत्येक सफलता मे दीक्षित हो सके। आत्म प्राप्ति निम्नस्तर के प्राणियो के जीवन से पृथक् है जो आहार, निद्रा, भय, मैथुन मे निरन्तर सलग्न बने रहते है। भीष्मदेव समस्त मानव जाति के लिए निर्देश करते है कि उच्चतम मानवता की प्राप्ति के लिए इन नौ गुणो को धारण करे। प्रथम गुण है अक्रोध, क्रोध न करना द्वितीय गुण है सत्यवादी हो, तृतीय गुण है धन का समान वितरण हो, चतुर्थ गुण है क्षमा, पञ्चम गुण है अपनी पत्नी से ही सन्तति प्राप्त करे, षष्ठम् गुण है मन शुद्धि एव शारीरिक स्वास्थ्य। सप्तम गुण है किसी के प्रति शत्रुतापूर्ण व्यवहार न करे, अष्टम गुण है सीधा-साधा, भोला-भाला होना और नवाँ गुण है अपने आश्रितो एव सेवकों को जीवन यात्रा मे सहायता करना। इन नौ गुणो को धारण किये बिना कोई व्यक्ति सभ्य एव कुलीन नही कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों को अर्थात् बुद्धिजीवी वर्ग को क्षत्रियों, वैश्यो तथा श्रमजीवियो को अवश्य ही वैदिक ग्रन्थो मे वर्णित अपनी आजीविका के अनुकूल कर्तव्यो के पालन करने के लिए आवश्यक गुणो एव योग्यताओ को अपने भीतर विकसित करना चाहिए। ब्राह्मणो के लिए इन्द्रियो

का नियमन् संयमन अत्यधिक आवश्यक गुण है। यही नैतिकता की आधारशिला है। तथा यौन ससर्ग अपनी पत्नी तक ही सीमित हो। और पत्नी भी अपनी इन्द्रियो को सुसंयमित किये हुए हो। ऐसी व्यवस्था में सबके द्वारा परिवार-नियोजन स्वत: सिद्ध होता है। तथा उसके लिए किसी लज्जा-जनक एवं भारतीय सभ्यता सस्कृति मे कलङ्क स्वरूप, अभिशाप युक्त कृत्रिम पद्धति नही अपनानी पड़ती। एक बुद्धि प्रधान व्यक्ति यदि वैदिक मार्ग का अनुगमन नही करता तो वह अज्ञात रूप से अपनी योग्यता का एक प्रकार से तिरस्कार करता है। इसका अर्थ यह है कि वैदिक वाङ्मय का अध्ययन विशेषकर श्रीमद्भागवत एवं गीता का अध्ययन सभी वर्णों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस वैदिक ज्ञान की धारणा के लिए हमे किसी ऐसे व्यक्ति के चरण कमलों में पहुँचना आवश्यक है जो शत प्रतिशत प्रेममयी सेवा मे सलग्न हो। हमें शास्त्र निपिद्ध वातों का चिन्तन कभी नही करना चाहिए। जो व्यक्ति धूम्रपान करता है, सुरापान करता है वह व्यक्ति गुरु आचार्य, शिक्षक आदि बनने योग्य नही है। आधुनिक शिक्षा प्रणाली मे व्यक्ति नैतिक जीवन के मूलभूत सूत्रों को जीवन में बिना सँजोये ही शिक्षक पद के लिए निर्वाचित कर लिया जाता है। इसीलिए तथाकथित बुद्धिमान् व्यक्तियो के द्वारा शिक्षा का अनेक प्रकार से दुरुपयोग हो रहा है।

क्षत्रियों के लिए विशेष रूप से निर्देश है कि वे किसी भी परिस्थिति में दान ग्रहण न करे। आधुनिक शासन प्रणाली युद्ध, बाढ, अकाल, अनेक विभिन्न राजनैतिक कार्यक्रमों को सम्मुख रखकर चन्दा मागती है, दान माँगती है। परन्तु वह किसी भी राजकीय कार्यक्रमों मे नागरिकों एव बुद्धि-जीवी वर्गो को दान नही देती। यह शास्त्रो की शिक्षाओ के प्रतिकूल है, बिलकुल उल्टी है। शासन कार्य के लिए क्षत्रिय वर्ग को शास्त्रों मे पारङ्गत होना चाहिए। तथा उसे बुद्धिजीवी वर्ग की आजीविकाओं को कभीकिसी भी प्रकार से नही छीनना चाहिए। उसे देने पर भी ग्रहण नही करना चाहिए। शासक वर्ग कभी भी अपने को अहिसक घोषित न करे। उसके लिए अहि-सक घोषित करना स्वयं के लिये नर्क जाने का मार्ग प्रशस्त करना है। महाभारत मे आता है कि जव अर्जुन ने कुरुक्षेत्र के मैदान मे अहिंसक वनने की इच्छा की तो तत्क्षण भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा वह तीक्ष्ण शब्दो मे भर्तिसत एवं उपालम्भित हुआ। उन्होने अर्जुन का उस समय तिरस्कार किया। और कहा "अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यम् अकीर्तिकरम् अर्जुन"। हे अर्जुन, यह अनार्योचित कार्य है। तुम्हारी यह अहिसक प्रवृत्ति, यह जो अहिसा व्रत

धारण है, यह तुम्हारे लिए अनुचित है। यह अराजक है। अधार्मिक है। क्षत्रिय को अवश्यमेव अपने व्यक्तित्व के अनुकूल सैनिक शिक्षा में पारङ्गत होना चाहिए। शौर्य-वीर्य में दीक्षित होना चाहिए। कायर व्यक्ति कभी भी प्रधानमत्री अथवा मत्री अथवा तत्तुल्य किन्ही अन्य पदों पर वोट के द्वारा, मतदान पद्धति से निर्वाचित नही होना चाहिए। प्राचीन काल में समस्त राजागण शौर्य एवं वीर्यसम्पन्न व्यक्तित्व थे। और वे न केवल भौतिक संपन्नता में अपितु आध्यात्मिक समृद्धियों में भी तथा न केवल अकेले वरन् प्राय: समूचे राज्य, साम्राज्य के साथ भी भगवत्प्राप्ति रूप जीवन की एकमात्र सुख शाँति एव एकमात्र सफलता को उपलब्ध करने में कृतकार्य हुए थे। इसलिए पुराणो मे वर्णित पद्धति से पुन. राजतत्र की ही प्रतिष्ठा होनी चाहिए। शर्त यही है कि राज्याभिषिक्त राजा अपने राज्योचित क्षत्रियोचित कर्तव्यो मे पूर्णतया निष्णात हो। अपने धर्म-पालन मे पूर्णतया दीक्षित हो। युद्ध में राजा अथवा मन्त्री कभी भी मैदान से शत्रु को पीठ दिखाकर वापस नही लौटते थे। परन्तु आजकल के तथाकथित राजा तो युद्ध भूमि मे जाते ही नही। वरन् दूर से ही सैनिकों को राष्ट्रीय गौरव की झूठी आशा दिलाते रहते है। वे वीरता का क्षणिक आवेश लाने के लिये कृत्रिम रूप से उन्हें उत्साहित करने में बड़े कुशल है। ज्यों-ज्यों क्षत्रिय वर्ग वैश्यवर्ग के रूप में परिणत होता जायगा, बनियों के स्वभाव को प्राप्त करता जायगा तथा नौकरी करना, सेवा का मूल्य माँगना आदि शूद्र वर्गोचित गुणों को, धारण करता जायगा, त्यों त्यों क्षत्रियोचित शासन की सम्पूर्ण व्यवस्था अशुद्ध हो जायगी, विषाक्त हो जायगी। वैश्य अथवा व्यापारी वर्ग विशेषकर गौरक्षा के लिए उपदिष्ट हुए है। गौरक्षा का अर्थ है दुग्ध आदि की अभिवृद्धि। दधि एवं मक्खन का उत्पादन, कृषि एवं अन्नादि पदार्थो का वितरण वैश्य वर्ग के व्यक्तियो के मौलिक एवं वास्तविक कर्तव्य है। तथा ये कर्तव्य-पालन वैदिक ज्ञान की आधारशिला पर आधारित होने चाहिए। उन्हें अपनी आय का अधिकतम अश दान में देना चाहिए। क्षत्रिय वर्ग नागरिकों की रक्षा के लिए नियुक्त किये गये है तथा वैश्य वर्ग पशुओं की रक्षा के लिए। पशुओं की हत्या सर्वथा निषिद्ध है। उनके पालन का प्रयोजन माँस की प्राप्ति नही थी। पशु की हत्या असभ्य समाज का लक्षण है। मानव के लिए कृषि से उत्पन्न अनाज, फल एवं दूध सर्वथा उचित एव स्वास्थ्यकर एवं आर्योचित भोजन तत्व है। मानव समाज पशुओं की रक्षा मे अत्यधिक जागरुक हो। औद्योगिक व्यवसायों में श्रमजीवियों की सृजना-

त्मिका शक्ति, मजदूरों की सृजनात्मिका ऊर्जा का दुरुपयोग होता है। बहुत प्रकार के ये उद्योग कारखाने मानव जाति के आवश्यक तत्वों का उत्पादन नही कर सकते। जैसे चावल, गेहूँ, अनाज, दूध, फल, शाक-सब्जियाँ आदि। ये फैक्ट्रीज ये कारखाने उपरोक्त जीवनोपयोगी पदार्थ उत्पन्न नही कर सकते। मशीनों का निर्माण एवं शौकिया वर्ग के लोगों की विलासिता की निम्नतम अभिरुचि सामान्य जनता में कृत्रिम जीवन की वृद्धि के लिए उत्तरदायी है। तथा हजारों लाखो व्यक्तियों को भूखे एव अशान्त रखने के लिए भी वे ही उत्तरदायी हो जाते है। सभ्यता का मापदण्ड कल कारखाने कभी भी नही होने चाहिए। शूद्रवर्ग के लोग अल्पबुद्धि होते है। और इसलिए उनकी स्वतन्त्रता स्थायी नही है। वे स्वतत्र हो नही सकते, रह नही सकते। स्वतन्त्र कर भी दिये जायें तो उसका दुरुपयोग करेगे। अतएव वे उच्च तीनों वर्गो की सेवा में नियुक्त किये गये है। शूद्र वर्ग के व्यक्ति जीवन की सुविधाये एवं आवश्यकताये तब प्राप्त करेंगे, जब वे बुद्धिजीवी वर्ग, शासक वर्ग एवं व्यापारी वर्ग की सेवा करेंगे। उनकी सहायताये करेगे। यह विशेष रूप से शूद्र का कर्तव्य बतलाया गया है कि वे धन एकत्रित न करे। ज्यों ही शूद्र धन एकत्रित करता है, वह निम्नतम कार्यो मे दुरुपयोग किया जाता है। जैसे सुरापान, व्यभिचार, द्यूतक्रीडा आदि। सुरापान, व्यभिचार एवं द्यूतक्रीड़ा मानव जाति की चेतना को निम्नतम धरातल की ओर पतित करता जाता है। और उनके धनिक होने के कारण अन्य वर्ग के लोग भी उनका अनुसरण करते है। और इसलिए शूद्रता का प्रसार होता है। शूद्रोचित गुणों का विस्तार होता है। और समाज विषाक्त हो जाता है। उच्चवर्ग के लोगों को सदा शूद्रो के पालन पोषण की ओर दृष्टि रखनी चाहिए। तथा सर्वदा सावधान रहना चाहिए ? उन्हे चाहिए कि वे शूद्र वर्ग को अपने धारण किये हुए पुराने वस्त्र एव पदार्थ उपयोग के लिए प्रदान करे।

शूद्र को अपने वृद्ध, असमर्थ, अपाहिज स्वामी का परित्याग नही करना चाहिए। तथा स्वामी को भी सभी क्षेत्रों मे सेवक को सदा सन्तुष्ट रखना चाहिए। शूद्र उपलब्ध भोजन एव वस्त्रो से सन्तुष्ट रहे। उच्चवर्णो को चाहिये कि सार्वजनिक यज्ञ यागादिकों के पूर्व शूद्रो को वस्त्र, भोजन एवं आवश्यक पदार्थो से सन्तुष्ट करे। इस युगमें बहुत से कार्यक्रमो मे लाखों और करोड़ों रुपये खर्च किये जाते है, परन्तु दीन एव दुखी व्यक्तियोको भोजन एवं वस्त्रो का दान नहीं किया जाता। इसीलिए श्रमजीवी वर्ग असन्तुष्ट बना

हुआ है। इसीलिये वे आये दिन हड़ताल करते रहते हैं। यत्र-तत्र वे सत्याग्रह करते पाये जाते है। इस प्रकार वर्ण मानव जीवन को व्यवस्थित करने के चार आवश्यक विभाग है। तथा आश्रम व्यवस्था जगत के लिये भगवत्प्राप्ति के पथ पर क्रमिक-विकास करने के चार, विभिन्न स्तर है। तथा वे दोनों अन्तर्सन्धित है, जुड़े हुए है। एक दूसरे पर अवलम्बित है। आश्रम-धर्म का मुख्य उद्देश्य जीवन मे वैराग्य एव ज्ञान का जागरण है। वैराग्य एव ज्ञान का अनावरण करना है। ब्रह्मचर्याश्रम मानव के लिए सभ्यता एवं आध्यात्मिकता की आधारशिला प्रस्तुत करता है। ब्रह्मचर्य आश्रम में इस बात की शिक्षा दी जाती है कि भौतिक जगत वास्तव में जीवो का निवास नही है। आश्रित जीव भौतिक बन्धनो के अन्तर्गत पदार्थो के गुलाम है। और इसलिए भगवत्प्राप्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है।

वर्णाश्रम धर्म की सम्पूर्ण प्रक्रिया का अर्थ है त्याग संन्यास की परिपक्वावस्था। और जो इस वैराग्य की प्रवृत्ति को जीवन में उन्मेष करने मे असमर्थ सिद्ध होता है। वह गृहस्थ जीवन मे प्रवेश करता है। गृहस्थ जीवन मे प्रवेश करने के लिए आदिष्ट होता है। परन्तु भोग के लिए नही, वरन् वैराग्य एव त्याग को ही दृष्टि के सम्मुख रखकर वह उसमे प्रवेश के लिए प्रेरित किया जाता है। इसलिए जिस व्यक्ति को परम वैराग्य की प्राप्ति हो गई है, वह किसी भी आयु मे संन्यासाश्रम स्वीकार कर सकता है। और इस प्रकार वह दान पर जीवन निर्वाह कर सकता है। परन्तु फिर भी उसे धन एकत्रित करने मे जीवन बर्बाद नही करना चाहिए, किन्तु शरीर निर्वाह एव भगवत्प्राप्ति के लिए जितनी आवश्यकता हो उतनी ही वस्तु स्वीकार करे। गृहस्थ जीवन उनके लिए है, जो आसक्त है, सांसारिक पदार्थो मे। वानप्रस्थ एवं संन्यास उनके लिए है जो जीवन के पदार्थों एवं महत्वाकॉक्षाओ से परम निवृत्ति को प्राप्त हो गये है जो भौतिक जीवन से मुक्त होना चाहते है। तथा ब्रह्मचर्य आश्रम विशेषकर उनके लिए है, जो आसक्ति एव विरक्ति दोनो ही चाहते है दोनों के लिए तैयारी कर रहे हैं।

[२७]

दानधर्मान् राजधर्मान् मोक्षधर्मान् विभागशः।
स्त्रीधर्मान् भगवद्धर्मान् समासव्यासयोगतः॥

दान-धर्मान्=दान के कार्य; राज-धर्मान्=राजाओं के कर्तव्य; मोक्ष-

धर्मान्=मोक्ष सम्बन्धी कर्तव्य; विभागश.=विभाग द्वारा, स्त्री-धर्मान्= स्त्रियों के कर्तव्य; भगवत्-धर्मान्=भक्तों के कार्य-कलाप, समास=सामान्यत:, व्यास=विशिष्ट रूप से, योगत:=माध्यमो द्वारा।

अनुवाद

इसके अनन्तर भीष्मदेव ने दान के विविध विभागो तथा राजा के विभिन्न शासकीय कार्यो का वर्णन किया। तथा मुक्ति प्राप्त करने के लिए स्वीकार किये जाने वाले विविध विधि-विधानों का भी वर्णन किया, तत्पश्चात् उन्होने स्त्रियो एव भक्तों के कर्तव्यो का सक्षेप एव विस्तार से वर्णन किया।

तात्पर्य

दान देना गृहस्थ जीवन के लिए मुख्य कर्तव्य है। उसे अपने पसीने बहाकर अर्जित किये हुए धन का ५०% दान देने के लिए सदा तैयार रहना चाहिए। ब्रह्मचारी या विद्यार्थी को यज्ञ करना चाहिए। तथा गृहस्थ को यज्ञ कराना एव दान देना चाहिए तथा जो व्यक्ति व्यावहारिक जीवन से मुक्त हो गया है, उसे वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करना चाहिए तथा कठोर तपस्या करनी चाहिए, नियमो का पालन करना चाहिए। भगवत्प्राप्ति के मार्ग मे कर्तव्यो की यही रूप रेखाएँ है। ब्रह्मचर्य जीवन मे यह शिक्षा भलीभाँति प्राप्त होनी चाहिए कि ससार की यह समस्त सम्पत्तियाँ उस परमात्मा की ही है, भगवान् की ही है। इसलिए कोई भी उसके स्वामी होने का दावा नही कर सकता। अतएव गृहस्थ जीवन मे जो यौन सुख का एक क्षणिक अवकाश है, उसको लक्ष्य नही बना लेना चाहिए, बल्कि उसे भगवत्सेवार्थ समर्पित करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति भगवत् शक्ति से ही उधार ली गई है। इसलिए इन शक्तियो से हमें जो लाभ प्राप्त होता है, वह भगवत्सेवा मे समर्पित किया जाना चाहिए। जिस प्रकार नदियाँ समुद्र से मेघो के माध्यम से जल प्राप्त करती है तथा दूर-दूर बहाकर पुन. समुद्र को वापस दे देती है, उसी भाँति हमारी शक्तियाँ भी भगवान्के परम-उत्स से प्राप्त हुई है। ये भगवान् की ही शक्तियाँ है अत अवश्यमेव ये उन्ही को समर्पित होनी चाहिए। यही शक्ति की परिपूर्णता है। इसलिए भगवान् भगवद्गीता के (९-२७) मे कहते है कि तुम जो कुछ करते हो, जो कुछ तुम तप करते हो, यज्ञ करते हो, जो कुछ तुम खाते हो, जो कुछ तुम दान देते हो वह सब मुझे ही

समर्पित कर दो। यही उधार ली गई शक्तियों एवं उनसे उपलब्ध वस्तुओ की आत्यन्तिक सफलता एव उपयोगिता है। जब शक्ति इस रूप मे उपयोग की जाती है; तब वे शक्तियाँ भी परिशोधित एवं परिमार्जित हो जाती है। उसमे भौतिकता की कलुषता नहीं रह जाती, भौतिक संसर्गो के बन्धन कारक प्रभाव नही रह जाते। और इस प्रकार हम अपने मौलिक तथा सहज स्वाभाविक जीवन को उपलब्ध हो जाते है, जिसका एकमात्र लक्षण है—भगवान् का अनादिकालीन परम अन्तरङ्ग नित्य दास्य भाव।

राजधर्म एक महान् विज्ञान है तथा आधुनिक राजनीतिक षड्यन्त्रो, राजनीतिक दाव पेचों से इसका कोई सम्बन्ध नही है। यह उनसे सर्वथा पृथक् है। राजा एक धर्म-पिता की भाँति दीक्षित किया जाता था। वह केवल कर लेने वाला कठोर नियंत्रक ही नही होता था। वह प्रजा की आत्यन्तिक समृद्धि के लिये विभिन्न यज्ञ यागादिकों की आयोजनाओ मे दीक्षित होने के लिये धर्म-बन्धन से बँधे हुए थे। उन्हें धर्म-बन्धन से बाँधा जाता था। प्रजा को मोक्ष मार्ग मे प्रशस्त करना, अग्रसर करना उनका प्रधान कर्तव्य था। पिता गुरु तथा राजा को प्रजा की जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि से आत्यन्तिक मुक्ति के संदर्भ मे, परव्योम में नित्य मुक्ति प्राप्त करने मे उचित मार्ग प्रशस्त करने एवं तत् सम्बन्धी सुख सुविधाये जुटाने में कभी अनुत्तरदायी सिद्ध नही होना चाहिए। जब ये कर्तव्य उचित रूप से निभाये जाते है, तब जनता के द्वारा, जनता के लिये जनता की सरकार की अर्थात् लोकतन्त्र की आवश्यकता नही रह जाती। आधुनिक युग में जनता मतो के द्वारा शासन-सत्ता अधिकृत करते है, परन्तु वे राजा के वास्तविक कर्तव्य पालन के सम्बन्ध में शिक्षित एव दीक्षित नही किये जाते। इस प्रकार वे शासकीय कर्तव्यों के पालन मे सच्चे नही होते। ये कर्तव्य पालन मे अदीक्षित, अयोग्य शासक यदा-कदा शासन के सम्पूर्ण क्षेत्रों में उपद्रव खड़ा करते है और क्रमशः वे अधिक लोभ प्रधान एव निर्दयी प्रकृति के होते चले जाते है। इनकी अभिरुचि एकमात्र अर्थ वृद्धि के लिए केवल करवृद्धि मे ही रह जाती है तथा शासन पूर्णतः एक व्यवसाय हो जाता है। वास्तव मे सुशिक्षित ब्राह्मण का प्रधान कर्तव्य यही है कि वह राजाओं को उचित मार्ग का दर्शन करावे। ताकि मनुसंहिता पाराशर सहिता आदि के अनुसार वह अपना शासन कार्य चलाये। आदर्श राजा सामान्य जनता के सामान्य मानवोचित गुणों में आदर्श होता है। यदि राजा धर्मात्मा हो, सदाचारी हो, सौन्दर्यवान हो, साहसी हो तो सामान्य नागरिको द्वारा उसका अनुगमन

किया ही जाता है। ऐसे राजा प्रजाओं के जीवन की कीमत पर अपनी इन्द्रियो की तृप्ति के गुलाम एवं प्रमादी नही होते, वरन् सदा जागरूक होते है। तथा चोरों और डाकुओ के लिए यमदण्ड धारण किये हुए होते है। सदाचारी राजा कभी चोरो और डाकुओ के प्रति दयालु नही होते। वे कायरता के प्रतीक तथाकथित अहिसा का व्रत नही धारण करते। सदाचारी राजाओ के द्वारा चोर एव डाकू इस प्रकार से दण्डित किये जाते है ताकि राजनैतिक सगठन के अन्तर्गत कोई अन्य व्यक्ति इस प्रकार गर्हित कार्य करने का साहस न कर सके। तथा वे भी शासन के साथ इस प्रकार दगा न कर सके। कर प्रक्रिया अत्यन्त सरल थी। उसमे कोई शक्ति का उपयोग नही किया जाता था न कोई धमकी दी जाती थी। राजा को अधिकार था कि प्रजा के उत्पादन का चतुर्थांश वह स्वीकार करे। सदाचारी राजा कोई जोर जवरदस्ती नही करते थे। क्योकि उनके पास स्वाभाविकही धन अनाज फल-फूल, रेशम, सूत, दूध, रत्न खनिज आदि वहुत अधिक मात्रा मे उपलब्ध थे। इसलिये कोई भी भौतिक दृष्टि से दुखी नही था, अभावग्रस्त नही था। नागरिक कृषि कार्यो मे प्रचुर धन-सम्पन्न थे। पशु पालन मे अत्यन्त कुशल थे। यद्यपि उनके पास कृत्रिम आवश्यकताये जैसे साबुन, कास्मेटिक्स सिनेमा, वार आदि नही थे तथापि उनके पास पर्याप्त अनाज, दूध, फल, आदि अवश्य थे।

राजा को देखना चाहिए कि मानव को उपलब्ध सचित शक्ति का उचित उपयोग हो रहा है अथवा नही। मानव ऊर्जा वास्तव मे पाशविक प्रवृत्तियो की तृप्ति के लिए नही है, किन्तु भगवत्प्राप्ति के लिए है। सम्पूर्ण शासकीय सत्ता को विशेष रूप से इस विशिष्ट आवश्यकता की पूर्ति के प्रति जागरूक होना चाहिए तथा राजा को अपनी ससद में स्वय ऐसे मन्त्रियो की प्रतिष्ठा करनी चाहिए जो परम धार्मिक हों। मतदान की प्रक्रिया से उनकी प्रतिष्ठा नही करनी चाहिए। वरन् स्वयं ही उनका चयन करना चाहिए। उनमे मन्त्रियोचित गुण, सैनिकोचिन शिक्षा, सामान्य सैनिकोचित् गुण, विशिष्ट व्यक्तित्व, आदि का भली भाँति परीक्षण कर उन्हें अपनी ससद सभा का सदस्य वनाना चाहिए। राजा को सदा तपस्वियो की सुरक्षा के लिए तथा उन व्यक्तियो की सुरक्षा के लिए अधिक आग्रहशील एव तत्पर रहना चाहिए,जिन्होने अपना जीवन भगवान् के लिए न्यौछावर कर दिया हो आध्यात्मिक ज्ञान के लिए जिन्होंने अपना जीवन अर्पित कर दिया हो। ऐसे भक्तो का कभी निरादर नही होना चाहिए। प्राचीन राजा भली भाँति

जानते थे कि भगवान् कभी भी अपने अनन्य भक्तो का निरादर सहन नही कर सकते। यहाँ तक कि ऐसे तपस्वी गण तो चोरों एवं डाकुओ द्वारा भी सम्मानित एव विश्वसनीय होते है। राजा को साहित्य की, वाड्मय की सदा रक्षा करनी चाहिए। असहायों एव विधवाओं की विशेप सुरक्षा होनी चाहिए। उनकी सुरक्षा विशिष्ट रूप से रखनी आवश्यक है। कर प्रकिया सरल हो। यह शोपण का प्रतीक न हो; किन्तु कोप की सुरक्षा के लिए हो। सैन्य जगत् के समस्त भागो से चयन किये जाने चाहिए और उनके विशिष्ट कर्तव्यो मे वे पूर्णत दीक्षित एव शिक्षित किये जाने चाहिए।

जहाँ तक मोक्ष का सम्वन्ध है सर्व प्रथम व्यक्ति को काम, क्रोध एव अनैतिक विचारो, ईर्ष्या एवं चञ्चलताओ पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। क्रोध से स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को क्षमा की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को अनैतिक विचारों से उन्मुक्त होने के लिए एक विशिष्ट आध्यात्मिक परिशोधन के द्वारा,आध्यात्मिक अनुशासन के द्वारा निद्रा पर विजय, सहनशीलता के द्वारा अनैतिक विचारो एव ईर्ष्या पर विजय तथा दुराचार से उत्पन्न रोगों पर विजय पाने के लिए खान पान सम्बन्धी अनुशासन का पालन करना चाहिए। आत्म नियन्त्रण के द्वारा मनुष्य मृगतृष्णावत् झूठी आशाओ से मुक्त हो सकता है तथा अनर्गल व्यर्थ ससर्ग का परित्याग करने पर धन का अपव्यय वन्द हो जायगा। योग के अभ्यास से क्षुधा पिपासा पर विजय प्राप्त की जा सकती है। सासारिकता पर ससार के क्षणभगुरत्व अस्थायित्व का चिन्तन करके विजय प्राप्त की जा सकती है। पूर्ण जागरूकता से ऊँघने पर विजय प्राप्त की जा सकती है। अनर्गल प्रलापों पर विजय प्राप्त करने के लिए वास्तविक तत्व का परिज्ञान एवं निर्णयात्मिका बुद्धि आवश्यक है। शव्दादिक विषयो पर विजय एव मन शान्ति के लिए मौन धारण अपेक्षित है। शक्ति सम्पन्नता से भय पर विजय तथा आत्म परिष्कार से पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। काम, क्रोध, ईर्ष्या, कालुष्य आदि पर विजय मोक्ष की प्राप्ति मे अत्यन्त अनिवार्य तत्व है।

जहाँ तक स्त्री वर्ग का सम्वन्ध है वे मानव के लिए एक प्रेरणा के स्रोत है जैसे कि स्त्रियाँ मनुष्य से अधिक शक्तिमान् होती है। अत्यन्त शक्तिशाली जूलियस सीजर, एक क्लियोपेट्रा से नियन्त्रित हुए थे, तथा ऐसी नारियाँ लज्जा से नियन्त्रित होती हैं। इसलिए लज्जा स्त्रियों में वहुत महत्वपूर्ण तत्व है। एक वार यह नियन्त्रणकारी मूल्यवान तत्व खो गया,

कि स्त्रियो में स्त्रीत्व समाप्त होकर एक उपद्रव, एक उत्पात वच रहता है, एक विप्लव रह जाता है और व्यभिचार के द्वारा समाज मे विद्रोह का कारण बनती है। व्यभिचार का अर्थ है अनिच्छित सतति की उत्पत्ति जो वर्णसकर के नाम से जानी जाती है और विश्व मे जो मानव समाज की पवित्रता के लिए एक महान् अभिशाप है।

अन्त मे भीष्मदेव ने शिक्षा दी उसकी जो जीवन का चरम गहन तत्व है और वह है भगवान् की प्रीति संपादन की प्रक्रिया। हम सव अपने वास्तविक स्वरूप मे भगवान् के नित्य दास है, और जव इस स्वाभाविक स्वत सिद्ध स्वरूप को भूल जाते है तव सामारिक वन्धनो की गुलामी को उपलब्ध होते है। भगवान् की प्रीति सम्पादन का एक उत्तम उपाय विशेष कर गृहस्थों के लिए यह है कि वे अपने घर मे भगवत् विग्रह की स्थापना करे। उन पर अपना चित्त स्थापन करे। उनके अर्चन पूजन के कार्यक्रम के अनन्तर ही दैनिक कार्यो मे सलग्न हो गृह मे भगवान् तथा भक्तो की सेवा तथा श्रीमद्भागवत का श्रवण तीर्थ स्थान मे निवास भगवन्नामो का उच्चारण ये सव बहुमूल्यतम् तत्व है जिनके द्वारा भगवान् प्रसन्न होते है। पितामह भीष्म के द्वारा अपने पौत्रों को यह विशिष्ट गूढतत्व भलीभाँति समझाया गया।

[२८]

धर्मार्थकाममोक्षांश्च सहोपायान् यथा मुने।
नानाख्यानेतिहासेषु वर्णयामास तत्त्ववित् ॥

धर्म=धर्म, अर्थः=आर्थिक विकास, काम=इच्छाओं की पूर्ति, मोक्षान्=आत्यन्तिक लक्ष्य; च=और, सह=साथ, उपायान्=उपायों से, यथा=जैसे मुने=हे मुनि, नाना=बहुत से, आख्यान=ऐतिहासिक गाथाओ, इतिहासेषु=इतिहास में, वर्णयामास=वर्णन हुए, तत्त्ववित् =तत्वज्ञ।

अनुवाद

तदनन्तर उन्होने चारो वर्णो, आश्रमों तथा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष

सम्वन्धी अनेक कर्तव्यों का वर्णन किया तथा इतिहास एवं पुराणो से तत्सम्वन्धित अनेक आख्यान सुनाये। क्योकि वे स्वय तत्वज्ञान मे पूर्णत निष्णातथे।।

तात्पर्य

वैदिक वाड्मय मे जिन आख्यानों का वर्णन हुआ है तथा रामायण, महाभारत एव पुराणो मे जिन कथाओ का वर्णन है वे सब ऐतिहासिक घटनाएं है जो भूतकाल मे घटित हुई थी। यद्यपि उनमे कालक्रम का व्यतिरेक पाया जाता है, तथापि ऐसे ऐतिहासिक तथ्य जो मानव मात्र के लिए अत्यन्त प्रेरणाप्रद थे, विना कालक्रम की चिन्ता किये उच्च आदर्शो के ज्वलन्त उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किये गये है। वे विभिन्न लोको, अन्य विश्वो में घटित घटनाएँ हो सकती है इसके अतिरिक्त पौराणिक गाथाओ की उपयोगिता आध्यात्मिक, आधि-दैविक एवं आधिभौतिक इन तीन दृष्टियो से सुनिश्चित की जाती है। उनके श्रवण मनन से उपलब्ध होने वाले परिणामों एव शिक्षाओ मे ही हमे सन्तुष्ट होना चाहिए। उनकी वास्तविकता हमारी सीमित इन्द्रियो द्वारा ज्ञेय एव ग्राह्य नही है। भीष्मदेव ने अपनी अति मानवीय शक्ति से उनका रहस्य जानकर महाराजा युधिष्ठिर के समक्ष उनके प्रश्नों का उत्तर देते हुए अनेको आख्यानो का वर्णन किया।

[२६]

धर्मं प्रवदतस्तस्य स कालः प्रत्युपस्थितः।
यो योगिनश्छन्दमृत्योर्वाञ्छितस्तूत्तरायण.॥

धर्मं = जीवन के कर्तव्य, प्रवदत = वर्णन करते हुए, तस्य = उसका, स = वह, काल. = समय, प्रति-उपस्थित = सम्मुख आ उपस्थित हुआ, य = जो, योगिन: = योगियों के लिए, छन्दमृत्यु: = इच्छामृत्यु; वाञ्छित = जैसी अभिलाषा की, उत्तरायण: = उत्तरायण के सूर्य के समय।

अनुवाद

इस प्रकार भीष्मदेव के द्वारा चारों वर्णो एवं आश्रम धर्मो का वर्णन हो ही रहा था कि सूर्य का वह उत्तरायणकाल ओ उपस्थित हुआ इच्छामृत्यु की सिद्धि प्राप्त योगी भी मृत्यु के लिए जिसकी आकांक्षा करते है।

तात्पर्य

पूर्ण सिद्ध योगी अथवा रहस्यवादी अपने भौतिक शरीर का त्याग अपनी इच्छानुसार उचित समय मे तथा उचित स्थान मे अभीष्ट लोक मे जाने के लिए करते है श्रीमद्भगवद्गीता (८।१४) मे वर्णित है कि भगवत्प्राप्त पुरुष, जो भगवान् की इच्छानुसार ही इच्छा करता है वह अपने भौतिक शरीरका त्याग तव करता है जव अग्निदेवकी ज्योति अपनी प्रखरतम अवस्था मे होती है। सूर्य उत्तारायण मे होते है। इसप्रकार वे अप्राकृत आकाश की प्राप्ति करते है। यह समय शरीर त्याग के लिए अत्यन्त शुभ माना गया है। और उनका लाभ रहस्यमय योगियोके द्वारा एक विशिष्ट प्रक्रियासे लिया गया है। पूर्णयोगी का अर्थ है जिन्होने चेतनाकी अतिमानवीय अवस्था को प्राप्त कर लिया है। इस शरीर को जब चाहे तव त्यागने मे योग्य हो गए है वे किसी भी दूरस्थ लोक मे अत्यन्त अल्पकाल मे पहुँचने मे समर्थ होते है। भौतिकवादी व्यक्ति के लिए यह सर्वथा असम्भव है। निकटस्थ ग्रहों मे पहुँचने के लिए भी उन्हे हजारो मील प्रति घटे के हिसाव से चलने वाली वायुयान से वर्षो उडने पर भी वे पहुँचने में असफल रह जाते है। उनके लिये यह असम्भव है। परन्तु भीष्मदेव इनसे पूर्णतया अवगत थे। वे प्रतीक्षा कर रहे थे कि उनके भौतिक शरीर के त्याग के लिए उचित अवसर उपलब्ध हो सके। जव वे अपने पौत्र पाण्डवों को जीवन की समस्त आवश्यक शिक्षाएं दे चुके तव वह स्वर्णिम अवसर उनके समक्ष आ उपस्थित हुआ। उन्होने परम सम्मान्य भगवान् श्रीकृष्ण के सम्मुख अपने प्राण त्याग करने की पूर्ण तैयारी कर ली। सव ऋषि मुनिगण एवं पाण्डव, व्यास, वहुत मे पाण्डव परिवार के सदस्य अत्यन्त आश्चर्य एव शोकमय दृष्टि से उन्हे देख रहे थे।

[३०]

तदोपसंहृत्य गिरः सहस्रणी
विमुक्तसङ्गं मन आदिपूरुषे।
कृष्णे लसत्पीतपटे चतुर्भुजे
पुरःस्थितेऽमीलितदृग्व्यधारयत् ॥

तदा==उस समय; उपसंहृत्य=उपसहार का, गिरः=वाणी को

सहस्रणीः=भीष्मदेव (जो सहस्रों विज्ञान एवं कलाओं में पारङ्गत थे); विमुक्त-सङ्गम्=पूर्णत. मुक्त; मन.=मन, आदि-पुरुषे=आदि पुरुष भगवान् मे; कृष्णे=भगवान् श्रीकृष्ण मे; लसत्-पीत-पटे=सुन्दर पीताम्बर से सुशोभित; चतुर्भुजे=चार भुजायें धारण करने वाले नारायण; पुरः=सम्मुख; स्थिते=स्थित; अमीलित=खुले हुए; दृक्=दृष्टि; व्यधारयत्=संलग्न किया, एकाग्र किया।

अनुवाद

वे महापुरुष जो विभिन्न विषयों पर सहस्रों गूढार्थिनी रहस्यमयी वाणी का उच्चारण कर रहे थे तथा जिन्होंने सहस्रों योद्धाओं से युद्ध किया था। तथा जिन्होने सहस्रों व्यक्तियों की रक्षा की थी; वे सहसा मौन हो गये तथा समस्त बन्धनों से स्वयं को मुक्त कर मन का संयमन किया। तथा अपने परिपूर्ण विकसित नेत्रों से भगवान् श्रीकृष्ण का साक्षात्कार करने लगे उनकी ओर देखने लगे जो उनके सामने ही खड़े थे पीताम्बर धारण किये हुए और उनके समस्त आभूषण उज्ज्वल दीप्तिमान प्रकाश विकीरित कर रहे थे।

तात्पर्य

यहाँ पर भीष्मदेव के द्वारा भौतिक देह के परित्याग का आदर्श उपस्थित किया गया है। यह मानव जीवन का अत्यन्त गूढ़ प्रसङ्ग है। उस अवसर पर व्यक्ति को जो वस्तु तत्व आकृष्ट करता है वह नये जीवन का प्रारम्भ बनता है। यदि व्यक्ति भगवान् श्रीकृष्ण के विचारों में तन्मय हो जाय तो नि.स्सन्देह वह भगवान् को ही प्राप्त होगा। भगवद्गीता के ८ वें अध्याय के पाँचवें से पन्द्रहवें श्लोक तक इसका प्रतिपादन होता है।

५. जो कोई भी व्यक्ति मृत्यु काल में अपने शरीर को छोड़ता हुआ अकेले मुझे ही स्मरण करता है वह तत्क्षण मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है। इसमें कोई सन्देह नही है।

६. अन्तकाल मे जो जिस-जिस भाव को स्मरण करके देह त्यागता है वह उसको ही प्राप्त होता है।

७. इसलिए हे अर्जुन तुम्हें मेरा ही चिन्तन करना चाहिए। तथा युद्ध भी करना चाहिए। तथा मेरे प्रति समर्पित होना चाहिए। मन और बुद्धि से मुझ में तन्मय हुए नि सन्देह तुम मुझे ही प्राप्त होओगे।

८ जो मुझ भगवान् में ही ध्यान मग्न रहते है चित्त को निरन्तर मुझ में ही समाहित करते रहते है। वे मेरी प्राप्ति के मार्ग से अविचलित रहते हुये हे पार्थ,,निश्चित ही मुझे प्राप्त करते है।

९. जो भगवान् को सर्वज्ञ, अनादि, सर्व नियन्ता, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म सर्व प्रतिपालक, अचिन्त्य स्वरूप, अविद्या से परे, सूर्य सदृश प्रकाशवान् तथा जो सदा मानवाकार विग्रह धारण किये हुये है, वह मुझ सच्चिदानन्द परमात्मा को ही प्राप्त होते है।

१०. जो मृत्युकाल में अपने प्राणों को भ्रूमध्य में स्थापित करता है तथा भक्ति पूर्वक मेरा स्मरण करता है, वह साक्षात् मुझे ही प्राप्त होता है।

११. वेद को जानने वाले विद्वान जिस सच्चिदानन्दघन मेरे स्वरूप को ॐकार कहते हैं। और अनासक्त रहकर सतत उसकी प्राप्ति के अभ्यास मे सलग्न महात्मागण ब्रह्म मे प्रवेश करते है तथा जिसको प्राप्त करने वाले प्राप्ति की इच्छा से ब्रह्मचर्य व्रत का आचरण करते है उस परमपद को मै तुम्हारे लिए वर्णन करूँगा।

१२. इन्द्रियों को बाह्य विषयो से निवृत्त कर तत्पश्चात् उनके द्वारों को रोक कर तथा मन को हृदय में स्थापित कर तथा प्राणो को ब्रह्मरन्ध्र मे स्थापित कर योग में अवस्थित हो।

१३. योग मे प्रतिष्ठित होकर ॐ इस अक्षर ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ यदि कोई मेरा चिन्तन करता हुआ शरीर त्याग करे तो नि.सन्देह वह परम गति को प्राप्त करता है।

१४. जो अनन्य भाव से अविच्छिन्न गति से मेरा चिन्तन करता है हे पार्थ मै उसके लिए अति सुलभ हूँ क्योकि वह प्रेममयी सेवा में निरन्तर संलग्न है।

१५. मुझे प्राप्त होने के पश्चात् वे भक्ति योगी कभी भी अनन्त दुख समाकुल क्षणभगुर जगत् मे वापस नही लौटते। क्योकि उन्होने मुझ में जीवन की सर्वोच्च परिपूर्णता प्राप्त कर ली।

श्रीभीष्मदेव मृत्युकाल में मनोनीत भगवान् श्रीकृष्ण को अपने सम्मुख पाकर कृतार्थ हो गये। इसलिए उन्होंने खुले नेत्रों से एकटक देखना प्रारम्भ किया। अत्यन्त प्रेम में भरकर वे भगवान् श्रीकृष्ण को देखते ही रहे, देखते ही रहे। उन्होंने चाहा उनका यह दर्शन अनन्त हो जाये। वे सच्चे भक्त थे अत उन्हे मृत्युकाल में यौगिक नियमों एवं अनुष्ठानो की आवश्यकता न थी केवल सरल भक्ति योग उनके जीवन की परिपूर्णता के लिए पर्याप्त था। इसलिए भीष्मदेव की एकमात्र अन्तिम अभिलापा यही थी कि भगवान् श्रीकृष्ण को नेत्रों के सम्मुख प्रत्यक्ष देखे। देखते हुए ही देह त्याग करे। भगवत् कृपा से परम सौभाग्य से अन्तिम साँस लेते हुए उन्हे यह मनोवाँछित लाभ प्राप्त हुआ।

[३१]

विशुद्धया धारणया हताशुभ-
स्तदीक्षयैवाशु गतायुधाश्रमः।
निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्तिविभ्रम-
स्तुष्टाव जन्यं विसृजञ्जनार्दनम् ॥

विशुद्धया=विशुद्धता के द्वारा, धारणया=धारण के द्वारा; हत-अशुभ=दोषों के परित्याग के द्वारा; तत्=उसे; ईक्षया=देखकर; एव=ही, आशु=शीघ्र; गता=चले गये; युध=वाण; श्रम.=श्रम, निवृत्त=तत्क्षण रुक गई; सर्व=सव; इन्द्रिय=इन्द्रियाँ; वृत्ति=वृत्तियाँ; विभ्रमः=निरन्तर संलग्न; तुष्टाव=सतुष्ट किया; जन्यम्=भौतिक आसक्ति; विसृजन्=देह त्याग करते हुए; जनार्दनम्=जीवों के नियंत्रक।

अनुवाद

विशुद्ध ध्यान योग के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण का अवलोकन करते हुए भीष्मदेव प्राकृत वन्धनों से मुक्त हो गये। एवं वाणों के चुभने से हो रही असहनीय इन्द्रियों की वेदना सर्वथा रुक गई। तदनन्तर सम्पूर्ण जीवों की इन्द्रियों के नियत्रक भगवान् श्रीकृष्ण की उन्होने प्रार्थना भ की।

र भौतिक ऊर्जा का प्रतिफलन है। जो एकमात्र भ्रम
क देह से तादात्म्य रूपी भ्रम अपने अनादि भगवत्-
का ही परिणाम है। भीष्मदेव की भाँति विशुद्ध भक्त
पीडा तभी तत्क्षण समाप्त हो जाती है जब वे भगवान्
ते है। भगवान् श्रीकृष्ण सूर्य की भाँति है तथा बाह्य
ार की भाँति है। उनके प्रकाश मे इस अन्धकार के रुक
वना नही है। भगवान् श्रीकृष्ण के आगमन के साथ ही
का लेश, भौतिकता का ससर्ग तक समाप्त हो गया और
रने में समर्थ हो गये। अपनी इन्द्रियों को स्तब्ध कर
ी सामर्थ्य उनमे आ गई। इन्द्रियाँ जो अब तक बाह्य
वित हो रही थी वे सहसा रुक गईं। आत्मा स्वभावत·
न्द्रियाँ भी शुद्ध है। केवल भौतिक तादात्म्य से वे अपवित्र
ाम्बन्ध से, भगवत् ससर्ग से उनकी पवित्रता पुनः प्राप्त
वनता अक्षुण्ण हो गई। भीष्मदेव मरण के पूर्व ही उन
। सम्पन्न हो गये जो भगवान् के नित्य धाम प्राप्त करने
ापेक्षित है। भगवान् ही जीवो के एकमात्र नियन्त्रक है

ात्यो नित्यानाम् चेतन श्चेतनानाम्।
को बहूनां यो विदधातु कामान्॥
(कठ उपनिषद)

जीवों में सर्वोच्च नित्यता है और वे अकेले ही सभी
ताये निरन्तर पूर्ण करते है। उन्होंने अपने महान् भक्त
लाषा पूर्ण की। इसलिए भीष्मदेव उनकी कृपा मे
गद्गद् होकर निम्नलिखित श्लोकों द्वारा प्रार्थना कर

[३२]

भीष्म उवाच

मतिरुपकल्पिता वितृष्णा
भगवति सात्वतपुङ्गवे विभूम्नि।

स्वसुखमुपगते क्वचिद्विहर्तुं
प्रकृतिमुपेयुषि यद्भवप्रवाहः ॥

श्री भीष्मः उवाच=श्री भीष्मदेव बोले; इति=ऐसा, मति =सोचते हुए, उपकल्पिता=सलग्न किया, वितृष्णा=इच्छाओं से स्वतत्र, भगवति= भगवान्, सात्वत-पुङ्गवे= भक्तों के नेता; विभूम्नि=उन महान् पुरुष को, स्व-पुखम्=आत्म सन्तुष्टि; उपगते=जिन्होंने इसे पाया है उन्हें. क्वचित्= कभी-कभी, विहर्तुम्=दिव्य सुख के आधिक्य से; प्रकृतिम्=भौतिक जगत् में, उपेयुषि=स्वीकार किया करते है, यत् भव=जिससे इस सृष्टि का, प्रवाहः=उत्पत्ति एवं प्रलय का चक्र चलता है ।

अनुवाद

भीष्मदेव बोले अव मै अपनी भावनाये कामनाये एव विचार जो अव तक विभिन्न सासारिक कर्तव्यों एव विषयों में सलग्न थी सर्वशक्तिमान भगवान् श्रीकृष्ण के चरण कमलो मे सन्निहित करता हूँ । वे सदा आत्मा से आत्मा में ही सन्तुष्ट बने रहते है । परन्तु कभी-कभी अपने आनन्दमय स्वरूप मे स्थित रहते हुए ही क्रीडा करने की इच्छा से अपने भक्तों पर कृपा करने की इच्छा से प्रकृति को स्वीकार कर लेते है ।

तात्पर्य

भीष्मदेव एक राज्य के अधिपति थे कुरुवश के प्रधान थे । महान् योद्धा थे । क्षत्रियो के नेता थे, अत उनकी मति अनेक विषयों में उलझी हुई थी उनके विचार उनकी भावनाये उनकी कामनाये विभिन्न राजनैतिक विषयों मे उलझी हुई थी । अव भगवान् की पवित्र प्रेमाभक्ति की प्राप्ति के लिए वे चाहते है कि अन्य विपयों मे सलग्न सारी शक्तियाँ सम्पूर्ण रूप से श्रीकृष्ण मे सन्निहित हो जायें । वे यहाँ भक्तो के नेता के रूप में सम्बोधित किये गये है । वे महाशक्तिमान् कहे गये हैं । यद्यपि श्रीकृष्ण स्वय भगवान् के अनादिकालीन मौलिक स्वरूप है । तथापि इस जगत मे अपने भक्तो पर कृपा वर्षा करने के लिए वरदान के रूप मे भक्तिमयी सेवा प्रदान करने के लिए अवतीर्ण होते है । वे कभी-कभी भगवान् श्रीकृष्ण की भाँति जो उनका

वास्तविक स्वरूप है अवतरित होते है तथा कभी-कभी भगवान् श्रीचैतन्य के रूप मे आविर्भूत होते है। दोनों विशुद्ध भक्तों के सेव्य है। भगवान् के विशुद्ध भक्तो को प्रेममयी सेवा के अतिरिक्त कोई कामना नही रहती। इसलिए वे सात्वत कहलाते है। भगवान् ऐसे सात्वतों के प्रमुख है भीष्मदेव को अन्य कोई अभिलाषा नही है वे सात्वत है। जब तक कोई व्यक्ति समस्त भौतिक कामनाओं से मुक्त होकर विशुद्ध न हो जाय तब तक भगवान् उनके सम्मुख प्रकट नही होते। मनुष्य का हृदय एवं मस्तिष्क कभी भी सर्वथा विचार रहित नहीं किया जा सकता, धोया नही जा सकता परन्तु वे परिष्कृत होते हैं, परिशोधित हो सकते है। यह भगवद्गीता में साक्षात् भगवान् से समर्थित हुआ है कि अपनी प्रेममयी सेवा में निरन्तर सलग्न रहने वाले उनमें तत्पर रहने वाले भक्तों के हृदय मे वे स्वयं ज्ञान स्फुरित करते है। अपने स्वरूप का गुह्य ज्ञान निक्षिप्त करते है। ऐसी शिक्षायें भौतिक कारणों एवं प्रयोजनों के लिए नही दी अपितु भगवद्धाम प्राप्त करने के लिए दी गई है। भगवद्गीता (७-२८) में कहा गया है--जो व्यक्ति प्रकृति को अधिकृत करना चाहते है। ऐसे अभक्तों के लिए भगवान् उनके कर्मो के केवल साक्षी होते है। भगवद्धाम की ओर अग्रसर होने के लिए प्रेरणा नही करते, (१०-१०) उनके हृदय में अध्यात्म ज्ञान स्फुरित नही करते। यही भगवान् के विभिन्न जीवों एवं भक्तों की बीच व्यवहार की भिन्नता रेखा है। भक्त एव अभक्त के बीच यही भगवान् के व्यवहार की भेद रेखा है। वे सम्पूर्ण जीवों के नेता है जैसे राजा सम्पूर्ण राज्य का शासक होने के साथ कैदियों का भी शासक है तथा स्वतंत्र नागरिकों का भी शासक है। तथापि उनके प्रतिव्यवहार भिन्नभिन्न है,उसी तरह भगवान् का व्यवहार भी भिन्नभिन्न है। अभक्त भगवान् का साक्षात् ज्ञान प्राप्त करने के लिए कभी उत्सुक नही होते वे परवाह नही करते और इसलिए उनके सम्बन्धमें भगवान् भी मौनधारण किये हुए होते है यद्यपि उनके समग्र कर्मो के वे साक्षी होते हैं और उन कर्मों के अनुरूप फलों की प्राप्ति भी वे ही कराते है तथापि इन भौतिक बुराइयों एवं अच्छाइयों से ऊपर होते हैं। एवं निरन्तर वे दिव्यता की ओर अग्रसर होते जाते है। उधर ही उत्क्रमण, आरोहण करते होते हैं। अतएव उन्हे कोई भौतिक अभिलाषाये नही होती। भक्त केवल भगवान् श्रीकृष्ण को चाहता है उन्हें आदिपुरुष नारायण जानता है क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण अपने अंश से ही कारणोदक शायी भगवान् विष्णु के रूप में प्रादुर्भूत होते हैं। ये कारणोदकशायी विष्णु ही प्राकृत जगत के अनादि कारण है। एवं भगवान् भी अपने भक्तों का संसर्ग, सम्पर्क चाहते हैं इस पृथ्वी पर उनके

हृदयों में आह्लाद का उन्मेष करने के लिए वे अवतीर्ण होते है। भगवान् केवल अपनी ही इच्छा से व्यक्त होते हैं। उनका आविर्भाव उनकी स्वतंत्र इच्छा पर ही निर्भर है। वे प्रकृति की शर्तों से बँधे हुये नही है। वे इसलिए महाविभु के नाम से सम्बोधित हुए है, सर्व शक्तिमान के नाम से सम्बोधित हुए है क्योंकि वे भौतिक प्रकृति के नियमों से सर्वथा अतीत तथा परे है।

[३३]

त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं
रविकरगौरवराम्बरं दधाने।
वपुरलककुलावृताननाब्जं
विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या ॥

त्रिभुवन=तीनों लोकों में; कमनम्=अत्यन्त-दर्शनीय कमनीय; तमाल-वर्णम्=तमाल वृक्ष की भाँति श्यामल वर्ण वाले; रविकर=सूर्य की किरणे; गौर=स्वर्णिम, वराम्बरम्=श्रेष्ठ परिधान; दधाने=जो धारण करते है; वपु:=देह; अलक-कुलावृत=घुघराली केशराशि से घिरे हुए; आनन-अब्जम्=कमल के सदृश मुखारविन्द वाले; विजय-सखे=अर्जुन के मित्र; रतिः अस्तु मे=के प्रति मेरा प्रेम हो; अनवद्य=सांसारिक कर्म-फलों की स्पृहा से रहित।

अनुवाद

श्रीकृष्ण अर्जुन के अन्तरङ्ग सखा हैं। उन्होंने इस भूमण्डल पर अपना दिव्य विग्रह प्रगट किया जो तमाल वृक्ष की भाँति श्यामवर्ण का है। उनका दिव्य विग्रह समस्त लोकों के प्राणियों का हृदय आकर्षित करने वाला है। उनका स्वर्णवर्ण पीताम्बर उनके श्रीविग्रह में सूर्य किरणों की भाँति फहराता रहता है। उनका श्रीमुख-कमल पुष्प की भाँति खिला हुआ है। उस पर घुंघराली अलके लटकती रहती है। भाल पर चन्दन-तिलक लगा हुआ है। उनके चरण कमल ही मेरे आकर्षण के केन्द्र हों। और भौतिक कर्मफलों में मेरी स्पृहा न हो।

तात्पर्य

उनका दिव्य विग्रह अति आकर्षक है तीनों लोकों के प्राणियों द्वारा अत्यन्त वाञ्छित एवं अभिलषित है, अत्यन्त आकर्षक है। जगत में ऐसा सौन्दर्यमय विग्रह कही भी नही है। जैसा भगवान् श्रीकृष्ण का है। इसलिए उनके दिव्य विग्रह का भौतिकता से कोई सम्पर्क नही है। अर्जुन यहाँ विजेता विजय के रूप में सम्बोधित हुए है। श्रीकृष्ण उनके अन्तरङ्ग मित्र के रूप में वर्णित हुए है। कुरुक्षेत्र के युद्ध के पश्चात् शरशय्या पर पड़े हुए भीष्मदेव भगवान् श्रीकृष्ण के विशिष्ट वेष का चिन्तन कर रहे है जो अर्जुन के सखा एवं सारथी के रूप मे उन्होने धारण किया हुआ था। जब अर्जुन एवं भीष्म युद्ध कर रहे थे तो भगवान् के चमकते हुए; शोभा पाते हुए पीताम्बर की ओर भीष्म का ध्यान आकर्षित हो गया था। और आज अप्रत्यक्ष रूप से वे अर्जुन के मित्र के रूप मे उन्हे सम्बोधित कर उठे। अर्जुन परम धन्य है; क्योंकि भगवान् उनके मित्र है। उनको सुअवसर मिल गया कि वे भगवान् को अर्जुन का मित्र कहकर सम्बोधित कर सके। जब अपने भक्तो से सम्बन्धित लीलाओं को निर्देश करते हुए, नाम लेते हुए किसी को देखते है तो वे अति प्रसन्न होते है। और श्रीकृष्ण तो अर्जुन के सारथी बने थे। उनके पीताम्बर पर सूर्य की रश्मियाँ परावर्तित होकर एक अद्भुत दृश्य उपस्थित कर रही थी। ऐसी किरणे ऐसा परावर्तन ऐसा प्रतिबिम्वाङ्कन भीष्मदेव के हृदय से कभी विस्मृत न हो सका। उन्हे पुन - पुन: वही दृश्य याद आता रहा। वे वाण चलाते हुए युद्ध कर रहे है। शस्त्रों का प्रहार कर रहे है इधर-उधर दौड़ रहे है। उनके मानस पटल मे एक ही दृश्य नृत्य कर रहा है। और वही भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के रथ मे बैठे हुए है। उनका सारथ्य कर रहे है उनका पीताम्बर फहरा रहा है। उनके पीताम्बर पर सूर्य की किरणे परावर्तित होकर दूर-दूर तक रश्मियाँ विखेर रहीं हैं। और भीष्मदेव का हृदय भी उस स्मरण से प्रेम विवश, विमुग्ध हो उठता। उस उज्ज्वलतम भाव भूमिका में वे आरूढ होकर युद्ध कर रहे थे। महान् योद्धा की भाँति वे श्रीकृष्ण का अर्जुन के अद्भुत सारथ्य का महान् आनन्द लूट रहे थे। जब भगवान् के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है तब भक्त किन्हीं भी पाँच भावों मे से किन्ही भी भावों के द्वारा उस भगवत् आनन्द दिव्य भाव आनन्द का आस्वादन करता है। सासारिक बुद्धिमान व्यक्ति भी कृत्रिम रूप से भगवत् सम्बन्धित प्रदर्शन करते है।

तुरन्त ही भगवान् के माधुर्य सम्बन्ध भाव में कूद जाते है। वे व्रजधाम की गोपाङ्गनाओं का अनुकरण करने लगते हैं भगवान् के साथ ऐसा सस्ता सम्बन्ध यह और कुछ नही यह उनकी मनोदशा का ही परिचायक है। क्योंकि जिसने भगवान् के साथ माधुर्य सम्वन्ध का रसास्वादन कर लिया वह सांसारिक स्त्री-पुरुषों के शृङ्गार रस में कभी प्रवृत्त नही होगा, जो नैतिक विचारकों के द्वारा भी अत्यन्त निन्दित हुआ है। शृङ्गार रस में वह कदापि प्रवृत्त नहीं होगा। भगवान् का जीव के साथ नित्य सम्वन्ध होता है। और अन्त में उसका पर्यवसान माधुर्य भाव में होता है। जीव के साथ नित्य सम्बन्ध पाँच मुख्य रसों में से किसी एक रस के द्वारा होता है। शुद्ध भक्त का उनसे प्रेम में कोई पार्थक्य, कोई विभिन्नता उत्पन्न नही करता। इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है और इसलिए यह बहुत सावधानी पूर्वक निरीक्षण करना चाहिए। एक महान् योद्धा भगवान् के साथ दिव्य सम्बन्ध से बँध सके।

[३४]

युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक्
कचलुलितश्रमवार्यलङ्कृतास्ये ।
मम निशितशरैर्विभिद्यमान
त्वचिविलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा ॥

युधि=युद्धक्षेत्र में; तुरग=घोड़े; रजः=धूलि; विधूम्र=धूसरित; विष्वक्=हिलते हुए; कच=केश; लुलित=इधर उधर लहराते हुए; श्रम-वारि=पसीने से; अलकृत्=सुशोभित; आस्ये=मुख कमल; मम=मेरे, निशित=तीक्ष्ण, शरैः=बाणो द्वारा, विभिद्यमान्=विदीर्ण होते हुए; त्वचि=त्वचा में; विलसत्=सुखानुभूति करते हुए; कवचे=कवच में; अस्तु=ऐसा हो, कृष्ण=भगवान् श्रीकृष्ण में; आत्मा=मेरा मन संलग्न।

अनुवाद

युद्धक्षेत्र में जब भगवान् श्रीकृष्ण पार्थ सारथि के रूप में पधारे थे तो उनके हवा में लहराते उड़ते केशराशि घोड़ों के खुरों से उड़ी हुई धूलि से धूमिल हो गये थे। एवं सारथ्य कार्य के श्रम से उनका मुखकमल स्वेदार्द्र हो चला था तथा मेरे तीक्ष्ण बाणों से बिंधकर उनका श्रीविग्रह रक्ताक्त

हो चला था। उस समय उनकी विचित्र छटा का दर्शन कर मैं चकित एवं थकित सा हो रहा था। अब इस मृत्युकाल में मुझे वही छवि स्मरण आ रही है। मेरा मन उन्ही प्रभु की अद्भुत झाँकी मे लवलीन हो।

तात्पर्य

भगवान् नित्यता, आनन्द एवं ज्ञान के अखण्ड अद्वय स्वरूप है। प्रेममयी सेवा शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, एवं माधुर्य पूर्वक भगवान् के द्वारा स्वीकार किया जाता है। वह परम प्रेम अगाध गहन प्रेम की गहराई मे उन्हे अर्पित किया जाता है। श्रीभीष्मदेव भगवान् के एक बहुत बडे भक्त थे। दास्य भाव था उनका और दिव्य भावो के कारण भगवान् के दिव्य विग्रह पर छोड़े गये बाण भगवान् को उतने ही प्रिय लगे जितने किसी अन्य भक्त द्वारा प्रेम से चढ़ाये गये गुलाब के पुष्प प्रिय होते है।

यह दृष्टिगोचर होता है कि भीष्मदेव अपने कार्यों पर पश्चात्ताप कर रहे है। उन्होने भगवान् के निज जनो के विरुद्ध कार्य किया था, किन्तु भगवान् का विग्रह तनिक भी पीडित नही हुआ था। उनकी भूमिका नित्य दिव्य है। उनका शरीर पदार्थ नही है वे तथा उनका दिव्य विग्रह दोनों अप्राकृत तत्व है। आत्मा कभी भी छिदती नही है। जलती नही है। सूखती नही है किसी तरह वह पीड़ित नही होती है। यह भली भाँति भगवद्गीता मे वर्णित हुआ है। स्कन्द-पुराण में भी ऐसा वर्णित हुआ है कि आत्मा असम्पृक्त एवं अव्यय है। यह कभी विषादग्रस्त भी नही होती। विषण्ण नही होती। न शुष्क होती है। जब भगवान् विष्णु हमारे सम्मुख अवतीर्ण होते हैं, तब वे हममें से ही एक आश्रित जीव की भाँति प्रतीत होते है। वे भी हमारी भाँति सासारिक क्रियाकलापो से उद्विग्न होते हुए से प्रतीत होते हैं। वास्तव में उनका वह रूप उन असुरो एवं अविश्वासियों को सम्मोहित करने के लिए होता है। जो भगवान् को समाप्त करने के लिए सदा प्रयत्नशील बने रहते हैं। यहाँ तक कि उनके जन्म के पूर्व ही कस उन्हे मारने के लिए उनके पीछे लग गया था। राम के जन्म के पूर्व से ही रावण उनके घात की ताकमें बैठा हुआ था।अपनी मूर्खता के कारण वे इस सत्य से सर्वथा अपरिचित रहे कि भगवान् कभी मारे नही जा सकते। क्योंकि आत्मा अविनाशी है।

इसलिए भीष्मदेव के बाणों से विद्ध होते हुए भगवान् का दिव्य

विग्रह अभक्तों के लिए नास्तिकों के लिए एक मोहोत्पादक समस्या है। किन्तु वे जो भक्त है, मुक्त जीव है वे इससे कभी भी भ्रम जाल मे, सन्देह मे नहीं पडते। भीष्मदेव ने भगवान् की इस करुणामयी वृत्ति को अति पसन्द किया। उन्हें यह बहुत भला लगा। क्योकि उन्होने अर्जुन को अकेले नही छोड़ा। यद्यपि वे उनके तीक्ष्ण बाणो से बहुत विचलित हो गये थे। भीष्मदेव के सम्मुख मरण शैय्या पर आने से वे अनुत्सुक न हुए। यद्यपि वे युद्ध भूमि में उनके द्वारा बुरी तरह व्यवहार किये गये थे। फिर भी भीष्म-देव का पश्चात्ताप एव भगवान् की करुणामयी दृष्टि ये दोनों ही श्रीमद्-भागवत में एक अनुपम दृश्य है। अनूठी छवि है।

भगवान् की माधुर्य भाव उपासना के एक अन्यतम महान् आचार्य श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस श्लोक के सन्दर्भ में एक अत्यन्त रहस्य-मय सकेत प्रकट किया है। वे कहते है कि भगवान् के दिव्य विग्रह पर भीष्मदेव के तीक्ष्ण बाणों ने जो व्रण निर्मित किये, वे भगवान् के लिए वैसे ही आह्लाददायी एव हर्ष विभोर करने वाले थे जैसे गहन प्रेम में नायिका के द्वारा नायक के देह में किये गये नखच्छद एवं दन्तच्छद। ऐसे दन्तच्छद कभी भी शत्रुता के परिचायक नही होते। ये शरीर पर केवल जख्म की भाँति दिखाई पड़ते है। भगवान् एव उनके भक्त भीष्मदेव के बीच घटित युद्ध सासारिक नही वरन् भक्त एवं भगवान् के मध्य एक चिन्मय क्रीडा विलास था। इसके अतिरिक्त चूँकि भगवान् का दिव्य विग्रह एवं भगवान् अभिन्न है, इसलिए उनके अद्वय देह पर व्रण कभी भी सभव नही थे। दृष्टि गोचर होने वाले ये बाह्य व्रण सामान्य व्यक्ति को सन्देह में डालते है ये उनके मन में भ्रम उत्पन्न करने वाले है। किन्तु जिन्हें भगवान् के भक्तो के तत्व का तनिक भी ज्ञान है, वे भगवान् के इस अद्भुत दिव्य वीरतापूर्ण सम्बन्ध के विनिमय की क्रीडा की कल्पना कर सकते है। वे इसे भली-भाँति समझ सकते है। भगवान् उन प्रहारों को सहकर अत्यन्त सुखी थे उन जख्मो के साथ "विभिद्यमान" शब्द यहाँ अति महत्वपूर्ण है। क्योकि भगवान् की त्वचा भगवान् से भिन्न नही है। जैसे हमारी त्वचा हमारी आत्मा से भिन्न है। हमारे सम्बन्ध मे शब्द "विभिद्यमान" अथवा चुभाया जाना काटा जाना सर्वथा उपयुक्त था। चिन्मय आनन्द सदा विभिन्न प्रकारों मे होता है। सासारिक जगत मे विभिन्न कार्य-कलाप दिव्य आनन्द के ही विकृत प्रतिफलन है। क्योकि प्राकृत जगत में प्रत्येक वस्तु गुणात्मक रूप से प्राकृत है, भौतिक है, दोषयुक्त है। जबकि अद्वय राज्य में प्रत्येक वस्तु अद्वय-स्वभाव

भी भगवान के उस दिव्य जख्मी अवस्था के ध्यान में तन्मय कर दिया।। अतः उनका शरीर तो जख्मो से भरा हुआ था ही अब उन्होंने अपने मन को क्योकि भीष्मदेव एक दास्य भाव प्रधान भक्त थे एव सर्वश्रेष्ठ वीर थे। भगवान् ने अपने भक्त भीष्मदेव के द्वारा किये गये व्रणों का आनन्द लिया। आवेश हीन होते हैं। उन्माद विहीन होते हे। सर्वदा सर्वथा निर्दोप होते है। की होती है। अतः वहाँ आनन्द वैचित्री के अनेक रूप होते हुये भी वे सब

[३५]

सपदि सखिवचो निशम्य मध्ये
निजपरयोर्बलयो रथं निवेश्य।
स्थितवति परसैनिकायुरक्ष्णा
हृतवति पार्थसखे रतिर्ममास्तु।।

सपदि=युद्ध क्षेत्र मे, सखिवच.=मित्र की वाणी, निशम्य=श्रवण-कर, मध्ये=मध्य मे, निज=अपना, परयो=विरोधी दल, बलयो.=शक्ति, रथम्=रथ, निवेश्य=प्रवेश कराकर, स्थितवति=वहाँ अवस्थित रहते हुए, पर-सैनिका =दूसरे दलो का,आयु=जीवन की अवधि, अक्ष्णा=दृष्टिपात मात्र से, हृतवति=क्षीण कर दिया, पार्थ=अर्जुन, सखे=मित्र मे, रतिः=तीव्र प्रेम सम्बन्ध, मम=मेरा, अस्तु=हो।

अनुवाद

भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने मित्र अर्जुन की आज्ञा का सम्मान करते हुये उनके रथ को कुरुक्षेत्र की रणभूमि मे दोनों सेनाओ के मध्य प्रवेश करा दिया था। तथा वहाँ स्थित होकर कौरव पक्ष की सेना की सारी आयु अपने दृष्टिपात मात्र से छीन ली थी, उन्ही भगवान् श्रीकृष्ण के चरण कमलो में मेरा मन स्थिर हो जाय।

टीका

भगवत्गीता (१-२१-२५) में उन्होंने भगवान् अच्युत को आज्ञा दी है कि ये उनके रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में स्थापित करे। उन्होने

उनसे कहा कि जिन-जिन शत्रुओं से मुझे युद्ध करना है उन्हे जब तक मैं निरीक्षण करूँ तब तक कृपया आप यहाँ ठहरे । जब भगवान् से ऐसा कहा गया तब उन्होने तत्क्षण एक आज्ञा पालक की भाँति कार्य किया। और भगवान् ने विरोधी पक्ष की सेनाओं की ओर सकेत करते हुए उस पक्ष के महत्वपूर्ण योद्धाओ का निर्देश करते हुये कहा 'यहाँ भीष्म है, यहाँ द्रोण है", इत्यादि । भगवान् एक सर्वोच्च व्यक्तित्व है अत: किसी के आज्ञावाहक नही होते चाहे वह कितना ही बड़ा क्यो न हो, परन्तु अपनी अहैतुकी कृपा से तथा सच्चे भक्तों के प्रति विशुद्ध प्रेमवश कभी कभी वे उनकी आज्ञा का ठीक वैसे ही पालन करते है जैसे आज्ञा की प्रतीक्षा करता हुआ एक सामान्य सेवक किया करता है । भक्तों की आज्ञा पूर्ण करने में भगवान् प्रसन्न होते है । जैसे अपने छोटे शिशु की आज्ञा पालन कर उसकी मन.संन्तुष्टि कर पिता अत्यन्त प्रसन्न होता है । उसी प्रकार भगवान् भी अपने भोले भक्तो के आदेशो का पालन कर सन्तुष्ट होते है । यह सभव है केवल विशुद्ध दिव्य प्रेम मे, और भीष्मदेव इस तथ्य से पूर्ण अवगत थे । इसीलिए उन्होने भगवान् को अर्जुन सखा कहकर सम्बोधित किया ।

भगवान् ने विरोधी दलो के वीरों की आयु को कृपा पूर्ण दृष्टि से छीन लिया, क्षीण कर दिया । कहा गया है कि महाभारत युद्ध में सम्मिलित हुए समस्त योद्धा भगवान् के दर्शन करते हुए मृत्यु प्राप्त करने से मोक्ष को प्राप्त हुए । इसलिए अर्जुन के शत्रुओ की आयु क्षीण करने का यह अर्थ नही कि वे अर्जुन के पक्षपाती थे । वास्तव में वे विरोधी दलों के प्रति भी उतने ही दयामय थे । क्योंकि अन्य सामान्य युद्ध में मरकर वे मोक्ष प्राप्त नही कर सकते थे । यहाँ सुअवसर मिल गया । भगवान् मृत्यु काल में उपस्थित है और इस प्रकार भौतिक जीवन के असख्य दु.खो से उन्होने सदा सर्वदा के लिए मुक्ति पा ली । इसीलिए भगवान् सदा मगलमय है । वे सर्वत्र मगल ही करते है । उनका विधान मगलमय ही होता है । और जो भी वे करते है उसमें बहुजन हित बहुजन सुख स्वयमेव अन्तर्भूत होता है। प्रतीत ऐसा होता है कि विजय उनके अन्तरङ्ग मित्र अर्जुन के लिए थी। परन्तु वास्तव मे यह अर्जुन के शत्रुओं के लिए भी परम कल्याणकर थी। भगवान् की लीलाये दिव्य होती है । ऐसी ही अद्भुत होती है, जो इसे समझने में समर्थ हो जाता है, वह भी भौतिक शरीर त्यागकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है । भगवान् मे किसी भी अवस्था में कभी भी त्रुटि संभव नही है क्योकि वे अद्वय है वे सर्वथा सर्वदा परम शुभ है ।

[३६]

व्यवहितपृतनामुखं निरीक्ष्य
स्वजनवधाद्विमुखस्य दोषबुद्ध्या ।
कुमतिमहरदात्मविद्यया य-
श्चरणरतिः परमस्य तस्य मेऽस्तु ॥

व्यवहित=तनिक दूर खड़े हुए; पृतना=सेनाऐ, मुखम्=मुखों को, निरीक्ष्य=देखकर; स्वजन=अपने सम्बन्धी, वधात्=वध से, विमुखस्य=पराङ्मुख; दोष-बुद्ध्या=दोष बुद्धि से, कुमतिम्=अल्प बुद्धिमान, अहरत=नष्ट किया; आत्म-विद्यया=दिव्य ज्ञान द्वारा, यः=जो, चरण=चरण; रति=प्रेम, परमस्य=सर्वोच्च; तस्य=उनके लिए, मे=मेरा, अस्तु=हो ।

अनुवाद

जब अर्जुन ने युद्ध भूमि में कौरव सेना के प्रमुख हम सब लोगों को देखा तब पाप समझकर वह हमारे वध से विमुख हो गया । उस समय जिन्होंने दिव्य ज्ञान का उपदेश देकर अर्जुन के अज्ञान का नाश किया था, उन भगवान् श्रीकृष्ण के चरण-कमलो मे मेरी प्रगाढ प्रीति हो ।

तात्पर्य

राजा एवं सेनापति युद्धरत समस्त सेनाओं के साथ खड़े होते थे । और यही वास्तविक युद्ध की प्रक्रिया थी । राजा एवं सेनापति आज-कल के तथाकथित सुरक्षा मन्त्री, प्रधान मन्त्री नही थे । वे दीन सैनिकों का युद्ध में भेजकर स्वयं घर में बैठने वाले लोग नही थे । यह आज के लोक तन्त्र का नियम हो सकता है, परन्तु जब इस देश मे वास्तविक राजतन्त्र का प्राबल्य था; उस काल में वे राजागण शासकोचित गुणों एवं योग्यताओं से विहीन केवल निर्वाचित कायर मात्र नही थे। एक प्रमाण है—कि कुरुक्षेत्र मे घटित हुआ महाभारत का संग्राम दोनों पक्षों में राज्य के सारे प्रमुख व्यक्तित्व जैसे द्रोण, भीष्म, अर्जुन, दुर्योधन आदि दोनों दलों के प्रमुख वीर

सो नही रहे थे, वे युद्ध में प्रत्यक्ष भाग ले रहे थे। दोनों सेनाएँ एक ऐसे पूर्व निर्वाचित स्थल पर एकत्रित हुई थी जो सामान्य नागरिक-आवास से पर्याप्त दूरी पर था। इसका अर्थ यह होता है कि सामान्य नागरिको का ऐसे युद्ध से कोई व्यावहारिक सम्बन्ध नही था। उन्हे चाहे अर्जुन हों अथवा दुर्योधन, उन्हे अपनी आय का ¼ भाग अर्पित करना था। तथा सारा शासकीय कर्तव्य स्वय राजा का उत्तरदायित्व होता था।

कुरुक्षेत्र के मैदान मे दोनों दलों के सैनिक एक दूसरे के सम्मुख खड़े थे और अर्जुन ने उन्हे देखा ; तत्क्षण ही उनके हृदय में करुणा उमड़ आई, हृदय में शोक छा गया। सोचने लगे कि वे अपने सगे सम्वन्धियों, गुरुओ एव भाइयो को मारेगे। केवल साम्राज्य के लिए इन सवको मार डालेगे। वे भयभीत नही थे। उन प्रमुख योद्धाओं को, महान् वीरो को देखकर वे तनिक भी नही डरे। परन्तु भगवान् का भक्त चूँकि वडा दयालु एवं कोमल प्रकृनि का होता है। अतः अर्जुन के हृदय में करुणा उमड़ आई थी। भौतिक पदार्थो का परित्याग उनके लिए अति स्वाभाविक था और इस प्रकार उन्होने सासारिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए युद्ध न करने का निर्णय कर लिया।

किन्तु इस निर्णय का कारण उनकी अल्पबुद्धिमत्ता थी, उनका मोह था। कहा जाता है कि उनकी प्रज्ञा मोहावरण से आच्छन्न हो गई थी। अन्य अवसरों पर ऐसा कभी नहीं हुआ और न हो सकता था क्योंकि वे एक भक्त थे तथा भगवान् के नित्यसखा थे। भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय से यही प्रतिपादित होता है। यही कहा जा सकता है कि अर्जुन की प्रज्ञा इसीलिए मोहावृत हुई क्योकि उसके अतिरिक्त भगवद्गीता के दिव्य उपदेश के उपलब्ध होने की विश्व के समक्ष कोई सम्भावना न थी। जो कि आश्रित जीवों के लिए एक सर्वोच्च वरदान स्वरूप है। इस दिव्य उपदेश के बिना जीव का प्राकृत देह एव प्राकृत जागतिक बन्धनो से छुटकारा पाना नितान्त असम्भव था। भगवद्गीता का प्रादुर्भाव आश्रित जीवों के कल्याणार्थ उनके देह तादात्म्य का नाश करने के लिए तथा जीव का भगवान् से नित्य सम्वन्ध स्थापित करने के लिए हुआ है। इस प्रकार यह आत्मविद्या भगवान् के द्वारा समस्त विश्व के सभी भागों के आश्रित जीवो के लाभार्थ अर्जुन को माध्यम बनाकर उनके भीतर अल्पकाल के लिए मोह उत्पन्न कर प्रकट हुआ है।

[३७]

स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञा
मृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थः ।
धृतरथचरणोऽभ्ययाच्चलद्गु-
र्हरिरिव हन्तुमिभं गतोत्तरीयः ॥

स्वनिगमम्=अपनी सत्यवादिता; अपहाय=त्यागकर; मत्-प्रतिज्ञा =मेरी प्रतिज्ञा, ऋतम्=सत्य, अधि=अधिक, कर्तुम्=करने के लिए, अवप्लुत.=नीचे उतरकर, रथस्थः=रथ से, धृत=धारण कर, रथ=रथ, चरण=पहिया; अभ्ययात्=शीघ्रता पूर्वक दौड़े आये, चलद्गु.=पृथ्वी को कँपाते हुए; हरिः=सिह, इव=सदृश; हन्तुम्=मारने के लिये, इमम्= हाथी, गत=गिर गया, उत्तरीय.=उपरि-परिधान, दुपट्टा ।

अनुवाद

श्रीकृष्ण ने महाभारत युद्ध में शस्त्र ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा की परन्तु मैंने उन्हे शस्त्र धारण कराने की प्रतिज्ञा की । उन महामहिम ने मेरी अभिलाषा पूर्ण करने के लिए अपनी प्रतिज्ञा तोड दी—जब मैने अर्जुन को वाणो के प्रहार से अत्यन्त पीड़ित कर दिया तब भक्तवत्सलतावश वे रथ से नीचे कूद पड़े । सिह जैसे हाथी को मारने के लिए उस पर टूट पड़ता है वैसे ही रथ का पहिया लेकर वे मुझ पर टूट पड़े थे । उस समय वे इतने वेग से दौड़े कि उनके स्कन्ध का परिधान गिर गया था और पृथ्वी काँप उठी थी ।

तात्पर्य

महाभारत का युद्ध सैनिक सिद्धान्तों के अनुसार हुआ था । सैनिक सिद्धान्तानुसार युद्ध यद्यपि अत्यन्त भयावह होता है तथापि वह ठीक वैसे ही एक क्रीड़ा की मनोवृत्ति पूर्वक हुआ था, जैसे एक मित्र दूसरे मित्र के साथ युद्ध करता है । दुर्योधन ने भीष्मदेव पर यह आरोप लगाया तथा उनकी आलोचना की, कि वे अर्जुन को मारने में पराङ्मुख है । तथा उनके

भीतर पैतृक-स्नेह प्रधान है। एक क्षत्रिय युद्ध के सिद्धान्तानुसार इस प्रकार की आलोचना का अपमान सहन नही कर सकता। निदान, भीष्मदेव ने प्रतिज्ञा की, कि वे दूसरे दिन पाँचों पाण्डवों को पाँच विशेष वाणों द्वारा समाप्त कर देगे। दुर्योधन वहुत सतुष्ट हुआ। भीष्म ने उन विशिष्ट वाणों को अपने पास रख लिया; ताकि दूसरे दिन युद्ध में उसका प्रयोग कर सकें। परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण ने युक्तिपूर्वक उन वाणों को प्राप्त कर लिया और भीष्मदेव तव समझ सके कि यह भगवान् कृष्ण की ही लीला थी। अतएव उन्होने यह प्रतिज्ञा की कि दूसरे दिन भगवान् श्रीकृष्ण को स्वयं अस्त्र धारण करना पड़ेगा; नही तो, उन्हें अपने मित्र की मृत्यु देखनी पड़ेगी। इसलिए दूसरे दिन युद्ध करते हुए भीष्मदेव ने अर्जुन से वहुत वर्वरतापूर्वक, युद्ध किया और तव श्रीकृष्ण अति पीड़ित हुए। अर्जुन लगभग हार से गये थे। परिस्थिति इतनी तनावपूर्ण हो गई थी कि वे कुछ ही समय के अनन्तर भीष्मदेव के द्वारा मारे जाने वाले थे। उसी समय भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने भक्त भीष्म को प्रसन्न करना चाहा उनकी अभिलापा जो उनकी अपनी प्रतिज्ञा से अधिक महत्वपूर्ण थी। उन्होंने पूर्ण की। देखने मे ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने अपना वचन तोड़ा, अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी। उन्होने कुरुक्षेत्र के युद्ध के पूर्व प्रतिज्ञा की थी कि वे अपने अस्त्रों का प्रयोग किसी दल के लिये भी नही करेंगे। परन्तु अर्जुन की रक्षा के लिए वे रथ से उतर पड़े तथा उन्होंने रथ का एक पहिया अपने हाथों मे उठा लिया और शीघ्रता पूर्वक भीष्मदेव की ओर क्रोधावेश में दौड़े। ठीक उसी प्रकार जैसे एक सिंह एक हाथी को मार डालने के लिए दौड़ पड़ता है। उस समय शीघ्रतावश उनके कन्धे का दुपट्टा मार्ग में गिर पडा था। और अधिक क्रोधवश उन्होने नही जाना कि वह गिर गया है भगवान् की, इस अभिलषित अनुपम छवि का दर्शन कर भीष्मदेव का हृदय भर उठा और वे तत्क्षण अपने अस्त्रों का परित्याग कर खड़े हो जाते हैं। श्रीकृष्ण से मृत्यु प्राप्त करने के लिए खड़े हो जाते है। अपने परम प्रिय आराध्य के हाथों मरने के लिए समर्पित हो जाते है। इस प्रकार उस दिन युद्ध ने एक नया मोड़ लिया और अर्जुन वच गये। सचमुच अर्जुन की मृत्यु की कोई सभावना न थी क्योंकि स्वय भगवान् उनके रथ पर विद्यमान थे। भीष्मदेव ने भगवान् श्रीकृष्ण से उनके मित्र की रक्षा के लिए शस्त्र ग्रहण कराना चाहा, उन्होने ऐसी परिस्थिति निर्मित कर दी, अर्जुन की मृत्यु का अवसर उपस्थित कर दिया तव वे भीष्म-देय के समक्ष इस प्रकार खड़े हो गये जैसे उनकी प्रतिज्ञा से अधिक मूल्यवान

उनके भक्त की अभिलाषा है। उनके भक्त का प्रेम सर्वोपरि है। और इस प्रकार वे रथ का पहिया लेकर उनके सम्मुख दौड़ पड़े थे।

[३८]

शितविशिखहतो विशीर्णदंशः
क्षतजपरिप्लुत आततायिनो मे।
प्रसभमभिससार मद्वधार्थं
स भवतु मे भगवान् गतिर्मुकुन्दः ॥

शित=तीक्ष्ण, विशिख=बाण, हतः=चोट खाकर; विशीर्ण-दशः= भग्न-कवच; क्षतज=जख्मों से; परिप्लुतः=रक्त से लथपथ; आततायिनः= आतताई; मे=मेरे; प्रसभम्=क्रोधयुक्त मन.स्थिति, अभिससार=दौडने लगे; मत्-वध-अर्थम्=मेरे वध के प्रयोजन से, सः=वे; भवतु=हो जायँ; मे=मेरे, भगवान्=भगवान्; गतिः=परम गति; मुकुन्दः=कैवल्य प्रदान करने वाले।

अनुवाद

मोक्ष प्रदाता वे साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण मेरे परम गति हो; जिन्हें युद्धभूमि मे मुझ आततायी ने अनेक तीखे बाण मार उनके शरीर का कवच तोड़ डाला था, जिससे उनका सारा शरीर रक्ताक्त हो गया था। और अर्जुन के रोकने पर भी जो क्रोधपूर्वक मेरे वध के लिए, मेरी ओर दौड़े चले आ रहे थे।

तात्पर्य

कुरुक्षेत्र के मैदान में भीष्मदेव के साथ भगवान् श्रीकृष्ण का जो व्यवहार है, वह अति विचित्र है। तथा बहुत रोचक है क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण के कार्य-कलाप अर्जुन के प्रति पक्षपातपूर्ण एव भीष्मदेव के प्रति शत्रुतापूर्ण प्रतीत होते हैं, किन्तु वास्तव में यह सब भीष्मदेव के प्रति विशिष्ट कृपा प्रदर्शित करने के लिए ही घटित हुआ था। इस घटना का

आश्चर्यजनक स्वरूप यह है कि भक्त भगवान् के विरुद्ध शत्रु का नाटय करते हुए भी उनसे प्रेम कर सकता है, उन्हें प्रसन्न कर सकता है। भगवान् अद्वय होते हुए भी अपने सच्चे भक्त से शत्रु के रूप में भी उनकी सेवा ग्रहण कर लेते है। भगवान् के शत्रु नही हो सकते और तथाकथित शत्रु उन्हें चोट नही पहुँचा सकते, क्योंकि वे "अजित" है। वे अजेय है। तथापि जव उनके सच्चे भक्त शत्रु की भाँति उन पर प्रहार करते है या भर्त्सना करते है तो वे आनन्द अनुभव करते हैं। यद्यपि कोई भी भगवान् से श्रेष्ठ नही है। तथापि भक्त उनसे श्रेष्ठ की भाँति उनसे आनन्द वार्तालाप करता है। और भगवान् इसमे मौज लेते हैं, यह भगवान् का भक्त के प्रति एक दिव्य, अति-गूढ, गहनतम, सघनतम प्रेम का व्यवहार है। वे जिन्हें भक्तिमयी सेवा के बारे में कोई सूचना नही प्राप्त है, कोई ज्ञान नही है, वे इस व्यवहार के रहस्य में प्रवेश नही कर सकते। भीष्मदेव ने एक साहसी योद्धा का नाटय किया और उन्होने जानबूझकर भगवान् के श्रीविग्रह को अपने बाणों का निशाना बनाया, ताकि सामान्य व्यक्ति को प्रतीत हो कि भगवान् क्षत-विक्षत हुए है परन्तु अभक्तो को नास्तिकों को यह भटकाने का ही एक उपाय था। भगवान् की अप्राकृत देह कभी भी किसी प्रकार से भी क्षत-विक्षत नही हो सकती है। और भक्त भगवान् का शत्रु नही हो सकता है। यदि ऐसा हुआ होता तब भीष्मदेव उन्ही भगवान् को अपने जीवन की संध्यावेला मे, मरणशय्या पर अपनी परम गति बनाने की अभिलाषा नही किये होते। यदि भीष्मदेव भगवान् के शत्रु होते तो भगवान् अपने स्थान से बिना उठे बिना हिले ही भीष्मदेव को समाप्त कर दिये होते। शस्त्रों से आहत होकर, रक्ताक्त होकर भीष्मदेव के सम्मुख आने की कोई आवश्यकता न थी। परन्तु उन्होने ऐसा किया, क्योकि उनका एक सच्चा योद्धा भक्त उनके दिव्य विग्रह को बाणों की चोटों एवं रक्त से लथ-पथ, वीर वेश मे, सजे हुए रूप मे दर्शन करना चाहता था। इसीलिए भगवान् ने अपने विग्रह को उन्ही सौन्दर्य-प्रसाधनो से सजा लिया। यह एक पद्धति है दिव्यरस के आदान-प्रदान की। भक्त एव भगवान् के मध्य सम्बन्ध विनिमय की यह एक अनूठी पद्धति है। भगवान् एव भक्तों के बीच ऐसे व्यवहार से वे दोनो ही महिमान्वित होते है। भगवान् ऐसे क्रोधित थे कि अर्जुन ने भीष्म की ओर दौडते हुए उन्हे रोका, किन्तु उनके सम्पूर्ण प्रयत्नों से रोकने के बाव-जूद भी वे भीष्म की ओर आगे बढ़ने लगे। ठीक वैसे ही जैसे एक प्रेमी अपने प्रेमी की ओर बढ़ता है विघ्नो एव बाधाओ की परवाह किये बिना।

ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी उत्कट अभिलाषा भीष्मदेव को मार डालने की थी परन्तु वास्तव में यह उन्हे प्रसन्न करने के लिए ही था।

एक भक्त एव उनके भगवान् के प्रसन्न होने की शर्त बहुत अद्‌भुत एव विचित्र है। वह सामान्य व्यक्तियों की समझ में नही आने वाली है। नि.सन्देह भगवान् आश्रित जीवों के परम उद्धारक है। निराकारवादी उनसे मोक्ष की कामना करते है, और वे उनकी अभिलाषानुसार उन्हें मुक्ति प्रदान करते है। परन्तु भीष्मदेव भगवान् से उनके निजी, व्यक्तिगत. मौलिक स्वरूप में दर्शन देने की अभिलाषा करते है। जिसके लिए उनके समस्त सच्चे भक्त सतत कामना करते है। अभीप्सा करते है।

[३९]

विजयरथकुटुम्ब आत्ततोत्रे
धृतहयरश्मिनि तच्छ्रियेक्षणीये ।
भगवति रतिरस्तु मे मुमूर्षो
र्यमिह निरीक्ष्य हता गताः स्वरूपम् ।

विजय=अर्जुन, रथ=रथ, कुटुम्ब=परम संरक्षक, आत्ततोत्रे= दाहिने हाथ में चाबुक लिये हुए, धृत-हय=घोड़ों पर नियंत्रण करते हुए, रश्मिनि= घोड़ो की रास, तत्‌श्रिय=अत्यन्त सुन्दरता पूर्वक खड़े हुए, ईक्षणीये=देखने योग्य परम दर्शनीय, भगवति=उन भगवान् में, रति.-अस्तु मे=मेरा प्रेम हो, मेरी प्रीति हो, मुमूर्षोः=मरणासन्न का, यम्=जिसको, इह=इस विश्व मे, निरीक्ष्य=देखकर, हता=जो मर गए है. गता = प्राप्त कर चुके, स्वरूपम्=अपने वास्तविक स्वरूप को।

अनुवाद

मै पार्थसारथी भगवान् श्रीकृष्ण मे अपना मनोनिवेश करता हूँ, जिनके दाहिने हाथ मे चाबुक एव बाये हाथ में घोडों की रास सुशोभित हो रही है। तथा महाभारत युद्ध में मरने वाले वीर जिनकी अनुपम छवि का दर्शन करते रहने से अपने सच्चे स्वरूप को प्राप्त हो गये उन्ही पार्थ .सारथी भगवान् श्रीकृष्ण मे मुझ मरणासन्न की परम प्रीति हो।

तात्पर्य

भगवान् का विशुद्ध भक्त निरन्तर भगवान् को अपने भीतर उपस्थित देखता है। क्योंकि वह उनसे दिव्य भूमिका मे अन्तर्सन्धित है। ऐसा शुद्ध भक्त भगवान् को एक क्षण के लिए भी नही भूल सकता। यही "भाव" कहलाता है। यही समाधि कहलाती है। योगी जीवात्मा में, अन्तर्यामी मं इन्द्रियो को एकाग्र कर उनमे सयुक्त करना चाहते है और अन्त मे समाधि को उपलब्ध करना चाहते है। एक भक्त सुगमता पूर्वक इस समाधि को उपलब्ध कर लेता है। भगवान् के सगुण साकार विग्रह का निरन्तर स्मरण करते हुए तथा उनके नाम, उनके यश उनकी लीलाओ का चिन्तन करते हुए अत्यन्त शीघ्र वह इस समाधि को उपलब्ध कर लेता है। इसलिए योगियों की एकाग्रता और भक्तों की एकाग्रता मे धरातल समान नही है। योगी की एकाग्रता यान्त्रिक है, जबकि शुद्ध भक्त की एकाग्रता अति स्वाभाविक तथा रसमय है। भक्त का हृदय विशुद्ध प्रेम में शिशु की भाँति द्रवित हो रहा है। स्वाभाविक रूप से वह प्रेम के सागर मे क्रीड़ा सा करता रहता है।

भीष्मदेव एक शुद्ध भक्त थे और एक योद्धा की भाँति उन्होने युद्ध क्षेत्र मे भगवान् श्रीकृष्ण को स्मरण किया। पार्थ सारथी के रूप मे उनका दर्शन किया उन्हे चाहा. योद्धा के रूप मे ही उनसे मिलने की आकाँक्षा की। अर्जुन का सारथ्य करते हुए जो उनका रूप अभिव्यक्त हुआ उसने भीष्मदेव के मन की हृदय की अतलान्त गहराइयो को स्पर्श करता चला गया। भीष्म को वह रूप बहुत भाया। इसलिये मरणासन्न शरशय्या पर पड़े हुये भी वे उन्ही की स्मृति में डूब उतरा रहे है पार्थ सारथी के रूप मे भगवान् की लीला भी नित्य है भगवान् की, सभी लीलाये कारागार मे जन्म से लेकर मौसल लीला पर्यन्त एक के पश्चात् दूसरा सभी ब्रह्माण्डो मे ठीक वैसे ही चलते रहते है, जैसे घडी का काँटा एक के पश्चात् दूसरी सख्याओं पर निरन्तर चलता ही रहता है। उस नित्य लीला मे भगवान् के सखा जैसे पाण्डव एव भीष्म भी उनके नित्य सखा पार्षद बने रहते है। अत भीष्मदेव भगवान् के उस पार्थ सारथी रूप मे प्रकाशित अत्यन्त सौन्दर्यमय रसमाधुर्य को कभी विस्मृत नही कर सकते। उस रूप को अर्जुन नही देख पाये, क्योंकि अर्जुन उनके पार्थ सारथी रूप के पीछे थे। भीष्मदेव बिलकुल सम्मुख थे भगवान् के। जहाँ के योद्धा स्वरूप का सम्बन्ध है, भीष्मदेव ने इसे अत्यन्त सूक्ष्म रूप से निरीक्षण किया, देखा एवं अर्जुन से अधिक अ।

कुरुक्षेत्र के मैदान में युद्ध करने वाले समस्त सैनिकों ने मृत्यु के पश्चात् भगवान् की सारूप्य अवस्था को प्राप्त किया क्योंकि भगवान् की दयालुता अगाध है असीम है। वे भगवान् की ही कृपा से उन्हे देखने में समर्थ हुए। उनके सम्मुख उनके नेत्रों में नेत्र मिलाये खड़े थे, युद्धकर रहे थे। यह सुअवसर उन भगवान् की कृपालुता से ही उपलब्ध हुआ था। चीटी से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त समस्त आश्रित जीव विकास चक्र में परिभ्रमण कर रहे हैं और यह समस्त माया के ही रूप है। माया का ही प्रतिफलन है। माया की यह एक लम्बी प्रक्रिया है। भौतिक जीवों के समस्त वाह्य आवरण देहादिक वाह्य वेशभूषा विजातीय तत्व है। जव जीव भौतिक ऊर्जा के तीव्र प्रवाह के चंगुल से उन्मुक्त होते है; तव वे अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त होते है। निराकारवादी व्रह्म अर्थात् भगवान् के वाह्य ब्राह्मी प्रकाश को उपलब्ध होना चाहते है। परन्तु वह जीव के लिए उपयुक्त सहज स्वभाव नही है, क्योंकि जीव का वास्तविक स्वरूप भगवान् के साथ अश एवं अशी का है। वह सेवक एवं स्वामी का मधुमय सम्बन्ध है और वह संबध सर्वथा अप्राकृत है इसलिए निराकारवादी उन्ही भौतिक रूपों मे पुन. पतित हो जाते है।

जिन्हे वे मिथ्या एवं है अशुभ कहते है भगवान् का चतुर्भुज या द्विभुज रूप भक्तगण वैकुण्ठ लोक में अथवा गोलोक धाम मे प्राप्त करते है। यह उनकी मौलिक प्रवृत्तिगत आकाँक्षा पर अवलम्बित करता है। यह रूप जिससे जीव भगवान् का दर्शन करता है। तथा उनके धाम मे निवास करता है तथा उनकी सेवा मे संलग्न होता है। शत-प्रतिशत अप्राकृत होता है यही जीव का वास्तविक स्वरूप कहलाता है। और सम्पूर्ण जीव जो महाभारत युद्ध मे सम्मिलित हुए थे इस स्वरूप को प्राप्त हुए भीष्मदेव इसे स्वीकार कर रहे है। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण केवल पाण्डवो के ही प्रति दयामय नही दूसरे पक्ष के लिए भी वे अतिशय दयालु थे। क्योंकि वे सव उसी अन्तिम फल को प्राप्त हुए। भीष्मदेव ने इस सुविधा इस अमृत वर्षा का लाभ लेना चाहा और भगवान् श्रीकृष्ण से उनकी प्रार्थना का यही निष्कर्ष था। यद्यपि भगवान् के अन्तरङ्ग पार्षद के रूप में उनकी भूमिका समस्त परिस्थितियों मे स्वीकृत हो चुकी थी। निष्कर्ष यह है कि जो व्यक्ति भगवान् को हृदय मे अथवा वाहर देखते हुए प्राणत्याग करता है वह जीवन की चरम पूर्णता को उपलब्ध होता है।

[४०]

ललितगतिविलासवल्गुहास
प्रणयनिरीक्षणकल्पितोरुमानाः ।
कृतमनुकृतवत्य उन्मदान्धाः
प्रकृतिमगन् किल यस्य गोपवध्वः ॥

ललित=अति आकर्षक; गति=चलने की शैली; विलास=अत्यन्त मोहक कार्य कलाप; वल्गु-हास=अत्यन्त मधुर-मुस्कान; प्रणय=स्नेह प्रीतिमय; निरीक्षण=देखने की शैली; कल्पिता=मन:स्थिति; उरुमाना:= अत्यन्त महिमान्वित; कृत-मनु-कृत-वत्य:=उनके हास विलासों-विविध लीलाओं एवं गति विधियों का अनुकरण करने में; उन्मदान्धा:=आनन्द उन्माद परिप्लुत होकर; प्रकृतिम्=परम विलक्षणता को; अगन्=प्राप्त हुए, किल=निश्चित ही; यस्य=जिसका; गोप-वध्व:=व्रज की गोपाङ्गनाएँ।

अनुवाद

भीष्म कहते है—इन भगवान् पार्थ सारथी ने वृन्दावन धाम में अपनी बाल्यकालीन मधुरतम लीला प्रगट करते हुए अपनी ललित चरण-चालन की प्रक्रिया से, गूढ़-गहन भावों से युक्त चेष्टाओं से, मधुमय-मुस्कान एव प्रीति भरी चितवन से प्रेमोन्मादिनी गोपाङ्गनाओं का परम सम्मान किया था, जिससे वे हर्ष विभोर हो नृत्य कर उठीं और तब श्रीकृष्ण भी नृत्य कर उठे और उस रासनृत्य के मध्य गोपियाँ जब मतवाली हो उठी तब वे महाप्रभु अन्तर्धान हो गये, तब तो वे प्रेमोन्माद में डूबकर सब कुछ भूलकर मन ही मन उन्हीं का स्मरण करती हुई उन्हीं की मनोहारिणी लीलाओं का अनुकरण करने लगी थी। उन्ही में तन्मय हो गई थीं। उन्हीं भगवान् श्री कृष्ण में मेरी प्रगाढ़ प्रीति हो।

तात्पर्य

भगवान् की प्रेममयी सेवा की गहन चरम आनन्दानुभूतियों में डूबकर, ब्रजभूमि की श्रीकृष्ण दर्शन लालसा की घनीभूत मूर्तिरूपा गोपाङ्गनाओं ने भगवान् से एकतानता प्राप्त कर ली गुणात्मक रूप से वे उन परम प्रेमास्पद से एक हो गईं। वे उनके कन्धों में बाहें डालकर नृत्य करने लगी,

दिव्यप्रेम में हर्षातिरेक से विभोर होकर उन्हें आलिङ्गन करने लगीं। परिहास करते हुए, उनके सम्मुख मुस्कराने लगीं तथा प्रेमभरी दृष्टि से उनकी ओर एकटक देखने लगी। निःसन्देह भीष्मदेव आदि महान् भक्तों द्वारा अर्जुन के भक्तिभाव की भूरि-भूरि प्रशसा हुई है। तथापि गोपियों के साथ भगवान् का सम्बन्ध अनिर्वचनीय है। क्योंकि प्रेममयी सेवा के वे अत्यन्त परिशोधित पवित्रतम धरातल पर आरूढ़ है। भगवान् की कृपा से अर्जुन इतने भाग्यशाली हुए थे कि वे उन्हें भ्रातृभाव से प्रेममयी सेवा अर्पित कर सके और भगवान् स्वयं उनके रथ के सारथी बने। किन्तु भगवान् ने अर्जुन को कभी भी अपनी तुल्यता प्रदान नही की। केवल गोपियो को वह तुल्यता भगवान् के द्वारा प्राप्त हुई थी। भीष्म की प्रेरणा गोपियों की प्रार्थना के लिए इसलिए हुई क्योंकि जीवन के अन्तिम क्षणों में वे उनकी कृपा प्राप्त करना चाहते हैं। भगवान् तब अधिक संतुष्ट होते हैं। जब भक्त महिमान्वित होते है, गरिमान्वित होते है। इसलिए भीष्मदेव ने अर्जुन की कृतियों को ही नही बल्कि श्रीगोपीजनों का भी स्मरण किया, जो भगवान् के प्रति दिव्यसेवा समर्पण करती हुई जीवन की अद्वितीय भाव भूमिका मे आरूढ़ थीं। गोपियों की भगवान् के साथ तुल्यता की तुलना कभी भी निराकारवादियों की सायुज्य मुक्ति से करने की त्रुटि नही करनी चाहिये।

क्योंकि श्री गोपीजनों की भगवत्तुल्यता प्रेम, आनन्द के हर्षातिरेक की ८ निगूढ़ अवस्थाओं की भाव भूमिका में से एक है, जहाँ विभिन्न प्रकार की धारणाएँ कल्पनाएँ कभी की वाष्पीभूत हो चुकी है वहाँ उन्हें कोई गम नहीं वहाँ तो प्रेमी एवं प्रेमास्पद परम प्रेम की अतलान्त गहराइयों में डूब-उतरा रहे हैं, जबकि निराकारवादियों का ब्रह्मात्मैक्य सरफेस की केवल कल्पनाएँ हैं बौद्धिक व्यायाम है जिसका सत्य से कोई सम्बन्ध नहीं।

[४१]

मुनिगणनृपवर्यसंकुलेऽन्तःसदसि युधिष्ठिरराजसूय एषाम्।
अर्हणमुपपेद ईक्षणीयो मम दृशिगोचर एष आविरात्मा॥

मुनिगण=महान् विद्वान ऋषिगणों; नृपवर्य=श्रेष्ठ राजाओं से; संकुले=घिरे हुए; अन्तः-सदसि=सभा में; युधिष्ठिर=सम्राट् युधिष्ठिर; राज-सूय=राजसूय यज्ञ में, एषाम्=इन समस्त श्रेष्ठ लोक समूह के मध्य;

[४२]

तमिममहमजं शरीरभाजां
हृदि हृदि धिष्ठितमात्मकल्पितानाम् ।
प्रतिदृशमिव नैकधार्कमेकं
समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः ॥

तम्=वे भगवान्; इमम्=यह, जो मेरे सम्मुख अभी उपस्थित हैं; अहम्=मैं; अजम्=अजन्मा; शरीर-भाजाम्=आश्रित जीव का; हृदि=हृदय में; धिष्ठितम्=अवस्थित; आत्म=अन्तर्यामी; कल्पितानाम्=कल्पना करने वालों का; प्रतिदृशम्=प्रत्येक दिशाओं में; इव=सदृश; न एकधा=एक नही; अर्कम्=सूर्य; एकम्=एक अकेला; समाधि-गतः अस्मि=मैं उनके ध्यान में मग्न हो गया; विधूय=मुक्त होकर; भेद-मोह.=द्वैत के बुद्धि विपर्यय से ।

अनुवाद

अब मैं भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य श्रीविग्रह पर सम्पूर्ण एकाग्रतापूर्वक ध्यान करता हूँ जो मेरे सम्मुख प्रत्यक्ष उपस्थित हैं। मैं सम्पूर्ण द्वैत धारणाओं के भ्रमों का अतिक्रमण करके अन्तर्यामी के दर्शन में संलग्न हो गया हूँ। जैसे एक ही सूर्य अनेक आँखों से अनेकों रूपों में दृष्टिगोचर होता है वैसे ही एक अजन्मा भगवान् श्रीकृष्ण अपने ही द्वारा रचित अनेक शरीर धारियों के हृदय में अनेक रूप से प्रतीत होते हैं। वास्तव में तो वे सबके हृदय में समानरूप से विराजमान है।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण अद्वय हैं। साक्षात् परब्रह्म हैं भगवत्ता के सर्वोच्च मौलिक व्यक्तित्व है। परन्तु अपनी अचिन्त्य शक्ति का विस्तार करते हुए वे अनेक अवतार धारण करते हैं। द्वैत की धारणा उनकी अचिन्त्य शक्ति की महिमा के अज्ञान के कारण है। भगवान् श्रीकृष्ण भगवद्गीता (९।११) में कहते है कि केवल मूर्ख ही उन्हें सामान्य मनुष्य समझते हैं।

और ऐसे मूर्ख उनकी अचिन्त्य शक्तियों से अनभिज्ञ होते है। अपनी अचिन्त्य शक्ति से वे प्रत्येक भूत प्राणियों के हृदय मे विराजमान है। जैसे सम्पूर्ण विश्व में सूर्य सम्पूर्ण व्यक्तियों के सम्मुख उपस्थित है वैसे ही भगवान् का परमात्म-स्वरूप उनके अश की भी आंशिक अभिव्यक्ति है। वे स्वयं को प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में विराजमान परमात्म-स्वरूप में अभिव्यक्त करते हैं। यह उनकी अचिन्त्य शक्ति की ही एक क्रीड़ा है, एक विलास है। और स्वयं को वे ब्रह्मज्योति के रूप मे भी प्रकट करते हैं जो उनकी व्यक्तिगत ज्योत्स्ना के देदीप्यमान,जाज्वल्यमान आलोक का ही एक नगण्यतम स्फुलिङ्ग है। ब्रह्म संहिता मे यह कहा गया है कि यह ब्रह्मज्योति उनकी व्यक्तिगत श्रीविग्रह की आभा है, उनके व्यक्तित्व की छवि-छटा का बाह्य प्रकाश है। इसलिए भगवान् एव ब्रह्मज्योति और उनकी आशिक अभिव्यक्ति परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है। अज्ञ मनुष्य ही परमात्मा एवं ब्रह्मज्योति को भगवान् श्रीकृष्ण से पृथक् देखते है। द्वैत की यह विपरीत धारणा, यह बुद्धि-विपर्यय भीष्मदेव के मानस-पटल से पूर्णतया तिरोहित हो गया था। और वे भगवान् श्रीकृष्ण को सम्पूर्ण भूतप्राणियों मे सर्वत्र विद्यमान अनुभव करके अत्यन्त शान्त एवं सन्तुष्ट हो गये थे। यह अन्तर्प्रकाशमयी अनुभूति महात्मा एव भक्तों की निजी सम्पत्ति है। भगवद्गीता में वर्णित हुआ है (७/१९) में भगवान् कहते है कि सम्पूर्ण पदार्थों मे सर्वत्र सभी दिशाओं मे वासुदेव ही वासुदेव अनुस्यूत हो रहे है, वही सर्वत्र ओतप्रोत हो रहे है। उनकी ही सत्ता सर्वत्र स्फुरित हो रही है। उस अद्वितीय वासुदेव की ही झांकी सर्वत्र झिलमिला रही है। वासुदेव अथवा भगवान् श्रीकृष्ण ही भगवत्ता के मौलिक विग्रह है; जैसे कि महाजनों के द्वारा स्वीकृत हुआ है। इसलिए नवीन भक्त तथा विशुद्ध भक्तो को अवश्यमेव उन महाजनो के पंथ का अनुसरण करना चाहिए। यही भक्तिमार्ग का प्रशस्त स्वरूप है।

भीष्मदेव के इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्ण का जो अत्यन्त प्रिय, हृदयस्पर्शी श्रीविग्रह है वह पार्थसारथी स्वरूप है। तथा श्रीगोपीजनों को जो अत्यन्त प्रिय स्वरूप है, वह इन्ही श्रीकृष्ण का वृन्दावन में लीला करते हुए परम आकर्षक श्यामसुन्दर विग्रह है। नि.सन्देह, ये दोनों एक ही हैं। कभी-कभी अज्ञ मनुष्य चाहे वे भौतिक दृष्टि से बहुत बड़े प्रकाण्ड पण्डित ही क्यों न हों, त्रुटि पूर्ण विचार करने लगते है। वे मार्गच्युत लोगों में से है जो कहते हैं वृन्दावन के श्रीकृष्ण एवं महाभारत के श्रीकृष्ण भिन्न-भिन्न व्यक्तितत्व हैं। परन्तु भीष्मदेव के सामने यह भेदभ्रम नहीं था। यहाँ तक कि निरा-

कारवादियों का ध्येय ब्रह्मज्योति भी भीष्म के लिए श्रीकृष्ण से पृथक् नही है। तथा योगियों का ध्येय परमात्मा भी कृष्ण से अभिन्न था। श्रीकृष्ण ब्रह्मज्योति एवं परमात्मा दोनों है यह तो सत्य है परन्तु ब्रह्मज्योति या परमात्मा ही श्रीकृष्ण नही हैं। श्रीकृष्ण के साथ मधुर मनोहर सम्बन्ध की कोई सम्भावना भी वहाँ नही है। श्रीकृष्ण के व्यक्तिगत स्वरूप में पार्थसारथी एव वृन्दावन के श्यामसुन्दर हैं; परन्तु उनके निराकाररूप मे, ब्रह्मज्योति मे, परमात्मा नही है। भीष्मदेव की भाँति महापुरुष इन दोनों वक्तव्यों के अन्तर को एव श्रीकृष्ण के इन समस्त स्वरूपों के रहस्यों को भलीभाँति जानते है और इसीलिए वे उन्हें परमात्मा का अनादि मौलिक स्वरूप जानते हुए उनकी पूजा करते हैं।

[४३]

सूत उवाच

कृष्ण एवं भगवति मनोवाग्दृष्टिवृत्तिभिः।
आत्मन्यात्मानमावेश्य सोऽन्तः श्वास उपारमत् ॥

सूतः उवाच=सूत गोस्वामी बोले; कृष्णः=भगवान् श्रीकृष्ण; एवम् =केवल; भगवति=भगवान् को, मनः=मन; वाक्=वाणी; दृष्टि=दृष्टि; वृत्तिभिः=कार्यों से; आत्मनि=अन्तर्यामी को; आत्मानम्=जीव को; आवेश्य= लीन करके; सः=वह; अन्तः-श्वास=अन्दर जाने वाला श्वास; उपारमत्=रुक गया।

अनुवाद

सूत गोस्वामी बोले—इस प्रकार भीष्मपितामह ने मन, वाणी एव दृष्टि की वृतियों से आत्म स्वरूप अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्ण में अपने आप को लीन कर दिया। उनके प्राण वही विलीन हो गये और वे शान्त हो गये, उनके श्वास रुक गये।

तात्पर्य

भीष्मदेव की यह देहत्याग की अवस्था निर्विकल्प-समाधि की

अवस्था कही जाती है; क्योंकि वे सम्पूर्णतया भगवत्सम्बन्धी विचारों एवं भगवान् की लीलाओं में खो गये, लीन हो गये भगवान् की स्मृति ही एकमात्र बच रही उन्होंने भगवान् की महिमा का उपदेश किया तथा अपनी दृष्टि से भगवान् श्रीकृष्ण के अद्भुत व्यक्तित्व को अपने सम्मुख उपस्थित देखा और इस प्रकार उनकी सम्पूर्ण मानसिक वाचिक क्रियाएँ अविच्छिन्न रूप से भगवान् श्रीकृष्ण में ही समाहित हो गये और पूर्णता की यही सर्वोच्च अवस्था है। प्रेममयी सेवा के द्वारा पूर्णता की यह स्थिति प्राणीमात्र के लिए सर्वथा सम्भव है। भगवान् के प्रति प्रेममयी सेवा में निम्न नौ अङ्ग अन्तर्भूत हैं। १. श्रवण, २. कीर्तन, ३. स्मरण, ४. चरण-कमलों का सेवन, ५. पूजन, ६. प्रार्थना, ७. उनकी आज्ञाओं का पालन, ८. उनके साथ भ्रातृभाव से प्रेम, ९. उनके प्रति आत्म निवेदन। इनमें से कोई एक अथवा सभी भक्त्यङ्ग भगवान् को समर्पित होकर अभीष्ट फल प्राप्त कराते है। परन्तु वे अत्यन्त अपेक्षा करते है किसी सिद्ध गुरु के सम्मुख उपस्थित होकर उनकी कृपा प्राप्त करने की। और जब उनकी कृपा प्राप्त हो जाती है तब ये सर्वथा सुगम हो जाते हैं एवं अत्यन्त सफल परिणाम उपस्थित करते है। प्रथम अङ्ग है श्रवण जो सम्पूर्ण अङ्गों में अति महत्वपूर्ण है। और इसलिए श्रीमद्भगवद्गीता का श्रवण तत्पश्चात् श्रीमद्भागवत का श्रवण भीष्मदेव की भाँति देहत्याग अथवा प्रेमाभक्ति की अवस्था प्राप्त करने के इच्छुक भक्तों के लिए अति आवश्यक है। अभी भी भीष्मदेव की-सी अलौकिक अवस्था सभी के लिए प्राप्त हो सकती है। यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण अभी अनुपस्थित हैं तथापि भीष्मदेव की अवस्था अभी भी उपलब्ध हो सकती है। दूसरे शब्दों में भगवद्गीता या श्रीमद्भागवत भगवान् से अभिन्न है। वे भगवान् के शब्दावतार है, ध्वन्यावतार है, वाङ्मय विग्रह है, और उनके श्रवण से भीष्मदेव के समान अवस्था की प्राप्ति सुगमतर हो जाती है। प्रत्येक प्राणी किसी स्थिति में मरते ही हैं परन्तु जो भीष्मदेव की भाँति मरते हैं वे पूर्णता प्राप्त करते है। और जो मृत्यु के वश होकर मृत्यु से आक्रान्त होकर मजबूर होकर मरते हैं वे प्रकृति के निमानुसार मरते है, पशुओं की भाँति मरते हैं। यही पशुओं एवं मनुष्यों में अन्तर है। मनुष्य योनि मनुष्य का जीवन विशेष रूप से भीष्मदेव की भाँति मृत्यु प्राप्त करने के लिए उपलब्ध हुआ है।

[४४]

सम्पद्यमानमाज्ञाय भीष्मं ब्रह्मणि निष्कले ।
सर्वे बभूवुस्ते तूष्णीं वयांसीव दिनात्यये ।।

सम्पद्यमानम्=विलीन हो गये, आज्ञाय=ऐसा जानकर, भीष्मम्=श्रीभीष्मदेव को; ब्रह्मणि=सर्वोच्च अद्वय भगवान् में; निष्कले=असीम में; सर्वे=सब; बभूवु: ते=वे सब हो गये; तूष्णीम्=शान्त मौन, गम्भीर; वयांसि-इव=पक्षियों की भाँति; दिन-अत्यये=दिवस के अवसान में ।

अनुवाद

भीष्मदेव को अनन्त अद्वय नित्य ब्रह्म में लीन जानकर उपस्थित ऋषि समूह एवं राजपरिवार वैसे ही मौन एवं शान्त हो गये जैसे सन्ध्या-काल में दिवस के अवसान में पक्षियों का कलरव शान्त हो जाता है ।

तात्पर्य

अद्वय ब्रह्म में लीन होने का अर्थ है जीव का अपने मौलिक नित्य आवास भगवद्धाम में प्रवेश । भगवान् के ही अविभाज्य अङ्ग हैं जीव इस-लिए वे भगवान् से नित्य निरन्तर दास्यभाव से सयुक्त है । भगवान् अपने इन समस्त अविभाज्य अङ्गों के द्वारा दास्यभाव से सेवित होते है; ठीक उसी प्रकार जैसे एक मशीन अपने अङ्ग-प्रत्यङ्गों द्वारा सेवित होती है । मशीन का कोई भी अङ्ग निकाल दिया जाता है तो वह अधिक महत्वपूर्ण नही रह जाता । इसी भाँति भगवान् से कोई भी अङ्ग विच्छिन्न होकर उनकी सेवा में आये बिना निरुपयोगी रहा आता है । भौतिक जगत् के समस्त जीव भगवान् के विश्व-विग्रह से विच्छिन्न हुए विशृङ्खलित हो रहे उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग है । और वे उनसे संयुक्त हुए बिना किसी भी भाँति महत्वपूर्ण नही हो सकते । अत्यन्त महत्वपूर्ण जीव, अत्यन्त उन्नत जीव वे है, जो नित्य मुक्त हो चुके हैं । भगवान् की भौतिक-ऊर्जा 'दुर्गा शक्ति' कह-लाती है । इन्हें संसार रूपी कारागार की अधीश्वरी कह सकते हैं, जो जीवों की उन्नति की संरक्षिका होती है । जब जीव इस तथ्य से अवगत होता है, तब वह भगवान् के नित्यधाम को प्राप्त करने का निर्णय लेता है ।

उसकी भगवत्प्रेम विषयक लालसा प्रगाढ़ होती जाती है। यह लालसा अथवा आध्यात्मिक संवेग ही ब्रह्म-जिज्ञासा कहलाती है। सैद्धान्तिक रूप से यह ब्रह्म जिज्ञासा ज्ञान वैराग्य एवं भगवद्भक्ति के द्वारा सफल होती है। ज्ञान का अर्थ होता है सर्वोच्च ब्रह्म के सन्दर्भ में सब कुछ जानना। संन्यास का अर्थ होता है—भौतिक मोह एवं आसक्तियों से वैराग्य। प्रेममयी सेवा का अर्थ होता है जीव की वास्तविक मौलिक भूमिका पर अवस्थित होने का अभ्यास। सफल जीव वह है जिसने अपने जीवनकाल में भगवद्धाम में प्रवेश करने की योग्यता प्राप्त कर ली है। वही ज्ञानी, योगी तथा भक्त कहलाता है। ज्ञानी एवं योगी परमात्मा के बाह्य निराकार आलोक में प्रवेश करते हैं। परन्तु भक्त अप्राकृत लोक भगवद्धाम मे प्रवेश करते हैं। जिसे वैकुण्ठ कहा जाता है। इन समस्त अप्राकृत लोकों में भगवान् नारायण का आधिपत्य है और स्वरूपस्थ अनाश्रित जीव वहाँ निवास करते हैं। तथा भगवान् के प्रति परम प्रेम से भरकर वे दास्य, सख्य एवं माधुर्य भाव से उनकी सेवा करते हैं। वहाँ अनाश्रित जीव भगवान् के साथ अनन्त स्वतन्त्रता का आनन्द लेते हैं, जबकि निराकारवादी ज्ञानी एवं योगी वैकुण्ठ लोक की दूरस्थ बाह्य प्रकाश में प्रवेश कर अस्तित्व विहीन हो जाते हैं। वैकुण्ठ लोक स्वतः प्रकाशमान है। वह सूर्य की भाँति तीक्ष्ण ज्योतिर्मय हैं। और उनकी ये किरणें, वैकुण्ठ लोक की ये बाह्य किरणे ही ब्रह्मज्योति कहलाती हैं। ब्रह्मज्योति का विस्तार सीमातीत है। और भौतिक जगत इसी ब्रह्म ज्योति का एक नगण्यतम अज्ञानाच्छन्न अंश है। परन्तु इसका आवरण भी अत्यन्त क्षणिक है। और इसलिए यह एक प्रकार से भ्रम-मात्र है।

भीष्मदेव ने भगवान् के एक सच्चे भक्त की भाँति वैकुण्ठ लोक मे प्रवेश किया, जहाँ भगवान् स्वयं पार्थ सारथी के रूप में दर्शन देते रहते है। तथा वहाँ के निवासी भगवान् के अनन्य प्रेमियों पर उनके ही आकर्षण का जादू निरन्तर छाया हुआ है। वे निरन्तर उन भक्तों के द्वारा प्रेममयी सेवा का आनन्द ले रहे हैं। प्रेमाभक्ति जो भक्त और भगवान् को परस्पर बाँध लेती है, वह भीष्मदेव में प्रत्यक्ष हो रही है। भीष्मदेव भगवान् के दिव्य स्वरूप को, उनके पार्थसारथी विग्रह को कभी भी नही भूल सके। और आज जब वे देहत्याग कर रहे हैं, जब वे दिव्य-धाम में प्रवेश हैं, तब भी वे ही करुणामय स्वामी सम्मुख खड़े हैं और पा याद आ रहे और पार्थसारथी उन्हें दिखाई दे रहे हैं। भीतर

सर्वत्र चारों ओर पार्थसारथी ने जीवन को घेर लिया और भीष्मदेव मग्न हो गये डूब गये हैं उन्ही में। यही जीवन की वास्तविक परिपूर्णता है।

[४५]

तत्र दुन्दुभयो नेदुर्देवमानववादिताः।
शशंसुः साधवो राज्ञां खात्पेतुः पुष्पवृष्टयः॥

तत्र=तत्पश्चात्; दुन्दुभयः=दुन्दुभी आदि; नेदुः=बजने लगे, देव=स्वर्ग के देवता; मानव=पृथ्वी के मनुष्य, वादितः=द्वारा बजाये गये; शशंसुः=प्रसंशा की; साधवः=सज्जन; राज्ञाम्=राजा की आज्ञा से, खात्=आकाश से; पेतुः=होने लगी; पुष्प-वृष्टयः=पुष्पों की वृष्टि।

अनुवाद

तत्पश्चात् उनके स्वागत में मनुष्यों एवं देवताओं ने उनके सम्मानार्थ नगाड़े बजाये साधु स्वभाव के राजा उनकी प्रशंसा करने लगे, तथा आकाश से पुष्पों की वृष्टि होने लगी।

तात्पर्य

भीष्मदेव मनुष्यों एवं देवताओं के द्वारा भी आदरणीय थे जैसे मनुष्य भूः एवं भुवः इन दोनों लोकों में निवास करते हैं, उसी प्रकार देवता भी स्वः नामक एक स्वर्गीय लोक मे निवास करते हैं। और वे सभी भीष्म-देव को एक महान् योद्धा एवं भगवान् के महान् भक्त के रूप में जानते थे 'महाजन' की भाँति भीष्मदेव ब्रह्मा नारद एवं शिव की भाव भूमिका पर अवस्थित थे। यद्यपि वे एक मानव थे, तथापि उनकी चेतना की स्थिति—अतिमानवीय थी। उनकी योग्यता देवताओं के समक्ष भी श्लाघनीय हो गई थी, क्योंकि उनकी आध्यात्मिक पूर्णता चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। जब दूरवर्ती लोकों के निवासियों ने भीष्मदेव के भगवद्धाम-गमन का समाचार सुना तो वे सब उच्चाति-उच्च लोकों के नागरिक अपने-अपने स्वचालित विमानों पर बैठकर शीघ्र आकाश में आकर ठहर गये एवं वहाँ से पुष्पों की वर्षा करने लगे। और इस प्रकार इस दिवङ्गत महान्

व्यक्तित्व को अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने लगे। ऐसे स्वर्गीय पुष्पों की वर्षा देवताओं के हृदय की श्रद्धा का द्योतक है। भीष्मदेव पर पुष्पो की यह वर्षा मृत-शरीर की सजावट के रूप में नही ली जानी चाहिए। वास्तव मे भीष्मदेव का शरीर तो अपने भौतिक प्रभावों का परित्याग कर चुका था। अपनी सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक उपलब्धि से उन्होने अपने देह की समस्त भौतिकता के कालुष्य को नष्ट कर डाला था। और इस प्रकार उनके शरीर का अप्राकृतीकरण हो गया था। जिस प्रकार लोहा अग्नि के ससर्ग से अग्निवर्ण एव अत्यन्त उष्ण हो जाता है; उसी प्रकार जीव जब भगवद्दास्य रूपी अपने नित्य अप्राकृत सम्बन्ध प्राप्त कर लेता है तब वह भी अप्राकृत हो जाता है, दिव्य हो जाता है। इसलिये भक्त का देह-भौतिक स्वीकार नही किया गया है, वरन् दिव्य अप्राकृत स्वीकार किया गया है। ऐसे अप्राकृत देहों के लिये विशेष कार्यक्रम निर्धारित है। परन्तु भीष्मदेव के प्रति अर्पित किया हुआ सम्मान सामान्य व्यक्तियों के लिये कृत्रिमता पूर्वक अनुकरण नही किया जाना चाहिये। सामान्य जनता में आजकल तथाकथित जयन्तियाँ मनाने की प्रणाली प्रचलित हो गयी है। प्रत्येक सामान्य व्यक्ति के लिये जयन्तियाँ मनाई जाती है। शास्त्रों के अनुसार ये जयन्तियाँ सामान्य व्यक्ति के लिये कभी नही मनाई गयी। यह जयन्तियाँ भगवान् के चरणो मे एक अपराध है। चाहे जितना भी महान् पुरुष क्यों न हो उनकी जयन्तियाँ मनाना मर्यादा के विरुद्ध है। क्योकि सम्पूर्ण धर्म-ग्रन्थों एव प्रमाणिक शास्त्रो के अनुसार उन जयन्तियो का मनाना प्रशस्त है जिन तिथियो मे भगवान् का इस धराधाम पर अवतार होता है। भीष्मदेव अपनी कृतियों मे अद्वितीय है और भगवद्धाम में उनका प्रवेश भी उसी प्रकार अद्वितीय है।

[४६]

तस्य निर्हरणादीनि सम्परेतस्य भार्गव।
युधिष्ठिरः कारयित्वा मुहूर्तं दुःखितोऽभवत् ॥

तस्य=उसका, निर्हरणादीनि=मृतक संस्कार; सम्परेतस्य=मृत देह का, भार्गव=हे भृगुवंशी, युधिष्ठिरः=महाराज युधिष्ठिर, कारयित्वा=सम्पन्न करके, मुहूर्तम्=क्षणभर के लिये, दुःखितः=दुःखी, अभवत्=

सर्वत्र चारों ओर पार्थसारथी ने जीवन को घेर लिया और भीष्मदेव मग्न हो गये डूब गये हैं उन्ही में। यही जीवन की वास्तविक परिपूर्णता है।

[४५]

तत्र दुन्दुभयो नेदुर्देवमानववादिताः ।
शशंसुः साधवो राज्ञां खात्पेतुः पुष्पवृष्टयः ।।

तत्र=तत्पश्चात्; दुन्दुभयः=दुन्दुभी आदि; नेदु.=बजने लगे; देव=स्वर्ग के देवता; मानव=पृथ्वी के मनुष्य; वादित.=द्वारा बजाये गये; शशंसुः=प्रसंशा की, साधवः=सज्जन; राज्ञाम्=राजा की आज्ञा से, खात्=आकाश से; पेतुः=होने लगी; पुष्प-वृष्टयः=पुष्पों की वृष्टि।

अनुवाद

तत्पश्चात् उनके स्वागत में मनुष्यों एवं देवताओं ने उनके सम्मानार्थ नगाड़े बजाये साधु स्वभाव के राजा उनकी प्रशंसा करने लगे, तथा आकाश से पुष्पों की वृष्टि होने लगी।

तात्पर्य

भीष्मदेव मनुष्यों एवं देवताओं के द्वारा भी आदरणीय थे जैसे मनुष्य भूः एवं भुवः इन दोनों लोकों में निवास करते हैं, उसी प्रकार देवता भी स्वः नामक एक स्वर्गीय लोक में निवास करते हैं। और वे सभी भीष्मदेव को एक महान् योद्धा एवं भगवान् के महान् भक्त के रूप मे जानते थे 'महाजन' की भाँति भीष्मदेव ब्रह्मा नारद एवं शिव की भाव भूमिका पर अवस्थित थे। यद्यपि वे एक मानव थे, तथापि उनकी चेतना की स्थिति—अतिमानवीय थी। उनकी योग्यता देवताओं के समक्ष भी श्लाघनीय हो गई थी, क्योंकि उनकी आध्यात्मिक पूर्णता चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। जब दूरवर्ती लोकों के निवासियों ने भीष्मदेव के भगवद्धाम-गमन का समाचार सुना तो वे सब उच्चाति-उच्च लोकों के नागरिक अपने-अपने स्वचालित विमानों पर बठकर शीघ्र आकाश में आकर ठहर गये एवं वहाँ पुष्पों की वर्षा करने लगे। और इस प्रकार इस दिवङ्गत महान्

व्यक्तित्व को अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने लगे। ऐसे स्वर्गीय पुष्पों की वर्षा देवताओ के हृदय की श्रद्धा का द्योतक है। भीष्मदेव पर पुष्पों की यह वर्षा मृत-शरीर की सजावट के रूप में नही ली जानी चाहिए। वास्तव मे भीष्मदेव का शरीर तो अपने भौतिक प्रभावों का परित्याग कर चुका था। अपनी सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक उपलब्धि से उन्होने अपने देह की समस्त भौतिकता के कालुष्य को नष्ट कर डाला था। और इस प्रकार उनके शरीर का अप्राकृतीकरण हो गया था। जिस प्रकार लोहा अग्नि के ससर्ग से अग्निवर्ण एव अत्यन्त उष्ण हो जाता है; उसी प्रकार जीव जब भगवद्दास्य रूपी अपने नित्य अप्राकृत सम्बन्ध प्राप्त कर लेता है तब वह भी अप्राकृत हो जाता है, दिव्य हो जाता है। इसलिये भक्त का देह-भौतिक स्वीकार नही किया गया है, वरन् दिव्य अप्राकृत स्वीकार किया गया है'। ऐसे अप्राकृत देहों के लिये विशेष कार्यक्रम निर्धारित है। परन्तु भीष्मदेव के प्रति अर्पित किया हुआ सम्मान सामान्य व्यक्तियों के लिये कृत्रिमता पूर्वक अनुकरण नही किया जाना चाहिये। सामान्य जनता में आजकल तथाकथित जयन्तियाँ मनाने की प्रणाली प्रचलित हो गयी है। प्रत्येक सामान्य व्यक्ति के लिये जयन्तियाँ मनाई जाती है। शास्त्रों के अनुसार ये जयन्तियाँ सामान्य व्यक्ति के लिये कभी नहीं मनाई गयी। यह जयन्तियाँ भगवान् के चरणो मे एक अपराध है। चाहे जितना भी महान् पुरुष क्यों न हो उनकी जयन्तियाँ मनाना मर्यादा के विरुद्ध है। क्योंकि सम्पूर्ण धर्म-ग्रन्थों एव प्रमाणिक शास्त्रो के अनुसार उन जयन्तियों का मनाना प्रशस्त है जिन तिथियो मे भगवान् का इस धराधाम पर अवतार होता है। भीष्मदेव अपनी कृतियो मे अद्वितीय है और भगवद्धाम में उनका प्रवेश भी उसी प्रकार अद्वितीय है।

[४६]

तस्य निर्हरणादीनि सम्परेतस्य भार्गव।
युधिष्ठिरः कारयित्वा मुहूर्तं दुःखितोऽभवत्॥

तस्य=उसका; निर्हरणादीनि=मृतक संस्कार; सम्परेतस्य=मृत देह का, भार्गव=हे भृगुवंशी, युधिष्ठिरः=महाराज युधिष्ठिर, कारयित्वा= सम्पन्न करके; मुहूर्तम्=क्षणभर के लिये, दुःखितः=दुःखी, अभवत्=हुए।

अनुवाद

हे शौनक जी ! उसके पश्चात् महाराज युधिष्ठिर ने उनके मृत शरीर की अन्त्येष्टि क्रिया करायी और कुछ समय के लिये वे शोक मग्न हो गये ।

तात्पर्य

भीष्मदेव न केवल महाराज युधिष्ठिर के परिवार के प्रधान व्यक्ति थे अपितु वे एक महान् दार्शनिक, मित्र, भ्रातृ तथा मातृ सब कुछ थे । जब से महाराज पाण्डु (पाँचों पाण्डवो के पिता) की मृत्यु हुई तब से भीष्मदेव ही पाण्डवों के एकमात्र अत्यन्त स्नेह एवं वात्सल्यमय सरक्षक एवं अभिभावक थे । यद्यपि महाराज धृतराष्ट्र महाराज युधिष्ठिर के ताऊ विद्यमान थे, परन्तु उनका प्रेम अपने दुर्योधनादि सौ पुत्रो पर अधिक था बाद मे इन पितृहीन बन्धुओ के विनाश के लिये एक राजनैतिक कूटमण्डली भी सगठित हो गयी । इन पाँचों भाईयों को समाप्त कर देने मे ही उनकी मति सक्रिय होती थी; क्योंकि वे ही हस्तिनापुर के राज्य-शासन के सच्चे अधिकारी थे । इस प्रकार वहाँ एक तीव्र तनाव का वायुमण्डल व्याप्त हो गया, जो प्राय. सभी राजमहलों में पाया जाता है । षड्यन्त्रों से पाँचो भाई देश से निकाले गये, वनवास भेजे गये । परन्तु भीष्मदेव सदा उनके लिये करुणामय अभिभावक पिता, परम मित्र तथा दार्शनिक मार्गदर्शक बने रहे महाराज युधिष्ठिर को इस प्रकार उन्होंने बड़ा आश्वासन दिया। यहाँ तक कि जीवन के अन्तिम क्षणों में उन्होंने उस परम ज्ञान का उपदेश किया जो युधिष्ठिर अन्यत्र कही भी नही उपलब्ध कर सकते थे । उन्होने महाराज युधिष्ठिर को अपनी राजगद्दी पर अभिषिक्त देखते हुए देह त्याग किया, अन्यथा वे पाण्डवों को हुए उनके दु ख से निरन्तर पीडित ही बने रहते । वे निश्चित रूप से जानते थे कि पाण्डु के पुत्र इस कुरुक्षेत्र के महाभारत युद्ध मे भगवान् श्रीकृष्ण के नेतृत्व में अवश्य ही विजयी होंगे । क्योकि वे भगवान् के भक्त है ।

भगवान् के भक्त कभी किसी भी मूल्य पर अन्यायियों एव दुराचारियो के द्वारा विजित नही होते । महाराज युधिष्ठिर भीष्मदेव की इन शुभाकाँक्षाओं को शुभ चिन्तनो को भली-भाँति जानते थे । इसीलिए

उनके वियोग की, उनकी अनुपस्थिति का आभास कर उनके हृदय ने एक वेदना अनुभव की। भीष्मदेव अब जगत् में नहीं रहे एक प्रकार से कुछ क्षणों के लिए उन्हें जगत् सूना सा प्रतीत हुआ। वे बहुत दुखी हुये अपने इन महान् हितैषी पुरुष के अभाव में। इसके अनन्तर उन्होंने भीष्मदेव की अन्त्येष्टि क्रिया की। यद्यपि भीष्मदेव को इसकी कोई आवश्यकता न थी क्योंकि वे मुक्त पुरुष थे। चूँकि भीष्मदेव की कोई सतान नही थी अतः उनके सबसे बड़े पौत्र महाराज युधिष्ठिर उपयुक्तपात्र थे, जो उनकी अन्त्येष्टि संस्कार करते और इस प्रकार भीष्मदेव के लिए भी यह महान् वरदान था कि उनके उपयुक्त पौत्र युधिष्ठिर जैसे धर्मात्मा उनकी सतति के एकमात्र सर्वश्रेष्ठ प्रति-निधि, उनकी अन्त्येष्टि क्रिया कर रहे है।

[४७]

तुष्टुवुर्मुनयो हृष्टाः कृष्णं तद्गुह्यनामभिः।
ततस्ते कृष्णहृदयाः स्वाश्रमान् प्रययुः पुनः॥

तुष्टुवुः=सन्तुष्ट हुए, मुनयः=महर्षि व्यास आदि श्रेष्ठ ऋषिगण, हृष्ट=प्रसन्न मुद्रा मे, कृष्णम्=भगवान् श्रीकृष्ण को, तत्=उनके, गुह्य=रहस्यमय, नामभिः=नामों द्वारा, ततः=तत्पश्चात्, ते=वे, कृष्णहृदयाः=भगवान् श्रीकृष्ण को हृदय में विराजित करके, स्वाश्रमान्=अपने आश्रमों को, प्रययु.=वापस लौटे, पुन.=फिर से।

अनुवाद

उस समय समस्त मुनि गम्भीर आनन्द से भरकर रहस्यमय वेद मन्त्रों के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति करने लगे इसके पश्चात् अपने हृदयों को श्रीकृष्णमय बनाकर वे अपने-अपने आश्रमों को लौट गये।

तात्पर्य

भगवान् के भक्त सदा भगवान् के हृदय में निवास करते हैं और भगवान् अपने भक्तों के हृदय मे निवास करते हैं। यही भगवान् और उनके भक्तों का एक मधुर सम्बन्ध है। भगवान् के प्रति अहैतुकी प्रेम के कारण

भक्तगण सदा उन्हें अपनी अन्तश्चेतना के अतलतल में देखा करते है। और भगवान् भी यद्यपि उन्हे किसी से कुछ भी नही प्राप्त करना है तथापि वे निरन्तर अपने भक्तों के कल्याण कार्यों में सलग्न रहा करते है। सामान्य जीवो के लिए प्रकृति के नियम प्रत्येक कर्मों की उचित प्रतिक्रियाओं की व्यवस्था करते रहते है। परन्तु भगवान् नित्य निरन्तर अपने शुद्ध भक्तों को उचित मार्ग प्रशस्त करने के लिए उत्सुक एवं आतुर बने रहते है। भक्त इसलिए भगवान् के प्रत्यक्ष निर्देशन में रहते है। उनके प्रत्यक्ष निरीक्षण मे रहते है और भगवान् भी स्वेच्छापूर्वक स्वय को भक्तों की सहायता में नियुक्त कर देते है। व्यासदेव आदि समस्त ऋषि मुनिगण भगवान् के भक्त है। अत: उन्होने अन्त्येष्टि सस्कार के अनन्तर वेद मत्रों के द्वारा भगवान् की स्तुति की। भगवद्गीता (१५-१५) में कहा गया है कि वेद उपनिषद्, वेदान्त आदि केवल मुझे ढूंढ़ते है। समस्त मत्र मेरी महिमा का ही गायन करते है। इसलिए भक्त ऋषियों ने उपयुक्त अवसर पर अपने स्वभाव के अनुकूल उपयुक्त प्रयोजन का उपयुक्त कार्य किया और उनकी प्रार्थना करके अपने हृदय को कृष्णमय बनाकर वे अपने-अपने आश्रमों को प्रस्थान कर गये।

[४८]

ततो युधिष्ठिरो गत्वा सहकृष्णो गजाह्वयम्।
पितरं सान्त्वयामास गान्धारीं च तपस्विनीम्॥

ततः=तत्पश्चात्, युधिष्ठिरः=महाराज युधिष्ठिर, गत्वा=जाकर; सह=साथ, कृष्णः=भगवान् श्रीकृष्ण, गजाह्वयम्=अपनी राजधानी हस्तिनापुर को; पितरम्=ताऊ धृतराष्ट्र को, सान्त्वयामास=सान्त्वना दी, गान्धारीम्=ताई गान्धारी देवी को, च=और, तपस्विनीम्=जो तपस्विनी थी।

अनुवाद

उसके पश्चात् महाराज युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्ण के साथ तुरन्त अपनी राजधानी हस्तिनापुर पधारे और वहाँ उन्होने अपने ताऊ धृतराष्ट्र तथा तपस्विनी ताई गान्धारी को सान्त्वना दी।

तात्पर्य

धृतराष्ट्र एव गान्धारी दुर्योधन एवं उसके भाइयों के माता पिता थे। वे महाराज युधिष्ठिर के बडे ताऊ एव ताई थे। कुरुक्षेत्र के युद्ध के अनन्तर ये दोनो सम्मान्य वयोवृद्ध अपने समस्त पुत्रो एव पौत्रों से रहित होकर महाराज युधिष्ठिर के सरक्षण मे आ गये थे। वे अपने अन्तिम दिन अपने मृत पुत्रो के शोक में व्यतीत कर रहे थे। जब भीष्मदेव की मृत्यु का समाचार उन्होंने सुना तो उनके हृदय पर एक आघात सा हुआ। और इसलिए महाराज युधिष्ठिर ने वहाँ शीघ्र आकर उन्हे सान्त्वना प्रदान की। महाराज युधिष्ठिर अपने कर्तव्यों के प्रति अत्यन्त जागरूक थे, और इसीलिए शीघ्रतापूर्वक उन्होने भगवान् श्रीकृष्ण के साथ आकर अपने दु खी ताऊ एव ताई को प्रिय शब्दो से सम्बोधित करते हुए सान्वनादी।

गान्धारी एक शक्ति सम्पन्न तपस्विनी नारी थी। तथा एक आदर्श पत्नी एव कृपामयी माँ का जीवन व्यतीत कर रही थी। कहा जाता है कि जव उन्होने अपने पति को नेत्रहीन देखा तब उन्होंने भी स्वेच्छापूर्वक अपनी आँखो मे पट्टी वाँध ली थी। पत्नी का कर्तव्य है पति का शत-प्रतिशत अनुगमन करे। गान्धारी ने इसे सत्य कर दिखाया वह अपने पति के प्रति इतनी निष्ठावान् थी। आँखे होते हुये भी पति के कारण आजीवन अन्धत्व स्वीकार कर लिया। इसलिए उनकी कृतियों में उनकी वाणियों में अद्भुत शक्ति थी। इसके बावजूद उनके समस्त सौ पुत्र मारे गये तथा पौत्रभी मारे गये यह एक नारी के लिए वहुत ज्यादा था। परन्तु एक तपस्विनी की भाँति उन्होंने यह सब सहा। गान्धारी यद्यपि नारी थी तथापि वे चरित्र में भीष्मदेव से अल्प न थी। वे दोनों महाभारत में एक महत्वपूर्ण भूमिका अर्पित कर रहे थे।

[४९]

पित्रा चानुमतो राजा वासुदेवानुमोदितः।
चकार राज्यं धर्मेण पितृपैतामहं विभुः॥

पित्रा = अपने ताऊ धृतराष्ट्र, चानुमत: = उनकी स्वीकृति से, राजा = राजा युधिष्ठिर; वासुदेव अनुमोदित = वासुदेव भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा

समर्थित, चकार=किया, राज्यम्=राज्य; धर्मेण=शास्त्रोक्त सिद्धान्तों एव नियमों के अनुसार;पितृ=पिता, पैतामहम्=पूर्वज;विभु=महिमामय।

अनुवाद

इसके पश्चात् परम धार्मिक महाराज युधिष्ठिर अपने ताऊ धृत-राष्ट्र की स्वीकृति एव भगवान् श्रीकृष्ण के अनुमोदन से अपने वंश परम्प-रागत साम्राज्य का धर्म पूर्वक शासन करने लगे।

तात्पर्य

महाराज युधिष्ठिर केवल एक कर इकट्ठा करने वाले व्यक्ति नही थे। वे राजोचित कर्तव्य के पालन में सदा जागरूक बने रहते थे, सदा उत्कण्ठित बने रहते थे। उनका कार्य एक पिता एव गुरु से कम न था। राजा को सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं आध्यात्मिक इन सभी क्षेत्रों मे प्रजा की उन्नति की मंगल कामना करते हुए सुविधा प्रदान करनी चाहिए तथा उनके अनुरूप उन्हें हर प्रकार की सहायता देनी चाहिए। राजा को अवश्य ही मानव जीवन के अन्तिम उद्देश्य का ज्ञान होना चाहिए। तथा सम्पूर्ण प्रजाओं को उसी उद्देश्य के मार्ग पर अभिमुख, आरूढ़ होने के लिए निरन्तर प्रेरणा करनी चाहिए। भौतिक बन्धनों की उलझनों से उन्हें निकलने का मार्ग भी प्रदर्शित करना चाहिए। और इसलिए उनका कर्तव्य यह देखना है कि नागरिक पूर्णता की उच्चतम भूमिकाओं पर आरूढ़ हो रहे है अथवा नही।

महाराज युधिष्ठिर ने इन समस्त सिद्धान्तों का, इन समस्त आदर्शों का, निष्ठा पूर्वक पालन किया, कठोरता पूर्वक पालन किया जैसा कि दूसरे अध्याय में देखा जायगा। केवल उन्होंने इन नियमों का कठोरता पूर्वक पालन ही नही किया अपितु उन्होने अपने ताऊ के द्वारा, जो राजनैतिक क्षेत्रो मे अत्यधिक अनुभवी थे, स्वीकृति भी प्राप्त की। भगवद्गीता के प्रसिद्ध दर्शनकार भगवान् श्रीकृष्ण का समर्थन भी उन्हें प्राप्त हुआ। महा-राज युधिष्ठिर एक आदर्श राजा थे। उनके समान सुशिक्षित एवं सुदीक्षित राजा आधुनिक लोकतत्र से अधिक गरिमामय एव महान् होते हैं। जिसमें जनता के लिए, जनता के द्वारा एवं जनता की सरकार कही जाती है। विशेपकर कलियुग मे सभी लोग शूद्रप्राय होते है तथा द्विजन्मा भी कुशि-

क्षित होते है । दुर्भाग्यवश कुसङ्ग मे पड़े हुए होते है इसलिए वे आध्यात्मिक परिपूर्णता को अपने जीवन का ध्येय नही जानते । इसलिए उनके द्वारा किये गये मतदान का कोई मूल्य नही है । और ऐसे उत्तरदायित्वहीन मत के द्वारा निर्वाचित व्यक्ति कभी भी महाराजा युधिष्ठिर की भाँति पूर्णरूपेण उत्तरदायित्व को समझने वाले प्रतिनिधि नही सिद्ध हो सकते । उनकी भाँति नही वन सकते ।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत प्रथम स्कन्ध नवम् अध्याय शोर्षक "भीष्मदेव का भगवान् श्रीकृष्ण की उपस्थिति मे देहत्याग" पर भक्ति वेदान्त नामक टीका समाप्त होती है ।

दशम् अध्याय

भगवान् श्रीकृष्ण का द्वारका को प्रस्थान

[१]

शौनक उवाच

हत्वा स्वरिक्थस्पृध आततायिनो
युधिष्ठिरो धर्मभृतां वरिष्ठः ।
सहानुजैः प्रत्यवरुद्धभोजनः
कथं प्रवृत्तः किमकारषीत्ततः ॥

शौनक उवाच=श्रीशौनक जी बोले; हत्वा=मारकर, स्वरिक्थ=न्याय के अनुसार प्राप्त होने वाली पैतृक सम्पत्ति, स्पृध=हड़प लेने के इच्छुक, आततायिनः=आततायियो को, युधिष्ठिर.=महाराज युधिष्ठिर ने, धर्म-भृताम्=धर्म सिद्धान्तो का दृढता पूर्वक पालन करने वाले, वरिष्ठ.=महान्, सह-अनुजै=अपने छोटे भाइयो के साथ, प्रत्यवरुद्ध=अति सीमित; भोजन=आवश्यकताओ को स्वीकार करने मे; कथम्=कैसे, प्रवृत्त.=सलग्न, किम्=क्या, अकारपीत्=किया; तत.=तत्पश्चात् ।

अनुवाद

श्रीशौनक जी ने पूछा, अपनी पैतृक सपत्ति को छीन लेने के इच्छुक आततायियो का नाश करने के पश्चात् अपने भाइयो से घिरे हुए महा-

राज युधिष्ठिर ने किस प्रकार राज्य-शासन किया तथा कौन-कौन से काम किए ? क्योकि भोगों में तो उनकी आसक्ति तनिक भी नही थी ।

तात्पर्य

महाराज युधिष्ठिर समस्त सदाचारी धार्मिकों में महान् थे और इसलिये वे अपने भाइयों के साथ युद्ध में तनिक भी इच्छुक न थे । राज्यशासन का प्रलोभन उनके मन मे किञ्चित् मात्र भी न था । उन्होने युद्ध किया केवल इसलिए कि हस्तिनापुर का राज्य उनकी पैतृकसम्पत्ति थी एवं न्याय, शौर्य एवं शास्त्र की दृष्टि से उस राजगद्दी पर उन्हें अभिषिक्त होना था । उन्होंने न्याय के लिए युद्ध किया । उनके चचेरे भाई उनको लूट लेना चाहते थे, राज्य छीन लेना चाहते थे । इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण के मार्ग-दर्शन मे उन्होंने युद्ध किया । परन्तु वे उस विजय का आनन्द न उठा सके । क्यों कि जिन भाइयों एवं सुहृद् सम्बन्धियों के लिए भोग उपलब्ध किये जाते है । वे सब महाभारत युद्ध मे मारे जा चुके थे और जो शेष रह गये थे वे दुखी हो गए थे । इसलिए उन्होने राज्य शासन तो किया किन्तु एकमात्र कर्तव्य-भावना से । अपने छोटे भाइयोंसे घिरे हुए उन्होने न्यायपूर्वक राज्यशासन तो किया किन्तु उसमें तनिक भी आसक्ति नही थी,एकमात्र कर्तव्य पालन कर रहे थे । शौनक ऋषि का प्रश्न अति महत्वपूर्ण है । वे जानना चाहते है कि महाराज युधिष्ठिर जब युद्ध से निवृत्त हो गये,राज्य शासन पर अभिषिक्त हो गये, तो उसके पश्चात् उनका व्यवहार कैसा था ? राज्य सुख भोग के संदर्भ मे उनकी प्रवृत्ति कैसी थी ?

[२]

सूत उवाच

वश कुरोर्वंशदवाग्निनिर्हृतं
संरोहयित्वा भवभावनो हरिः ।
निवेशयित्वा निजराज्य ईश्वरो
युधिष्ठरं प्रीतमना बभूव ह ॥

सूत उवाच=श्रीसूत गोस्वामी बोले; वंशम्=वश; कुरोः=कौरव

राजाओं का, वश-दव-अग्नि=बाँसों के संघर्षण से उत्पन्न हुई दावाग्नि; निर्हृतम्=दग्ध हुए, सरोहयित्वा=वंश बीज को पुन. आरोपित करते हुए; भव-भावनः=सृष्टि के पालक भगवान्; हरिः=भगवत्ता के सर्वोच्च विग्रह श्रीकृष्ण, निवेशयित्वा=पुनः स्थापित किया, निज-राज्य=अपने राज्य में, ईश्वर =सर्वोच्च नियन्त्रक भगवान्; युधिष्ठिरम्=महाराज युधिष्ठिर को, प्रीत-मना =अत्यन्त प्रसन्न मन, बभूवह=हुए।

अनुवाद

श्रीसूत गोस्वामी बोले, सम्पूर्ण सृष्टि को नवजीवन प्रदान करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण ने भाई-भाई मे होने वाली कलह रूपी अग्नि में दग्ध कुरुवश को पुनर्जीवित कर महाराज युधिष्ठिर को राज्य सिहासन पर बैठाया और ऐसा करके वे अत्यन्त प्रसन्न हुए।

तात्पर्य

इस संसार की तुलना बाँसों की झाडियो में परस्पर संघर्ष मे उत्पन्न हुई भयंकर अग्नि से की गई हैं। ऐसा दावानल अपने आप लग जाता है क्योंकि बाँस अपने आप ही एक दूसरे से घृष्ट होते है। अकारण ही। इसी भाँति भौतिक जगत मे जो इसके स्वामी बनने की आकाक्षा अभिलाषा से भरे हुए है उनमें स्वभावतः क्रोध उत्पन्न हो जाता है और उस क्रोध की पुन प्रतिक्रिया होती है और इस प्रकार यह क्रोध की आग महान् युद्ध के रूप मे परिवर्तित होती है। और निरुपयोगी जनसख्या नष्ट हो जाती है। ऐसी अग्नि अथवा युद्ध की विभीषिका सघटित हुई और भगवान् को यद्यपि इससे कोई सम्बन्ध नही तथापि चूँकि वे सृष्टि का पालन-पोषण करना चाहते हैं, उन्होने सकल्प किया कि जनसख्या का अत्यन्त अभिवृद्ध भाग भगवत्प्राप्ति के मार्ग का अनुसरण करे जो प्रत्येक जीवों को भगवद्धाम मे प्रवेश का अधिकारी बनाता है। भगवान् चाहते थे कि दु खी प्राणी वापस भगवद्धाम की प्राप्ति करे। अपने स्वरूप को प्राप्त करे। और त्रितापों से तप्त होने के स्थान पर भगवद्धाम्य का सुखानुभव करें। सृष्टि को सम्पूर्ण आयोजना इसी भाँति रचित हुई है। और जो इस भाँति तत्वज्ञान को नहीं उपलब्ध होता, तथा भगवत्प्रेम जनित अनुभवो से वञ्चित रहा आता है,

वह दु:ख उठाता है। भौतिक जगत् में भगवान् की भ्रामिका शक्ति से जीव क्लेश पाता है, दु:खी होता है। इसलिए भगवान् चाहते हैं कि उनका कोई प्रामाणिक प्रतिनिधि ही संसार का शासन करे। भगवान् श्रीकृष्ण इसी भाँति एक परम धार्मिक परम सदाचारी धर्मराज्य की स्थापना करने के लिए तथा अनावश्यक व्यक्तियों को जिन्हे इस योजना से कुछ लेना देना नहीं है ऐसे धरा के भार स्वरूप व्यक्तियों को समाप्त करने के लिए इस भू-मण्डल पर अवतीर्ण होते है। कुरुक्षेत्र का महान् युद्ध भगवान् की इसी योजना के अन्तर्गत हुआ और अनावश्यक व्यर्थ, भू-भार स्वरूप व्यक्ति तत्कालीन वातावरण से बाहर फेंक दिये गये और उनके भक्तों के द्वारा एक नये धर्मराज्य की स्थापना हुई। इसलिए भगवान् महाराज युधिष्ठिर पर अति संतुष्ट थे। उन्हे राजगद्दी पर आसीन कर एवं कुरुवंश की अन्तिम सन्तान परीक्षित की रक्षा कर वे अति प्रसन्न थे।

[३]

निशम्य भीष्मोक्तमथाच्युतोक्तं
प्रवृत्तविज्ञानविधूतविभ्रमः ।
शशास गामिन्द्र इवाजिताश्रयः
परिध्युपान्तामनुजानुवर्तितः ॥

निशम्य=श्रवण कर; भीष्म-उक्तम्=भीष्मदेव के वक्तव्य; अथ=और भी; अच्युत-उक्तम्=अच्युत भगवान् के वक्तव्य; प्रवृत्त=सलग्न; विज्ञान=पूर्णज्ञान; विधूत=सर्वथा शुद्ध; विभ्रम=भ्रम जाल, शशास=शासन किया; गाम्=पृथ्वी को, इन्द्र=स्वर्ग के राजा इद्र, इव=सदृश, अजित-आश्रयः=अजेय भगवान् से संरक्षित, परिध्युपान्ताम्=समुद्रों से घिरी, अनुज=अपने भाइयों द्वारा, अनुर्वर्तितः=अनुगमन किये।

अनुवाद

भीष्म पितामह और भगवान् श्रीकृष्ण के उपदेश वाक्यों के श्रवण से महाराज युधिष्ठिर के अन्तःकरण में दिव्य ज्ञान का उदय हुआ और उनका

मोह मिट गया। भगवान् का आश्रय ग्रहणकर वे अपने भाइयों के साथ समुद्र पर्यन्त सारी पृथ्वी का इन्द्र के समान शासन करने लगे।

तात्पर्य

आधुनिक काल में प्रचलित "जन्मसिद्ध अधिकार" का आङ्ल देश वासियों द्वारा निर्मित कानून अति प्राचीन है जब महाराज युधिष्ठिर इस समग्र पृथ्वी एवं समुद्रों पर शासन करते थे उस काल में भी इसका प्रामुख्य था। उन दिनो में हस्तिनापुर् का सम्राट् जो आजकल नई दिल्ली का एक भाग है समस्त पृथ्वी का सम्राट् कहा जाता था, जिसके अन्तर्गत सारे समुद्र थे। और महाराज युधिष्ठिर के पौत्र महाराज परीक्षित तक यह क्रम चलता रहा। महाराज युधिष्ठिर के समस्त भ्राता राजमन्त्री की भाँति कार्य करते थे और धर्म कार्यों में पूर्णतया सहयोग देते थे। महाराज युधिष्ठिर एक आदर्श सम्राट् एवं भूमण्डल पर भगवान् श्रीकृष्ण के एक विशेष प्रतिनिधि थे। उनकी तुलना देवराज इन्द्र से की गई है जो भगवत्प्रतिधि एवं स्वर्ग लोक के अधिपति है। इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, वरुण, वायु आदि भी विभिन्न लोकों मे भगवान् के प्रतिनिधि है। इसी भाँति महाराज युधिष्ठिर भी उनमें से एक थे जो पृथ्वी का शासन कर रहे थे। महाराज युधिष्ठिर आधुनिक लोकतंत्र के नेताओं की भाँति विवेकहीन नही थे। वरन् वे भीष्मदेव एवं भगवान् अच्युत के द्वारा दिव्य ज्ञान से सम्पन्न हुए थे। ज्ञान के सम्पूर्ण क्षेत्रों में उनकी प्रतिभा अप्रतिम थी।

आधुनिक काल के निर्वाचित शासक एक प्रकार की कठपुतली की भाँति होते है, क्योंकि उनके पास कोई राजोचित शक्ति नही है। यद्यपि वह महाराज युधिष्ठिर की भाँति ज्ञानी हो सकता है तथापि वह अपनी इच्छा से कुछ नही कर सकेगा क्योकि सम्वैधानिक स्थिति ही वैसी है। वहुत से ऐसे राज्य है इस धरती पर जो परस्पर कलह कर रहे हैं। क्योंकि उनके स्वार्थ से सम्वन्धित विविध आदर्शवादिता की प्रवृत्ति अधिक प्रधान है, किन्तु महाराज युधिष्ठिर के पास अपनी कोई आदर्शवादिता नही थी। वे भगवान् अच्युत के तथा उनके प्रामाणिक प्रतिनिधियों के आदेशों एवं उपदेशों का पालन करने वाले एक भृत्यमात्र थे। शास्त्रों में यह निर्देश किया गया है कि भगवान् के किसी महान् प्रतिनिधि और भगवान् का विना किसी अपना सिद्धान्त निर्मित किये तथा स्वार्थ से रहित हुए उनका अनुसरण करना

चाहिए। इसलिए महाराज युधिष्ठिर के लिए सम्पूर्ण विश्व का शासन अति सम्भव हो सका, सुलभ हो सका। क्योकि उनके सिद्धान्त भगवान् अच्युत से संलग्न होकर अच्युत ही हो गये थे अत. असफल होने वाले नही थे। तथा वे सभी के प्रति समान रूप से लागू होने वाले एव सार्वभौम थे। एक विश्व की धारणा, समग्र विश्व की एकता की धारणा तभी पूर्ण हो सकती है जब एक प्रामाणिक सार्वभौम सत्ता, एव धर्म की स्थापना हो। अपूर्ण मनुष्य सार्वभौम आदर्शवादिता की स्थापना नही कर सकता। और वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए लागू भी नही हो सकता। केवल पूर्ण व्यक्ति अच्युत व्यक्ति ही ऐसी योजना बना सकता है जो प्रत्येक स्थल,प्रत्येक व्यक्ति,प्रत्येक परिस्थितियों में लागू हो सके तथा सम्पूर्ण विश्व के लोग उसका अनुगमन भी कर सके। यह उस व्यक्ति पर निर्भर करता है जो शासन-सूत्र सभालता है, न कि बहुत व्यक्तियों पर आधारित सम्वैधानिक सरकार पर। यदि व्यक्ति परिपूर्ण है तब सरकार भी पूर्ण है। और तब शासन-सत्ता भी सर्वाङ्गीण है। और यदि मनुष्य मूर्ख है तो शासन भी मात्र मूर्खो की दुनिया है। यही प्रकृति का नियम है। बहुत से ऐमे राजाओं की कथाये है जिन्होंने मूढ़तापूर्वक राज्य शासन किया था अतएव राज्य का मुख्य कर्णधार अवश्यमेव महाराज युधिष्ठिर की भाँति शासन में दीक्षित होने चाहिए। तथा उसे राज्य शासन के सम्पूर्ण अधिकारों की उपलब्धि होनी चाहिए। सपूर्ण ससार में एक राज्य की धारणा तभी कार्यरूप में सफल हो सकती है जव वह महाराज युधिष्ठिर की भाँति एक पूर्ण शासक की सत्ता स्वीकार करे। और उस काल में ससार ने सुख इसीलिए प्राप्त करने में सफल हो पाया था, क्योकि उसने महाराज युधिष्ठिर की भाँति एक शासक पाया था।

[४]

कामं ववर्ष पर्जन्यः सर्वकामदुधा मही।
सिषिचुः स्म व्रजान् गावः पयसोधस्वतीर्मुदा ।।

कामम्=सम्पूर्ण आवश्यकताएँ; ववर्ष=बरसती थीं; पर्जन्य·= वर्षा, सर्व=समस्त, काम=आवश्यकताएँ, दुधा=उत्पादक; मही=भूमि; सिषिचु:=सीचती; स्म=थी, व्रजान्=गोचर भूमि को, गाव=गौएँ, पयसा-उधस्वती.=मोटे-मोटे थनों से, मुदा=प्रसन्नता पूर्वक।

अनुवाद

महाराज युधिष्ठिर के राज्य मे आवश्यकतानुसार यथेष्ट वर्षा होती थी। पृथ्वी से समस्त अभीष्ट वस्तुएँ पैदा होती थी। और बडे-बडे थनों वाली बहुत सी गौएँ प्रसन्न होकर गो, गोपावासो को दूध से सीचती रहती थी।

तात्पर्य

आर्थिक विकास के सिद्धान्त का आधार भूमि एवं गौओं में सन्निहित है, केन्द्रित है। मानव समाज की आवश्यकता अनाज, फल, दूध, खनिज, वस्त्र, लकड़ी इत्यादि है। मनुष्य इन वस्तुओं को शरीर की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक अनुभव करता है। निश्चित ही मनुष्य मांस, मछलियों एवं लोहे के औजारों मशीनों से इन आवश्यकताओं की पूर्ति नही कर सकता। अतः ये उसकी मौलिक आवश्यकताएँ नही है। महाराज युधिष्ठिर के राज्य काल मे समस्त विश्व मे नियमित वर्षा होती थी। नियमित वर्षा करना मनुष्य के वश की बात नही है। इन्द्रदेव वर्षा के नियन्त्रक है और वे भगवान् के भृत्य है। जब भगवान् राजाओं एव लोगों के द्वारा सम्पूर्ण शासन कार्यो के द्वारा पूजित होते है, आज्ञाकारी सिद्ध होते हैं तब आकाश मण्डल से नियमित वर्षा होती है। और यह वर्षा भूमि के समस्त उत्पादनों के लिए जीवन प्रदायिनी एवं सुविधा जनक होती है। नियमित वर्षा न केवल प्रचुर अनाज एवं फलों की उन्नति के लिए ही सहायता करती है वरन् जब यह विभिन्न ज्योतिषीय प्रभावों से, तथा विभिन्न ग्रहीय प्रभावों से स्पन्दित होती है तब यह अन्यान्य बहुमूल्य रत्न एव मणियो की उत्पत्ति का कारण बनती है। अनाज, शाक-सब्जियां मनुष्य एव पशुओ को तृप्ति प्रदान करती है। तथा मोटी-मोटी थनों वाली गौएँ यत्र तत्र विचरण करती है तथा मनुष्यों की मेधा शक्ति की वृद्धि करने वाले दुग्ध घृत आदि पोषक तत्व प्रदान करती है। यदि राज्य मे प्रचुर मात्रा मे दुग्ध, अनाज, फल, सूत, सिल्क एव रत्न उपलब्ध होंगे, तब जनता, सिनेमा, वेश्यालयो एव हत्यालयों में क्यों उत्सुक होगी? जीवन की कृत्रिम विलासिता की क्या आवश्यकता है? सिनेमा, कार, रेडियो, मांस, होटल वर्तमान सभ्यता ने इन तत्वो को पैदा क्या किया, एक संघर्ष प्रारम्भ करा दिया।

क्या मानव सभ्यता ने सहस्रों की संख्या में जनता को कारखाने, इण्डस्ट्रीज एव युद्ध के नारकीय वातावरण मे भेजकर समता एव भ्रातृभाव की किसी भाँति भी वृद्धि की है ?

यहाँ कहा गया है कि गौएँ व्रज (गोचारण भूमि) को दुग्ध से आर्द्र करती हुई विचरण करती थी। क्योकि उनके थन बहुत भारी हो रहे थे, क्योंकि वे अत्यन्त आनन्दमग्ना थीं। इसलिये क्या वे पुनः मानव जाति को पूर्ववत् अपना अनुदान देने के लिये उचित सुरक्षा एव हरित तृण मात्र ही नही चाहती ? आज मनुष्य अपने तुच्छ स्वार्थों वश गौओं की हत्या क्यों कर रहा है ? क्यों वह अन्न फल एवं दूध से ही तृप्त नही हो रहा है, जो कि सयुक्त होकर सैकड़ों एव हजारों स्वादिष्ट व्यञ्जनों के थालों से इन्द्रियों को परमतृप्ति प्रदान कर सकते है। सारे संसार मे आज हजारों लाखों हत्यालय क्यो चल रहे है ? उनमे निर्दोष निरीह प्राणी क्यों मारे जा रहे है ? महाराज युधिष्ठिर के पौत्र महाराज परीक्षित् जब अपने राज्य का निरीक्षण करते हुए यात्रा कर रहे थे तब एक काला-कलूटा व्यक्ति एक गाय की हत्या करने की कोशिश कर रहा था। तत्क्षण ही राजा ने उस हत्यारे को पकड़ा, उसे भली-भाँति दण्डित किया। क्या राज्य के कर्णधार अथवा नेताओं को उन दीन प्राणियो की रक्षा नहीं करनी चाहिये जो स्वय अपनी रक्षा करने में असमर्थ है ? क्या यही मानवता है ? क्या देश के समस्त प्राणी भी नागरिक नही है ? यदि हैं तो क्यों उन्हें सङ्कुठित हत्यालयो मे हत्यार्थ भेजा जा रहा है ? क्या यही समता, भ्रातृ-भाव या अहिंसा का लक्षण है ?

अतएव आधुनिक उन्नत सभ्यता में उस लोकतन्त्र के शासन से महाराज युधिष्ठिर की भाँति महापुरुष के शासन का राजतन्त्र श्रेष्ठतम सिद्ध होगा। जिसमें निरीह प्राणियों की हत्या की जाती है तथा पशु से भी निम्नतर मनुष्य एक अन्य पशु मानव के लिये मतदान करता है। हम सब भौतिक प्रकृति के प्राणी है। भगवद्गीता में यह कहा गया है कि भगवान् स्वयं बीज-प्रदाता पिता एव भौतिक प्रकृति सम्पूर्ण जीवों की जन्मदात्री माता है। इस प्रकार प्रकृति माता के पास सम्पूर्ण प्राणियों के लिये पर्याप्त खाद्य-सामग्री है—मनुष्यो तथा पशुओं दोनों के लिये। यह सर्व शक्तिमान् श्रीकृष्ण की कृपा से सदा ही प्राप्त रहता है। मानव अन्य समस्त प्राणियों का बडा भाई है। उसे अन्य समस्त प्राणियों से अधिक बुद्धि एवं शक्ति प्राप्त है, जिससे वह सर्व शक्तिमान् भगवान् का सकेत एवं प्रकृति के नियमों

को पहचान सके। मानव सभ्यता को प्राकृतिक उत्पादनों पर जीवन धारण करना चाहिये न कि आर्थिक विकास के कृत्रिम साधनों द्वारा संसार का वायुमण्डल अराजकता, लोभ, कृत्रिम इन्द्रिय तृप्ति एवं विलासिता से विषाक्त करे। यह तो कूकर-शूकर के जीवन की भाँति है।

[५]

नद्यः समुद्रा गिरयः सवनस्पतिवीरुधः ।
फलन्त्योषधयः सर्वाः काममन्वृतु तस्य वै ॥

नद्यः=नदियाँ, समुद्राः=समुद्र; गिरयः=पर्वत श्रेणियाँ, सवनस्पति=शाक सब्जियाँ; वीरुधः=लताएँ, फलन्ति=सक्रिय होती है; ओषधयः=औषधियाँ; सर्वाः=सब; कामम्=आवश्यकताएँ, अन्वृतु=ऋतु सम्बन्धी; तस्य=राजा के लिये; वै=निश्चित ही।

अनुवाद

नदियाँ, समुद्र, पर्वत-शिखर, वन, लताएँ एवं सक्रिय ओषधियाँ महाराज युधिष्ठिर के राज्य में प्रत्येक ऋतुओं के अनुसार अपने उपहार अर्पित करते थे।

तात्पर्य

अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिर पर अजित् भगवान् अच्युत की छत्र-छाया थी, अतः उनको समस्त समृद्धि जैसे नदी, समुद्र, वन पर्वत आदि सभी उन्हें अपना कर प्रदान करने लगे। भाव यह है कि सफलता का एक-मात्र रहस्य यही है कि हम भगवान् के चरण-कमलों की छत्रछाया ग्रहण करे। उनकी स्वीकृति के बिना इस जगत में कुछ भी सम्भव नहीं है। यन्त्रों एवं अन्यान्य औजारों से अपनी शक्ति भर प्रयास कदापि पर्याप्त नहीं होगा। भगवान् की स्वीकृति सर्वथा अपेक्षित है; अन्यथा बिना उनकी स्वीकृति के अन्य समस्त सुविधाएँ एवं सुप्रबन्ध असफल ही सिद्ध होंगे। सफलता का गहनतम कारण दैव है। महाराज युधिष्ठिर की भाँति भक्त राजा भली-

भाँति यह जानते हैं कि राजा प्रजा के कल्याणार्थ भगवान् का प्रतिनिधि होता है। वास्तव में राज्य भगवान् का है। नदी, सागर, वन, पर्वत, ओषधियाँ आदि मनुष्यकृत नहीं है। वे सब भगवत्कृत है। तथा जीव केवल भगवत्सेवार्थ भगवत्सम्पत्ति का उपयोग करने में स्वतन्त्र है। आजकल का नारा है—समस्त पदार्थ जनता के लिये है, और इसलिये सरकार भी जनता के लिये एवं जनता के द्वारा चुनी जाती है। परन्तु वर्तमान काल मे धर्म एवं दर्शन, न्याय एवं शान्ति, भगवत् चेतना एव मानव-जीवन की पूर्णता के आधार पर दिव्य समाजवाद की स्थापना करने के लिये विश्व को पुन: महाराज युधिष्ठिर एव परीक्षित के चरण-चिह्नों का अनुगमन करना पड़ेगा। भगवान् की इच्छा से समस्त वस्तुएँ पर्याप्त है और हम मनुष्य एवं पशुओं एवं समग्र प्रकृति के साथ बिना किसी वैमनस्य एव शत्रुता के साथ-साथ सुविधापूर्वक जीवन यापन कर सकने के लिये उनका उपयोग कर सकते है। सर्वत्र भगवान् का नियन्त्रण है। और यदि वे प्रसन्न हैं तो प्रकृति का कोना-कोना प्रसन्न है. सहयोगी है। नदियाँ अगाध जल लेकर बहेगी, तटो को उपजाऊ बनाती रहेंगी। सागर पर्याप्त मणि, रत्न, मोती आदि प्रदान करेगे। वन पर्याप्त लकडियाँ ओषधियाँ एवं सब्जियाँ प्रदान करेगे तथा ऋतुओं के परिवर्तन पर्याप्त मात्रा मे फल एवं फूल उत्पन्न करने मे सफल सिद्ध होंगे। कल-कारखानों पर अवलम्बित कृत्रिम जीवन सीमित व्यक्तियों को, लाखों व्यक्तियों के सुख की कीमत पर तथाकथित क्षणिक भोग सुख तो प्रदान कर सकते है पर वास्तविक सुख प्रदान करने मे वे सदा असमर्थ रहे आवेगे। चूँकि जन सामान्य की शक्ति कारखानों में सलग्न हो गई अत: प्राकृतिक-उत्पादनों पर बहुत गहरा आघात लगा है, और इसी कारण जनता असन्तुष्ट एवं दुखी है। धर्मशिक्षा के अभाव के कारण जनता प्राकृतिक उत्पादन स्रोतों का शोषण करने में लगी है। इसीलिये मानव एवं मानव, राष्ट्र एवं राष्ट्र के मध्य एक तीव्र प्रतियोगिता, एक तीव्र संघर्ष है। उन पर किसी दीक्षित भगवत्प्रतिनिधि का कोई नियन्त्रण नही है। अवश्य ही हमे आधुनिक सभ्यता की त्रुटियों को देखते हुये सावधान हो जाना चाहिये। तथा महाराज युधिष्ठिर के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुये सुसंस्कृत एव परिशोधित राज्य-व्यवस्था की स्थापना करनी चाहिये।

[६]

नाधयो व्याधयः क्लेशा दैवभूतात्महेतवः ।
अजातशत्रावभवन् जन्तूनां राज्ञि कर्हिचित् ॥

न=कभी नहीं; आधयः=चिन्ताएँ; व्याधयः=रोग; क्लेशाः=अति उष्ण अथवा अति शीत से कष्ट; दैव-भूत-आत्म=देह तथा समस्त अलौकिक शक्ति तथा जीवों द्वारा; हेतव.=कारणों से, अजात-शत्रौ=शत्रु-विहीन; अभवन्=हुए; जन्तूनाम्=प्राणियों का, राज्ञि=राजा को; कर्हिचित्=किसी समय ।

अनुवाद

महाराज युधिष्ठिर की किसी से शत्रुता नही थी । वे अजातशत्रु थे । अतएव उनके राज्य में कोई भी जीव कभी भी मानसिक सन्तापों, रोगों एवं अतिशय उष्ण अथवा शीत से पीड़ित नही होता था ।

तात्पर्य

स्वयं को अहिंसक भी घोषित करना एवं निरीह प्राणियों की हत्या भी करते रहना, यह शैतानों का सिद्धान्त है । इस युग में इस सभ्यता की निरीह प्राणियो से शत्रुता है और इसीलिए गरीव प्राणी अत्यन्त चिन्तित रहा करते है। इन गरीव प्राणियों के पीड़ाओं की प्रतिक्रिया मानव समाज पर पड़ रही है । यही कारण है कि संसार के आकाश मे सदा शीत अथवा उष्ण युद्ध के वादल छाये ही रहते हैं । राष्ट्र राष्ट्र से, दल दल से, व्यक्ति व्यक्ति से आतङ्कित है । महाराज युधिष्ठिर के राज्य में उनके प्रतिनिधियों के राज्य तो थे, किन्तु पृथक्-पृथक् अनेक राष्ट्र नहीं थे । सम्पूर्ण विश्व एकता के सूत्र में पिरोया हुआ था तथा उनका अधियन्ता महाराज युधिष्ठिर एक सुदीक्षित राजा थे, जो अपनी प्रजाओं को चिन्ता, रोग, अतिशीत एव अति उष्णता की बाधाओंसे मुक्त रखते थे । वे केवल आर्थिक रूप से ही समृद्ध नहीं अपितु स्वास्थ्य तथा अतिमानवीय शक्तियों से भी सम्पन्न थे अतः प्राकृतिक अव्यवस्थाओं से कभी पीड़ित नहीं होते थे ।

अन्य प्राणियों से भी उन्हें भय न था और न शारीरिक मानसिक सन्तापों का ही आक्रमण होता था। बङ्गाली भाषा में एक कहावत है—"बुरा राजा समूचे राज्य को बर्बाद कर देता है। एवं बुरी पत्नी समूचे परिवार को बर्बाद कर देती है।" यही तथ्य यहाँ भी उपयुक्त है। चूंकि राजा सदाचारी था। भगवान् एवं सन्तों के प्रति श्रद्धापूर्ण था क्योंकि उसे किसी प्राणी के प्रति शत्रुता न थी। वे भगवान् के निजी प्रतिनिधि थे अत: उन्हें उनका सरक्षण प्राप्त था। अत: यह कहा जा सकता है कि राजा के संरक्षण में जितने नागरिक थे वे भी भगवान् एवं उनके भक्तों की छत्रछाया में थे। जब तक व्यक्ति सदाचारी एवं भगवत्कृपा प्राप्त नहीं होता तब तक अपने संरक्षण में रहने वालों को सुखी नही बना सकता। मानव एवं भगवान् तथा मानव एवं प्रकृति के मध्य पूर्ण सहयोग की भावना होनी चाहिए। तभी वास्तविक सुख शान्ति का प्रसार हो सकेगा। तभी विश्व में सच्ची समृद्धि की उपलब्धि हो सकेगी। आजकल की यह एक दूसरे के प्रति शोषण की मनोवृत्ति केवल दुख ही प्रदान कर सकती है।

[७]

उषित्वा हास्तिनापुरे मासान् कतिपयान् हरिः।
सुहृदां च विशोकाय स्वसुश्च प्रियकाम्यया॥

उषित्वा=ठहर कर; हास्तिन पुरे=हस्तिनापुर शहर में; मासान्=महीनों तक; कतिपयान्=कई; हरिः=भगवान् श्रीकृष्ण; सुहृदाम्=सम्बन्धियों की, च=भी, विशोकाय=शोक निवारणार्थ, स्वसुः=बहिन; च=भी, प्रिय-काम्यया=प्रसन्न करने के लिए।

अनुवाद

भगवान् श्रीकृष्ण ने कुछ मास पर्यन्त हस्तिनापुर में निवास किया और अपने सम्बन्धियों के हृदय को सान्त्वना दी एवं बहिन सुभद्रा के हृदय का आनन्दवर्द्धन किया।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण अपनी राजधानी द्वारिका को प्रस्थान करने वाले

थे। महाभारत युद्ध समाप्त हो चुका था। भीष्मदेव पर विशिष्ठ कृपा प्रदर्शन भी सम्पूर्ण हो चुकी थी। महाराज युधिष्ठिर का भी राज्याभिषिक्त हो चुका था। इन्ही समस्त कार्यो के लिए भगवान् हस्तिनापुर में रुके हुए थे। इसके पश्चात् भी भगवान् ने शोकग्रस्त राजा को तथा बहिन सुभद्रा, जिसका नवविवाहित पुत्र अभिमन्यु युद्धभूमि में वीरगति को प्राप्त हुआ था, को सान्त्वना प्रदान करने के लिए हस्तिनापुर में ठहरना आवश्यक समझा। अभिमन्यु अपनी मृत्यु के अनन्तर अपनी पत्नी उत्तरा को छोड़ गया जो कालान्तर में महाराज परीक्षित की माता बनी। भगवान् सदा ही अपने भक्तों को किसी भी मूल्य पर सन्तुष्ट करने का प्रयास करते है। केवल उनके भक्त ही उनके सम्बन्धियों का स्थान ग्रहण कर सकते है। भगवान् तो अद्वय है।

[८]

आमन्त्र्य चाभ्यनुज्ञातः परिष्वज्याभिवाद्य तम् ।
आरुरोह रथं कैश्चित्परिष्वक्तोऽभिवादितः ।।

आमन्त्र्य=आदेश लेकर; च=और; अभ्यनुज्ञात=आदिष्ट होकर, परिष्वज्य=आलिङ्गन करके; अभिवाद्य=प्रणाम करके, तम्=महाराज युधिष्ठिर को; आरुरोह=आरोहण किये, रथम्=रथ मे; कैश्चित्=किसी के द्वारा; परिष्वक्त=आलिङ्गित हुए; अभिवादित=प्रणाम किये गए।

अनुवाद

उसके पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण ने महाराज युधिष्ठिर से द्वारिका प्रस्थान की अनुमति माँगी। और महाराज युधिष्ठिर को उन्होंने नमस्कार किया। युधिष्ठिर ने उन्हे आलिङ्गन किया। तत्पश्चात् भगवान् अन्य पूज्य आदरणीय महद् सम्बन्धियों से आलिङ्गित हुए। उन्होने उनको अपना सम्मान अर्पित किया। तत्पश्चात् भगवान् ने रथ पर अपना आसन ग्रहण किया।

तात्पर्य

महाराज युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्ण के फुफेरे ज्येष्ठ भ्राता थे।

इसलिए प्रस्थान की वेला में श्रीकृष्ण भगवान् ने उन्हें प्रणाम किया और महाराज युधिष्ठिर ने अपने छोटे भाईके अनुरूप उन्हें आलिङ्गन किया। यद्यपि राजा जानते थे कि श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् है, तथापि चूँकि वे मानवोचित लीला कर रहे थे, अतएव उन्होंने उनसे मानवोचित व्यवहार करना उचित समझा। जब भक्त उन्हें अल्प महत्व पूर्ण, अपने तुल्य समझकर अपने हृदय का प्रेम-भाव समर्पित करते है भगवान् के समक्ष, तव भगवान् श्रीकृष्ण बहुत प्रसन्न होते है। उनके समकक्ष कोई भी नही है, उनसे वड़ा तो कोई हो ही कैसे सकता है? परन्तु वे आनन्दानुभव करते है, जब उनका भक्त उन्हे अपना छोटा भाई मानता है। कोई पुत्र मानता है, कोई सखा मानता है। वे महामहिम आनन्द अनुभव करते है। यही भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य लीला है। निराकारवादी, भक्त और भगवान् की इस चिन्मय लीला में प्रवेश नही कर सकते। इन्द्रियातीत भगवान् की लीलाये केवल भक्तों के लिए है। इसके अनन्तर अर्जुन एवं भीम ने भगवान् का आलिङ्गन किया, क्योकि वे उनके तुल्य वय के थे। परन्तु नकुल एव सहदेव ने उनके चरणों में प्रणाम किया, लेटकर भगवान् श्रीकृष्ण को उन्होने वैसे ही साष्टाङ्ग प्रणाम किया जैसे छोटे भाई को वड़े भाई के प्रति करना चाहिए।

[९]

सुभद्रा द्रौपदी कुन्ती विराटतनया तथा।
गान्धारी धृतराष्ट्रश्च युयुत्सुर्गौतमो यमौ॥

[१०]

वृकोदरश्च धौम्यश्च स्त्रियो मत्स्यसुतादयः।
न सेहिरे विमुह्यन्तो विरहं शार्ङ्गधन्वनः॥

सुभद्रा=भगवान् श्रीकृष्ण की वहिन, द्रौपदी=पाण्डवो की पत्नी, कुन्ती=पाण्डवों की माता; विराटतनया=महाराज विराट् की कन्या; तथा=और: गान्धारी=दुर्योधन की माता, धृतराष्ट्र=दुर्योधन का पिता, च=और; युयुत्सु=धृतराष्ट्र की वैश्य पत्नी से उत्पन्न हुआ पुत्र, गौतम=कृपाचार्य, यमौ=नकुल, सहदेव; वृकोदर=भीम, च=और, धौम्य=

धौम्य ऋषि (पाण्डवों के पुरोहित); च=और; स्त्रियः=राजमहल की समस्त महिलायें; मत्स्य-सुता-आदयः=भीष्मदेव की सौतेली माता, नाविक की कन्या सत्यवती; न=नहीं; सेहिरे=सह सकी, विमुह्यन्त=प्रायः मूर्छित होने लगी; विरहम्=विरह, शार्ङ्ग-धन्वनः=शार्ङ्ग-धनुष धारण करने वाले भगवान्।

अनुवाद

उस समय सुभद्रा, द्रौपदी, कुन्ती, उत्तरा, गान्धारी, धृतराष्ट्र, युयुत्सु, कृपाचार्य, नकुल, सहदेव, भीमसेन, धौम्य एव सत्यवती प्रायः शोक विह्वल हो उठे थे, मूर्छित से होने लगे थे प्रेमावेश में। क्योकि उनके लिए शार्ङ्ग-पाणि भगवान् का विरह असह्य था।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण इतने आकर्षक है, जीवो के लिए इतने आश्चर्यमय हैं, विशेष कर अपने भक्तों के लिए, कि उनका विरह सहन करना उनके लिए सर्वथा असम्भव होता है। आश्रित जीव भगवान् की वहिरङ्गा भ्रामिका शक्ति के आधिपत्य मे उनसे अपना सम्बन्ध भूल जाते है, अन्यथा वे ऐसा नही कर सकते थे। ऐसे विरह का अनुभव अवर्णनीय है परन्तु केवल भक्तों द्वारा यह कल्पनीय अवश्य है। उसकी कल्पना की जा सकती है। कल्पना करके अपने हृदय को कृतार्थ करने का पर्याप्त सुअवसर है। भगवान् श्रीकृष्ण के मथुरा को प्रस्थान करने की वेला मे वृन्दावन मे निवास करने वाली ग्रामीण गोपाङ्गनाओं, गोप-सखाओं एव प्रौढ़ गोप वृन्दो के हृदय पर ऐसा आघात लगा, जो उनके जीवन मे सदा-सदा के लिए निरन्तर ताजा ही वना रहा। उनके वियोग को वेदना मे उनकी अत्यन्त प्रिया श्रीराधारानी की जो अवस्था हुई वह वर्णन के परे है,वह अचिंत्य है। एकवार वे सव कुरुक्षेत्र के सूर्यग्रहण के मेले के अवसर पर मिले थे। उस समय जो उनका मिलन हुआ था, उनके वीच जो वार्तालाप हुआ था वह अत्यन्त हृदय-विदारक है। सचमुच ही भगवान् के भक्तों के दिव्य गुणों में पार्थक्य है,अन्तर है, परन्तु उनमे से जो भी भगवान् के संसर्ग में एकवार भी आ गया, उसके लिए उनका विरह,उनसे पृथक् होना अत्यन्त असम्भव घटना वनकर रह जाती है। विशुद्ध भक्तों का यही सहज स्वभाव है।

[११]

सत्सङ्गान्मुक्तदुःसङ्गो हातुं नोत्सहते बुधः।
कीर्त्यमानं यशो यस्य सकृदाकर्ण्य रोचनम् ॥

[१२]

तस्मिन्न्यस्तधियः पार्थाः सहेरन् विरहं कथम्।
दर्शनस्पर्शसंलापशयनासन भोजनैः ॥

सत्सङ्गात्=विशुद्ध भक्तों के सत्सङ्ग से; मुक्त-दुःसङ्गः=भौतिकवादी व्यक्तियों के हानिकारण सम्पर्क से मुक्त; हातुम्=त्याग करने को, न उत्सहते=कभी नहीं उत्सुक होते; बुधः=भगवत्तत्वज्ञ; कीर्त्यमानम्=गाकर; यशः=कीर्ति; यस्य=जिसका; सकृत्=केवल एकबार; आकर्ण्य=श्रवणकर; रोचनम्=रोचक, प्रीतिवर्धक; तस्मिन्=उसको, न्यस्त-धियः=जिसने बुद्धि अर्पित कर दी है; पार्थः=अर्जुन, सहेरन्=सह सकते हैं; विरहम्=वियोग वेदना; कथम्=कैसे; दर्शन=नेत्रों से नेत्र मिलाकर देखा; स्पर्श=स्पर्श किया, संलाप=वार्तालाप किया, शयन=शयन किया; आसन=साथ-साथ बैठे, भोजनैः=भोजन किया।

अनुवाद

जो विवेकी पुरुष भगवान् के विशुद्ध भक्तों के ससर्ग में रहकर, उनके तत्व को भली-भाँति जान गये है, और इस प्रकार प्राकृत विषयी पुरुषों के ससर्गो से मुक्त हो चुके है वे कभी भी भगवान् की महिमा एवं गरिमा के श्रवण से तृप्त नही होते, उनकी उपेक्षा कभी नही कर सकते। जब अन्यों को एक ही बार श्रवण से ऐसी घटना घटती है, तब पाण्डवो की विरह व्यथा का वर्णन कैसे हो सकता है ? उनके द्वारा यह विषम विरह-व्यथा टाली भी कैसे जा सकती है ? वे तो निरन्तर उन परम पुरुष के ससर्ग में बने रहे, उनसे नेत्र से नेत्र मिलाये, उनको देखते रहे, उनको स्पर्श करते रहे, उनसे वार्तालाप करते है, उनके साथ शयन करते रहे, उनके साथ बैठते थे, उनके साथ मिलकर भोजन करते थे, तब पाण्डवों की विरह व्यथा का वर्णन कैसे हो सकता है ?

तात्पर्य

जीव का प्राकृत सहज-सुलभ स्वाभाविक स्वरूप है अपने से किसी उच्चतर व्यक्ति की सेवा और बहिरङ्गा शक्ति के द्वारा इन्द्रिय-तृप्ति के विभिन्न रूपों में यह जीव सेवा के लिए ही बाध्य किया जा रहा है। चूंकि वह सेवा का प्रमुख लक्ष्य, सेवा का चरम उद्देश्य, सेवा जिससे मिलकर, जुडकर सार्थक होती है, उस प्रभु को विस्मृत कर गया है इसलिए उसकी सेवा इन्द्रिय-तृप्ति के पदार्थों की ओर अभिमुख हो रही है और इन्द्रियों की सेवा करने मे वह कभी थकती नहीं है। यद्यपि वह थक भी जाये तो भी बहिरङ्गा भ्रामिका-शक्ति उसे उससे मुक्त नही होने देती। उसे कभी भी पूर्ण संतुष्ट नही होने देती। अनन्तकाल तक वह उसी में संलग्न रहा आयेगा। इसीलिए इन्द्रिय-तृप्ति की कोई सीमा ही नही, समाप्ति ही नही है, इन्द्रियों की भटकन की कोई मञ्जिल कभी आती नहीं है। आश्रित जीव ऐसे महान् भ्रम-भटकन जाल में फँस जाते है। छुटकारा सम्भव है। पर वह तभी सम्भव होगा, जब भगवान् के विशुद्ध भक्तों का समागम उपलब्ध हो। ऐसे सन्त समागमों के द्वारा ही क्रमशः वह चेतना के विकास के उच्चतम शिखर पर आरूढ़ होगा। वह श्रीकृष्ण-चेतना को उपलब्ध होगा। तभी वह जान सकेगा कि उसकी वास्तविक सहज-सुलभ प्राकृत स्वरूप भगवत्ता के मौलिक स्वरूप श्रीकृष्ण के चरणो में सेवा अर्पित करना है। और तब इन्द्रियों के विषयों की ओर धावित हो रही चेतना की काम, क्रोध लोभ एवं पदार्थों पर स्वामित्व आदि अवस्थाये जो उस सेवा के विकृत प्रतिफलन है वे सब व्यर्थ प्रतीत होगे। समाज मे मैत्री व्यावहारिक औपचारिकताये, कर्तव्य एवं समाज के अन्यान्य धरातलों पर अभिव्यक्त हो रहा प्रेम और कुछ नहीं है, काम के ही विभिन्न विकृत-प्रतिफलन हैं। यह सब बन्धन का कारण है। इनके निरन्तर अभ्यास से जीवन ही बन्धनमय हो जाता है। हमारा जीवन ही एक बन्धन बन गया है। परिणाम स्वरूप आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक इन तीनों तापों से हम लगातार पीड़ित हो रहे है। विशुद्ध भक्तों के संसर्ग एवं समर्पण भाव युक्त होकर उनसे भगवत्कथा के श्रवण से भौतिक पदार्थों के प्रति हमारी स्पृहा, तृष्णा एवं आसक्ति के बन्धन शिथिल होने लगते हैं। तथा भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य लीला श्रवण के प्रति आकर्षण, जीवन में प्रधान हो जाता है। जीवन का वह अनिवार्य एव महत्वपूर्ण रुचिकारकतत्व बन जाता है। एकबार वे श्रवण की अवस्था को उपलब्ध हुए कि प्रेमाभक्ति के अग्रिम पथ पर नयो

[११]

सत्सङ्गान्मुक्तदुःसङ्गो हातुं नोत्सहते बुधः ।
कीर्त्यमानं यशो यस्य सकृदाकर्ण्य रोचनम् ॥

[१२]

तस्मिन्न्यस्तधियः पार्थाः सहेरन् विरहं कथम् ।
दर्शनस्पर्शसंलापशयनासन भोजनैः ॥

सत्सङ्गात्=विशुद्ध भक्तों के सत्सङ्ग से; मुक्त-दुःसङ्गः=भौतिकवादी व्यक्तियों के हानिकारण सम्पर्क से मुक्त, हातुम्=त्याग करने को, न उत्स-हते=कभी नहीं उत्सुक होते, बुधः=भगवत्तत्वज्ञ; कीर्त्यमानम्=गाकर; यशः=कीर्ति; यस्य=जिसका; सकृत्=केवल एकबार; आकर्ण्य=श्रवणकर; रोचनम्=रोचक, प्रीतिवर्धक, तस्मिन्=उसको, न्यस्त-धियः=जिसने बुद्धि अर्पित कर दी है; पार्थः=अर्जुन, सहेरन्=सह सकते है; विरहम्=वियोग वेदना, कथम्=कैसे, दर्शन=नेत्रों से नेत्र मिलाकर देखा; स्पर्श=स्पर्श किया; संलाप=वार्तालाप किया, शयन=शयन किया; आसन=साथ-साथ बैठे, भोजनैः=भोजन किया ।

अनुवाद

जो विवेकी पुरुष भगवान् के विशुद्ध भक्तों के संसर्ग में रहकर, उनके तत्व को भली-भाँति जान गये है, और इस प्रकार प्राकृत विषयी पुरुषों के संसर्गों से मुक्त हो चुके है वे कभी भी भगवान् की महिमा एवं गरिमा के श्रवण से तृप्त नही होते, उनकी उपेक्षा कभी नही कर सकते । जव अन्यों को एक ही बार श्रवण से ऐसी घटना घटती है, तव पाण्डवो की विरह व्यथा का वर्णन कैसे हो सकता है ? उनके द्वारा यह विषम विरह-व्यथा टाली भी कैसे जा सकती है ? वे तो निरन्तर उन परम पुरुष के ससर्ग में वने रहे, उनसे नेत्र से नेत्र मिलाये, उनको देखते रहे, उनको स्पर्श करते रहे, उनसे वार्तालाप करते है, उनके साथ शयन करते रहे, उनके साथ वैठते थे, उनके साथ मिलकर भोजन करते थे, तव पाण्डवों की विरह व्यथा का वर्णन कैसे हो सकता है ?

तात्पर्य

जीव का प्राकृत सहज-सुलभ स्वाभाविक स्वरूप है अपने से किसी उच्चतर व्यक्ति की सेवा और बहिरङ्गा शक्ति के द्वारा इन्द्रिय-तृप्ति के विभिन्न रूपों में यह जीव सेवा के लिए ही बाध्य किया जा रहा है। चूँकि वह सेवा का प्रमुख लक्ष्य, सेवा का चरम उद्देश्य, सेवा जिससे मिलकर, जुडकर सार्थक होती है, उस प्रभु को विस्मृत कर गया है इसलिए उसकी सेवा इन्द्रिय-तृप्ति के पदार्थों की ओर अभिमुख हो रही है और इन्द्रियों की सेवा करने मे वह कभी थकती नहीं है। यद्यपि वह थक भी जाये तो भी बहिरङ्गा भ्रामिका-शक्ति उसे उससे मुक्त नही होने देती। उसे कभी भी पूर्ण संतुष्ट नहीं होने देती। अनन्तकाल तक वह उसी में संलग्न रहा आयेगा। इसीलिए इन्द्रिय-तृप्ति की कोई सीमा ही नही, समाप्ति ही नहीं है, इन्द्रियों की भटकन की कोई मञ्जिल कभी आती नहीं है। आश्रित जीव ऐसे महान् भ्रम-भटकन जाल में फॅस जाते है। छुटकारा सम्भव है। पर वह तभी सम्भव होगा, जब भगवान् के विशुद्ध भक्तों का समागम उपलब्ध हो। ऐसे सन्त समागमों के द्वारा ही क्रमशः वह चेतना के विकास के उच्चतम शिखर पर आरूढ़ होगा। वह श्रीकृष्ण-चेतना को उपलब्ध होगा। तभी वह जान सकेगा कि उसकी वास्तविक सहज-सुलभ प्राकृत स्वरूप भगवत्ता के मौलिक स्वरूप श्रीकृष्ण के चरणो मे सेवा अर्पित करना है। और तव इन्द्रियों के विषयों की ओर धावित हो रही चेतना की काम, क्रोध लोभ एवं पदार्थों पर स्वामित्व आदि अवस्थाये जो उस सेवा के विकृत प्रतिफलन है वे सब व्यर्थ प्रतीत होंगे। समाज मे मैत्री व्यावहारिक औपचारिकताये, कर्तव्य एवं समाज के अन्यान्य धरातलों पर अभिव्यक्त हो रहा प्रेम और कुछ नही है, काम के ही विभिन्न विकृत-प्रतिफलन है। यह सब बन्धन का कारण है। इनके निरन्तर अभ्यास से जीवन ही बन्धनमय हो जाता है। हमारा जीवन ही एक बन्धन वन गया है। परिणाम स्वरूप आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक इन तीनों तापों से हम लगातार पीड़ित हो रहे है। विशुद्ध भक्तों के संसर्ग एवं समर्पण भाव युक्त होकर उनसे भगवत्कथा के श्रवण से भौतिक पदार्थों के प्रति हमारी स्पृहा, तृष्णा एवं आसक्ति के बन्धन शिथिल होने लगते है। तथा भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य लीला श्रवण के प्रति आकर्षण, जीवन मे प्रधान हो जाता है। जीवन का वह अनिवार्य एव महत्वपूर्ण रुचिकारकतत्व बन जाता है। एकबार वे श्रवण की अवस्था को उपलब्ध हुए कि प्रेमाभक्ति के अग्रिम पथ पर नयी

नयी सीढ़ियाँ स्वतः स्वयमेव उपलब्ध होने लगती हैं तथा अबाध गतिसे उन्नति होने लगती है। ठीक उसी प्रकार जैसे बन्दूक के पाउडर में अग्नि तीव्रता से लग जाती है। कहा जाता है कि भगवान् श्रीहरि अप्राकृत रूप से इतने आकर्षक है कि वे जो अपनी आत्मा के अनुभव से अत्यन्त विस्तीर्ण, व्यापक चेतना, वैश्विक-चेतना को उपलब्ध होकर सदा के लिए परितुष्ट हो गये है स्वयं,वे भी भगवान् श्रीहरिके प्रति आकृष्ट हो जाते है। उनकी चित्त वृत्ति उनके चरणों में स्वतः न्योछावर हो जाती है। वे भक्त बन जाते हैं। इस वस्तुस्थिति के अन्तर्गत यह सुगमतापूर्वक समझा जा सकता है, कि महाभाग पाण्डवों की कौन-सी अवस्था थी, जो भगवान् के साथ नित्य निरन्तर बने रहते थे तथा वात्सल्यभाव से, पूज्यभाव, से सखाभाव से श्रीकृष्ण के साथ नित्य-निरन्तर अङ्ग-सङ्ग रहे आये ? उनकी परम श्लाघ्य, परम धन्य पवित्रता एवं प्रेम की अद्भुत मनोदशा अवश्य ही कल्पनीय विषय है। वे भगवान् श्रीकृष्ण के विछोह की कभी कल्पना नही कर सकते थे। क्योंकि उनके प्रति आकर्षण इतना तीव्रतम सघनतम एवं गहनतम था कि वे अपना देह-गेह सब भुलाये रहते और भगवान् की छबि ही उनके मानस-पटल में सदा नृत्य करती रहती, उनका रोम-रोम उनका ही नाम पुकारता रहता। उनके प्राण निरन्तर उन्ही दूर द्वारिका देश में रहने वाले अपने ममेरे भाई से मिलने के लिए छटपटाता रहता। भगवान् के व्यक्तिगत-सम्पर्क ने उनका जीवन श्रीकृष्णानुभूति प्रधान बना दिया था और उनके अतिरिक्त सब कुछ गौण हो गया। इसलिए वे उनसे पृथक् रहने की कल्पना ही नही कर सकते थे। भगवान् श्रीकृष्ण के गुणों का, नाम का, यश का लीलाओं का स्मरण इतना अधिक आकर्षणकारी है, कि विशुद्ध भक्त समस्त रूप, समस्त अन्य गुण, अन्य नाम, अन्यों के यश तथा सांसारिक मनुष्यों के सारे साहसिक कार्यों से आकर्षण खो देता है, भूल जाता है हमेशा के लिए। और अब अपने परिपक्व अखण्ड सन्त समागम भक्त समागम से वह भगवान् से इतना अधिक सम्बन्धित हो जाता है कि एक क्षण के लिए भी पृथक् नही हो सकता।

[१३]

सर्वे तेऽनिमिषैरक्षैस्तमनुद्रुत चेतसः।
वीक्षन्तः स्नेहसम्बद्धा विचेलुस्तत्र तत्र ह ॥

सर्वे=समस्त; ते=वे सब; अनमिषैः=अपलक; अक्षैः=दृष्टि से; तम-अनु=उनके पश्चात्; द्रुत-चेतसः=हृदय द्रवित विगलित हो रहे थे; वीक्षन्तः=उन्हें देख देखकर; स्नेह-सम्बन्धाः=विशुद्ध प्रेम से बन्धकर; विचेलुः=दौड़ने लगे; तत्र-तत्र=इधर उधर; ह=ऐसा उन्होंने किया।

अनुवाद

अत्यन्त पवित्र प्रेम-बन्धन से बँधकर उनके हृदय द्रवित हो रहे थे। वे अपलक दृष्टि से उनकी ओर निहार रहे थे। और अपने उन परम प्रियतम की विदाई का साज सजाने के लिये, उन्हें अन्तिम विदा देने के लिये, वे यत्र तत्र धावित हो रहे थे, दौड़ रहे थे।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण स्वाभाविक रूप से समस्त जीवों के लिये परम आकर्षक है क्योंकि वे नित्यों में नित्य हैं। वेद की कठोपनिषद् श्रुति कहती है—"नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्"। और इस प्रकार नित्य जीव जब अपने नित्य स्वामी एवं सखा से पुनः अपना विस्मृत सम्बन्ध स्थापित करता है तभी वह स्थायी शान्ति एवं आध्यात्मिक समृद्धि प्राप्त कर नव-जीवन प्राप्त करता है। अभी जीव माया की भ्रामिका-शक्ति के अन्तर्गत अपने इस वास्तविक रूप को भूल गया किन्तु एक बार इस सम्बन्ध का अनावरण जीवन में व्यावहारिक धरातल पर हो जाय, तो आश्रित जीव तत्क्षण ही वहिरङ्गाशक्ति के भ्रामक जाल से उन्मुक्त हो जाता है और भगवत्सङ्ग, भगवत्सान्निध्य, भगवत्संसर्ग भगवत्सस्पर्श के लिये उन्मत्त होकर दौड़ पड़ता है। यह संस्पर्श, यह सान्निध्य तभी सम्भव होता है, जब भगवान् के साथ व्यक्तिगत सम्पर्क हो। परन्तु व्यक्तिगत सम्पर्क के लिये उनका नाम, यश, रूप एवं गुणों का श्रवण, मनन, चिन्तन अत्यन्त आवश्यक अनिवार्य तत्व है। और श्रीमद्भागवत आश्रित जीवों को विशुद्ध भक्तों के चरणों में समर्पण पूर्वक बैठकर जीवन की सर्वोच्च परिपूर्णता प्रेमाभक्ति के लिये शिक्षित एवं दीक्षित करता है।

[१५]

न्यरुन्धन्नुद्गलद्बाष्पमौत्कण्ठ्याद्देवकीसुते ।
निर्यात्यगारान्नोऽभद्रमिति स्याद्बान्धवस्त्रियः ॥

न्यरुन्धन्=बड़ी कठिनाई से रोककर; उद्गलत्=उच्छलित हो रहे, वाष्पम्=अश्रुधारा को, औत्कण्ठ्यात्=महान् चिन्ता से, देवकी-सुते= देवकी पुत्र को, निर्याति=बाहर आकर; आगारात्=राजमहल से, नः= नहीं; अभद्रम्=अशुभ; इति=ऐसा, स्यात्=हो; बान्धव=सम्बन्धी; स्त्रियः=महिलाएँ।

अनुवाद

राजमहल की महिलाओं के हृदय में भगवान् के बहुत् दूर चले जाने से होने वाली वियोग वेदना की आशङ्का जाग उठी। अतः उनके नेत्रों से लगातार अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। उन अश्रुओं को वे बड़ी कठिनाई से रोक सकीं उन्होंने सोचा निश्चित ही ये अविरल अश्रु प्रियतम भगवान् के प्रस्थान की वेला में अमङ्गलजनक सिद्ध होंगे।

तात्पर्य

हस्तिनापुर के राजमहल में शतशः राज महिलाएँ थीं और उन सबकी भगवान् में प्रगाढ़ प्रीति थी। उन सबका उनसे पारिवारिक सम्बन्ध था। जब उन्होंने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण राजमहल से दूर हस्तिनापुर से दूर, अपने निवास-स्थान द्वारिकापुरी को प्रस्थान कर रहे हैं। तब वे अत्यन्त चिन्तित हो उठीं, वे व्याकुल हो उठीं, वे घबड़ा उठी और अनायास उनके नेत्रों से अश्रु विगलित होकर कपोलों को आर्द्र करने लगे। तब उन्होने सोचा कि भगवान् के प्रस्थान की वेला में सम्भवतः ये अश्रु अमङ्गल सूचक न सिद्ध हों। अशकुन न सिद्ध हो जाय। अतएव उन्होने उन अश्रुओं को रोकना चाहा किन्तु यह बहुत कठिन था। प्रेम के वे अश्रु किसी प्रकार रोके नहीं जा सकते थे इसलिये उन्होंने उन अश्रु विन्दुओं को आँखों में ही पोंछ लिया। किन्तु उनका हृदय विगलित होने लगा विह्वल होने लगा। वह स्तब्ध हो गया।

वे महिलायें जो महाभारत युद्ध में मरे हुए योद्धाओं की पुत्रवधू, पत्नी आदि थीं; जो भगवान् के सान्निध्य में कभी नहीं आई थीं, उन्होने भी जब भगवान् के अद्भुत साहस एवं कृपामय कार्य-कलापों का वर्णन

सुना—उनकी विचित्र लीलायें जब सुनीं तब उन्होंने उनका चिन्तन किया, वार्तालाप किया उनके नाम, यश एवं गरिमा उनके कानों में एवं मन में नित्य गूंजती रहीं और इस प्रकार एक दिन वे उनके प्रति इतने अधिक प्रेम से भर उठीं; श्रीकृष्ण दर्शन, श्रीकृष्ण मिलन के लिए इतनी व्याकुल हो उठी जितनी व्याकुलता उन सम्बन्धियों में थी; जो निरन्तर उनके प्रत्यक्ष सान्निध्य में रहते थे। इसलिए प्रत्यक्ष रूप से अथवा अप्रत्यक्ष रूप से कोई भी व्यक्ति, कोई भी भक्त जब भगवान् का स्मरण करता है भगवान् के सम्बन्ध में वार्तालाप करता है, भगवान् श्रीकृष्ण की पूजा करता है, वह तत्क्षण भगवान् श्रीकृष्ण से सम्बन्धित हो जाता है, उनके आकर्षण में, प्रेम में पड़ जाता है। क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण अद्वय हैं। उनमें तथा उनके रूप मे तथा उनके गुणों मे कोई अन्तर नहीं है। हमारा भगवान् श्रीकृष्ण से अत्यन्त विश्वसनीय एवं व्यक्तिगत एवं गूढगहन एव सदा सर्वदा के लिए, अन्तरङ्ग सम्बन्ध स्थापित हो सकता है। लेकिन तब जब हम उनके ही सम्बन्ध मे वार्तालाप करें उनके ही सम्बन्ध में प्रवचन करें, उनके सम्बन्ध मे ही श्रवण करें, उनका ही स्मरण करे।और यह सब कार्य भगवान् की अन्तरङ्गा शक्ति के द्वारा सम्पन्न होता है।

[१५]

मृदङ्गशङ्खभेर्यश्च वीणापणवगोमुखाः ।
धुन्धुर्यानकघण्टाद्या नेदुर्दुन्दुभयस्तथा ॥

मृदङ्ग=मृदङ्ग नामक मधुर वाद्य यन्त्र; शङ्ख=शङ्ख, भेर्यः=भेरी; च=और; वीणा=तार वाद्य यंत्र वीणा; पणव=एक प्रकार की वंशी; गोमुखाः=एक अन्य प्रकार की वंशी; धुन्धुर्यः=एक प्रकार का नगारा; आनक=आनक; घण्टाः =घण्टा; आद्याः=अन्यः; नेदुः=बजने लगे; दुन्दुभयः=अन्य अनेक प्रकार की दुन्दुभियाँ; तथा=उस समय।

अनुवाद

जब भगवान् श्रीकृष्ण हस्तिनापुर के राजमहल से रथ पर विराजमान होकर प्रस्थान करने लगे; तब उस समय उनकी विदाई की वेला में मृदङ्ग, ढोल, नगारे, दुन्दुभि, धुन्धुरी तथा वंशी की ध्वनि से वायुमण्डल गूंज उठा।

तात्पर्य

उसी समय वीणा गोमुख भेरी भी बज उठे और इस प्रकार सब वाद्य ध्वनियों ने मिलकर भगवान् श्रीकृष्ण के प्रस्थान के उपलक्ष में विदाई के रागों एवं गीतों से दिशा विदिशाओं को गुञ्जायमान कर दिया। और समस्त नागरिक विरह आशङ्का एवं प्रबल प्रेम गम्भीर वेदना के समुद्र में डूबने उतराने लगे।

[१६]

प्रासादशिखरारूढाः कुरुनार्यो दिदृक्षया।
ववृषुः कुसुमैः कृष्णं प्रेमव्रीडास्मितेक्षणाः॥

प्रासाद=राजमहल; शिखर=छत; आरूढाः=आरूढ़ होकर; कुरु-नार्यः=कौरव कुल की नारियाँ; दिदृक्षया=दर्शन करती हुई; ववृषुः=वर्षा करने लगीं; कुसुमैः=पुष्पों की; कृष्णम्=भगवान् श्रीकृष्ण के ऊपर; प्रेम=प्रेमातिरेक से; व्रीडा-स्मित-ईक्षणाः=लज्जापूर्ण मुस्कान से देखते हुए।

अनुवाद

इसी समय कुरुकुल की नारियों के हृदय तीव्र श्रीकृष्णप्रेमातिरेक से भर उठे। वे उनके प्रेममय दर्शनों की आकाँक्षा से राजमहल की छतों पर जा चढ़ीं एवं गूढ़ गम्भीर प्रेम एवं लज्जापूर्ण मुस्कान से भगवान् श्रीकृष्ण की ओर देखती हुई उन पर नाना प्रकार के सुगन्धित पुष्पों की वर्षा करने लगीं।

तात्पर्य

लज्जा नारियों के सौन्दर्य का अत्यन्त स्वाभाविक एवं प्रमुख अङ्ग है। और यह मनुष्य मात्र के हृदय में उनके प्रति अत्यन्त सम्मान उत्पन्न करता है। यह प्रथा महाभारत काल में भी प्रचलित थी जो आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व घटित हुआ था। केवल अल्पबुद्धि मनुष्य ही ऐसा कहते हैं। जो संसार के इतिहास से अनभिज्ञ है वे ही ऐसा कहते हैं कि समाज में

स्त्री एवं पुरुष की दूरी मुसलमानो के काल से प्रारम्भ हुई है। किन्तु महाभारत काल की यह घटना निश्चित रूप से यह प्रमाणित करती है कि आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व पर्दा प्रथा समस्त भारतीय समाजो मे सम्मानित प्रथा थी। इसलिए हस्तिनापुर के राजमहल की महिलाएँ भगवान् श्रीकृष्ण के 'दर्शनार्थ उत्सुक होने पर भी नीचे उन्मुक्त वातावरण मे, जहाँ सारी जनता कृष्ण दर्शनार्थ उपस्थित थी उसमे न सम्मिलित होकर छतो पर जा चढीं। तथा वही से वे फूलों की वर्षा के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति अपना आदर एवं सम्मान समर्पित करने लगी। निश्चित ही वे महिलाएँ छतों पर खड़ी थी। मुस्करा रही थी। एव उनकी मुस्कान लज्जा से बाधित हो रही थी उनकी लज्जा स्वभावत: प्रकृति-प्रदत्त है, तथा यह उनके सौन्दर्य, शालीनता, प्रतिष्ठा एव गरिमा को अभिवृद्ध एवं समृद्ध कर देता है। यहाँ तक कि नगण्य परिवार की अल्प आकर्षक महिलाएँ भी लज्जित होने पर अत्यन्त आकर्षक हो जाती है। हमारा यह व्यक्तिगत अनुभव है, कि एक मार्ग स्वच्छ करने वाली कुरूप महिला भी स्त्रियोचित लज्जापूर्ण चेष्टाओं एवं व्यवहारों से आदरणीय व्यक्तियों द्वारा भी सम्मानित हो उठी थी। उनके भी वह आदर पात्र हो गयी। आम-पथों पर चलती हुई अर्धनग्न नारियाँ इस तरह सम्मान अर्जित नही कर सकती। किन्तु एक नगण्य सफाई करने वाली महिला अपनी नार्योचित लज्जा से वह सम्मान अर्जित कर सकती है।

ऋषियों ने भारतीय सभ्यता की संरचना ही इस प्रकार की है कि मानव उसके द्वारा मानस-प्रक्षेपों के भ्रम-जाल से मुक्त हो सकता है नारियों का भौतिक-सौन्दर्य एक भ्रम है। क्योंकि वास्तविक दृष्टि से देह, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि से निर्मित हुआ है किन्तु चूँकि इसमे जीवन्त-चेतना का, जीव का पदार्थ से सयोग है, संस्पर्श है, चेतना ही पदार्थ में अनुस्यूत है। इसी कारण यह नारी सौन्दर्यमयी दृष्टिगोचर हो रही है। कोई भी व्यक्ति एक मिट्टी के बने हुए खिलौने से आकृष्ट नही होता, यद्यपि वह अत्यन्त सुन्दर ही क्यों न निर्मित हुआ हो तथा अन्य अनेकों के आकर्षणों का केन्द्र हो, तथापि जानकार व्यक्ति उससे आकृष्ट नही होता। मृत शरीर मे भी कोई सौन्दर्य नही होता। क्योंकि मृत शरीर यदि अत्यन्त सौन्दर्यमयी नारी का भी क्यों न हो कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति उसे ग्रहण करने के लिए पागल नही हो सकता। निष्कर्ष यह है कि जीव ही सौन्दर्यवान् है और जीव के

सौन्दर्य के कारण ही मनुष्य सुन्दर शरीर की ओर आकृष्ट होता है इसीलिए वैदिक सभ्यता मिथ्या सौन्दर्य से हमें दूर रहने का उपदेश करती है। परन्तु चूँकि हम अपनी वर्तमान स्थिति में अज्ञानान्धकार में भटक रहे हैं अतः वैदिक सभ्यता जो पुरुष एवं स्त्री के उन्मुक्त सम्बन्ध का निषेध करती है, हम उसे स्वीकार नही कर पाते। क्योंकि रोगी सदा औषधि से भयभीत होता रहा है। वैदिक सभ्यता के प्रचारक ऋषिगण कहते हैं, कि नारी अग्नि के तुल्य है एवं पुरुष मक्खन के तुल्य है, जब अग्नि एवं मक्खन दोनों समीप आते है, सम्पर्क मे आते है तो निश्चित ही अग्नि के ताप से मक्खन द्रवित होगा पिघलेगा इसलिए उन्होने ऐसा विधान बनाया ऐसा नियम बनाया समाज में, कि वे तभी एक दूसरे के समीम लाये जायँ, जब जीवन के उद्देश्य के लिए, समाज के, देश के कल्याण के लिए वह मिलन आवश्यक हो। स्त्रियो की लज्जा पुरुषों से अबाध मिलन मे एक व्यवधान उपस्थित करती है। यह प्रकृति प्रदत्त है। अतएव इस वृत्ति का सदुपयोग अवश्यमेव होना चाहिए।

[१७]

सितातपत्रं जग्राह मुक्तादामविभूषितम् ।
रत्नदण्डं गुडाकेशः प्रियः प्रियतमस्य ह ॥

सित-आतपत्रम्=शीतल छत्र, जग्राह=लिया; मुक्ता-दाम=मोतियों की मालाओं से, विभूषितम्=विभूषित; रत्नदण्डम्=रत्नों के दण्ड से; गुडाकेश.=निद्रा विजयी अर्जुन, प्रियः=अत्यन्त प्रिय; प्रियतमस्य=प्रियतमों मे भी अत्यन्त प्रियतम, ह=ऐसा किया।

अनुवाद

उस समय भगवान् श्रीकृष्ण के अन्तरङ्ग सखा महान् योद्धा निद्रा-विजयी अर्जुन ने भगवान् के मस्तक पर श्वेतछत्र तान दिया जिसका दण्ड रत्न जटित था तथा जिसका छत्र मोतियों की मालाओं एवं जरी की कलाकृतियों से विभूषित था और वे भगवान् के ऊपर छाया करने लगे।

तात्पर्य

स्वर्ण, रत्न, मोती तथा अन्य बहुमूल्य प्रस्तर प्राचीन काल में राजो-

चित आवश्यक सामग्रियों के रूप में एवं विभिन्न कार्यक्रमों में प्रयुक्त हुआ करते थे। वे सब प्राकृतिक अनुदान थे। वे पर्वतों एवं समुद्रों से भगवदाज्ञा से ही प्रगट होते थे। मानव जब अपना बहुमूल्य समय तथाकथित औद्योगिक कल कारखानों मे गटापार्चा एवं एल्युनियम के बर्तन बनाने में अपना समय नष्ट न करके आध्यात्मिक उन्नति भगवद्भक्ति में अपने समय का सदुपयोग करते हैं, तब भगवान् की आज्ञा से ये बहुमूल्य द्रव्य स्वत: नदी समुद्र एवं पर्वतों से उद्भूत हो जाते है। और तब हमारे पास स्वर्ण रजत ताम्र आदि के पात्र होते है। प्राचीन काल मे हमारे पास भोजनादि समस्त उपयोगों के लिए ऐसे ही रत्नजटित स्वर्णमय एव रजतमय पात्र थे। आजकल तो वे बर्तन ही उपलब्ध नही है बर्तनों की बात दूर रही आभूषण के लिए तथा कोष में रखने के लिए भी उक्त बहुमूल्य द्रव्यों का सर्वथा अभाव है। प्राचीन काल में लोग विशुद्ध घृत का उपयोग करते थे लेकिन अब वह सर्वथा दुर्लभ हो गया है। अब सब लोग कृत्रिम वनस्पति घृत का उपयोग करते हैं तथा सारी जनसख्या का चतुर्थ भाग आश्रय हीन पडा हुआ है। इस प्रकार आधुनिक सभ्यता के अनेक छिद्र है अनेक दुर्बलताएँ है।

[१८]

उद्धव: सात्यकिश्चैव व्यजने परमाद्भुते।
विकीर्यमाण: कुसुमै रेजे मधुपति: पथि ।।

उद्धव=भगवान् श्रीकृष्ण के भाई; सात्यकि=श्रीकृष्ण के रथ चालक, च=और; एव=निश्चित ही, व्यजने=पङ्खा झलने में संलग्न, परम-अद्भुते=भव्य सजे हुए; विकीर्यमाण:=सब ओर बिखराते हुए; कुसुमै:=फूलों को; रेजे=आदेश किया, मधुपति:=मधुदेश के स्वामी श्रीकृष्ण; पथि=मार्ग में।

अनुवाद

उद्धव एवं सात्यकि भगवान् के दायें बायें खड़े होकर उन पर अत्यन्त सुसज्जित रत्नजटित चंवर डुलाने लगे। तब भगवान् ने रथ मे पुष्पो के आसन पर शोभायमान होते हुए रथ को मुख्य राजमार्ग पर चलाने की आज्ञा दी।

[१९]

अश्रूयन्ताशिषः सत्यास्तत्र तत्र द्विजेरिताः ।
नानारूपानुरूपाश्च निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥

अश्रूयन्त = सुनी जाकर, आशिषः = आशीर्वाद, सत्या = सब सत्य; तत्र = वहाँ, तत्र = वहाँ, द्विज-ईरिताः = विद्वान् ब्राह्मणो द्वारा गायी गई, न = नही, अनुरूप = उपयुक्त, अनुरूपा. = उचित; च = भी, निर्गुणस्य = अद्वय का, गुण-आत्मन. = मनुष्य का नाटच करते हुए ।

अनुवाद

उस अवसर पर यत्र तत्र एवं सर्वत्र जनसमुदाय मे एवं नारियों मे भगवान् श्रीकृष्ण की शौर्यवीर्यमयी प्रेमस्नेहमयी दयालुता कृपालुना पूर्ण घटनाओं एव लीलाओ का गायन सुनायी पड़ने लगा । वे सब भगवान् श्रीकृष्ण के लिये न तो उपयुक्त थे और न अनुपयुक्त ही थे क्योंकि वे सब अद्वय के प्रसङ्ग में, अरूप के सन्दर्भ मे थे, जो अब नर-नाट्य कर रहे है, मानव की भाँति क्रीड़ा कर रहे है ।

तात्पर्य

नगर के प्रत्येक स्थलों पर भगवान् श्रीकृष्ण को लक्ष्यकर वैदिक स्तुतियाँ प्रतिध्वनित हो रही थी । वे स्तुतियाँ उपयुक्त थी. इस अर्थ मे, कि भगवान् श्रीकृष्ण, महाराज युधिष्ठिर के ममेरे भाई के रूप मे नर-नाटच कर रहे थे, परन्तु साथ ही वे अनुपयुक्त भी थे क्योकि भगवान् अद्वय है, उन्हे किसी प्रकार के प्राकृत सम्वन्धों से कोई प्रयोजन नही है । वे निर्गुण है क्योकि उनमे कोई प्राकृत गुण नही है । तथापि वे समस्त अप्राकृत गुणों से सयुक्त हैं परिपूर्ण हैं । अप्राकृत जगत् मे कोई विरोधाभास नही है, जवकि इस प्राकृत जगत् मे सर्वत्र वस्तुओ एव तत्वो मे परस्पर विरोध ही विरोध देखा जाता है । व्यावहारिक जगत् मे श्वेत वर्ण कृष्णवर्ण की धारणा के विपरीत है, किन्तु अप्राकृत जगत् में ऐसी कोई अपूर्णता नही है । कही भी ऐसी कोई भेद-रेखा नही है इसीलिये भगवान् एवं उनके घाम की विशिष्ट महिमा ब्राह्मणो के द्वारा यत्र तत्र गायी जा रही है और वह चहुँदिशि प्रति

ध्वनित हो रही है। यह मन्त्रोच्चारण अद्वय व्यक्ति के सन्दर्भ मे विरोधाभास युक्त प्रतीत होता है तथापि जब वे अद्वय व्यक्तित्व के लिये लागू होते है तब उन समस्त विपरीतताओ से मुक्त हो जाते है, वे अप्राकृत हो जाते है। एक उदाहरण इस प्रसग को अधिक स्पष्ट कर सकेगा। भगवान् श्रीकृष्ण कभी-कभी चोर कहे गये है। वे विशुद्ध भक्तों के मध्य माखन-चोर के रूप में प्रसिद्ध है। वे अपने बाल्यकाल में वृन्दावन निवासिनी समीप वर्तिनी गोपियों के गृहों मे चुपके से प्रवेश कर माखन चुराकर खा लिया करते।

तब से वे चोर के नाम से प्रसिद्ध हो गए है परन्तु इन सब के अतिरिक्त और उनके चोर हो जाने के बावजूद भी वे चोर के रूप में पूजित होते है, जबकि प्राकृत जगत् मे चोर कभी प्रशंसा भी नही प्राप्त कर सकता वह सदा दण्डित होता है। किन्तु भगवान् जिस क्षेत्र मे जैसा भी कार्य करे। वह सब उनके लिये शोभनीय होता है तथा वे सर्वथा पूजनीय है–आदरणीय है पूजार्ह है। अत वे अपने प्रत्येक कार्य के द्वारा भी पूजनीय ही होते है। निश्चित ही पूजन का नया नया प्रकार नयी नयी आनन्द वैचित्री का प्रारम्भ अवश्य हो जाता है। और इन समस्त विभिन्नताओं, विपरीतताओं के बावजूद भी भगवान् साक्षात् सच्चिदानन्दघन भगवान् ही रहे आते है।

[२०]

अन्योन्यमासीत्संजल्प उत्तमश्लोकचेतसाम् ।
कौरवेन्द्रपुरस्त्रीणां सर्वश्रुतिमनोहरः ।।

अन्योन्यम्=परस्पर एक दूसरे को; आसीत्=वहाँ थे; सजल्पः=वार्तालाप करने लगे; उत्तम-श्लोक=जो चुने हुए कविताओं से संस्तुत होते है, वे भगवान्; चेतसाम्=जिनके हृदय उनमें लीन है वे भक्त, कौरवेन्द्र=कौरवो के राजा, पुरः=राजधानी; स्त्रीणाम्=समस्त महिलाएँ, सर्व=समस्त; श्रुति=वेद, मनः हरः=मन हरने वाली।

अनुवाद

हस्तिनापुर के समस्त गृहों के छत नागरिका महिलाओं से झूम उठे। वे नागरियाँ भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य गुण गणों के चिन्तन मे लीन हो रही

थी। परस्पर उनकी महिमा एवं गरिमा का वर्णन करती हुई वार्तालाप करने लगी। उनका यह वार्तालाप वैदिक मन्त्रों से भी अधिक आकर्षक था।

तात्पर्य

भगवद्गीता में यह कहा गया है कि समस्त वैदिक वाङ्मय के चरम उद्देश्य भगवान् श्रीकृष्ण ही है। वास्तव में भगवान् की महिमा का वर्णन वेद,रामायण एवं महाभारत में हुआ है। और श्रीमद्भागवत में विशिष्ट रूप से उनके सर्वोच्च माधुर्य का चित्रण हुआ है। इसलिये जब महिलाएँ कुरुवश के राजमहलों की छतों पर भगवान् से सम्बन्धित वार्तालाप कर रही हैं। तो यह वैसे ही मधुरिम है जैसे वेदो की ऋचाएँ। भगवान् की स्तुति में, महिमा में जो भी गायन किया जाय वह सब श्रुति मन्त्र है। गौड़ीय सम्प्रदाय के एक महान् आचार्य हुये है—ठाकुर नरोत्तमदास। उन्होने सरल बङ्गभाषा मे अति ललित गीतो की रचना की है। परन्तु उक्त सम्प्रदाय के अन्य अनेक आचार्यों के साथ ठाकुर विश्वनाथ चक्रवर्ती ने उन गीतों को वैसे ही श्रेष्ठतम माना है जैसे वेदमन्त्रों को और इसका एकमात्र रहस्य विषय वस्तु की श्रेष्ठता है। भाषा भौतिक है पर विषय वस्तु महत्तम है। वे महिलाएँ जो भगवान् के गुण कर्मो के विचारों मे एकाकार हो रही थी। भगवत्कृपा से वैदिक परिपूर्णता, ज्ञान की सर्वाङ्गा अथवा ऋतम्भरा प्रज्ञा के प्रसाद को उपलब्ध हो गई और इसीलिये यद्यपि वे महिलाएँ सस्कृत भाषा की कोई पडिता शायद न भी रही हो। तथापि उन्होंने जो कुछ कहा वह वेद मन्त्रों से भी अति आकर्षक था। उपनिषद् वर्णित वेदमन्त्र कभी-कभी अप्रत्यक्ष रूप से सर्वोच्च भगवान् की ओर प्रवाहमान् होते पाये गये है परन्तु इन महिलाओं की वार्ता सीधे प्रत्यक्ष रूप से भगवान् को लक्ष्य कर की जा रही है और यही कारण है कि वे हृदय को अति आह्लाददायी है, प्रीतिकर है। ये वाणियाँ विद्वान् ब्राह्मण के लय ताल मात्रा युक्त वेदपाठ के लाभो से अधिक लाभ प्रदान करने वाली है।

[२१]

स वै किलायं पुरुषः पुरातनो
य एक आसीदविशेष आत्मनि।

अग्रे गुणेभ्यो जगदात्मनीश्वरे
निमीलितात्मन्निशि सुप्तशक्तिषु ॥

स.=वे श्रीकृष्ण, वै=मै स्मरण करता हूँ, किल=निश्चित ही. अयम्=यह, पुरुष:=भगवान्; पुरातन.=(प्राचीन) मौलिक य -जो. एक:=केवल-एक; आसीत्=थे, अविशेष =भौतिक दृष्टि मे अनभिव्यक्त. आत्मनि=स्वयम् में, अग्रे=सृष्टि के पूर्व, गुणेभ्य =प्रकृति के गुणो के उत्पन्न होने से पूर्व, जगत्-आत्मनि=अन्तर्यामी को, ईश्वरे=सर्वोच्च भगवान् को, निमीलित=विलीन हो गये, आत्मन्=जीव, निशि सुप्त=रात्रि की निष्क्रियता; शक्तिषु=समस्त शक्तियों मे ।

अनुवाद

वे नागरिकाएँ बोली, निश्चित ही ये साक्षात् पुराणपुरुष भगवान् है । जो इस त्रिगुणात्मिका सृष्टि के पूर्व एक अकेले ही विद्यमान थे । और चूंकि ये सर्वोच्च भगवान् है । अतएव केवल इन्ही मे सम्पूर्ण जीव विलीन हो जाते है, जैसे रात्रि मे सम्पूर्ण जीव शयन कर जाते है उनकी शक्तियाँ क्रिया-रहित हो जाती है ।

तात्पर्य

व्यक्त जगत में दो प्रकार से प्रलय होते है । एक प्रलय तो होता है ४३२०००००० वर्षों के पश्चात् जब सृष्टि विशेष के ब्रह्मा शयन करते है तब एक प्रलय होता है । तथा दूसरा प्रलय तब होता है जब ब्रह्मा अपने काल मान के अनुसार सौ वर्ष व्यतीत कर चुकते हैं । जिसकी गणना हमारे सौर वर्षों से ८६४००००००० × ३० × १२ × १०० वर्षों की होती है । अवधि के व्यतीत हो जाने के पश्चात् उस समय सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है । और इन दोनों अवसरों पर भौतिक शक्ति जो महत्तत्व कहलाती है तथा तटस्था शक्ति जो जीव शक्ति भी कहलाती है, सर्वोच्च पुरुष साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण में विलीन हो जाती है । जीव भगवान् के उस विराट विग्रह में तब तक शयन करते रहते हैं, जब तक दूसरी भौतिक

सृष्टि का प्रादुर्भाव नहीं हो जाता। सृष्टि के पालन एवं संहार का यही रूप है, यही व्यवस्था है।

भौतिक सृष्टि निरन्तर तीनों गुणों की क्रियाओं, अन्तर्क्रियाओं एव प्रतिक्रियाओ से प्रभावित होती रहती है। ये साक्षात् भगवान् के द्वारा ही गतिशील होती है। इसलिये यह कहा गया है कि त्रिगुणात्मिका प्रकृति के अस्तित्व के पूर्व एक अकेले भगवान् ही विद्यमान थे और उन्होने ही इसे गतिशील किया था। श्रुतिमंत्र में भी यह कहा गया है कि केवल भगवान् विष्णु सृष्टि के पूर्व अवस्थित थे और न वहाँ ब्रह्मा थे न शिव थे और न अन्य देवतागण ही थे। विष्णु का अर्थ है महाविष्णु जो कारणार्णव मे शयन कर रहे है। और उनके श्वास प्रवाह से समस्त विश्व उत्पन्न होते है बीजों के रूप में और क्रमश. विशालकाय विश्वो के रूप मे एव अनन्त ब्रह्माण्डों के रूप में उत्पन्न होते जाते हैं। संसार के बीज विशालकाय विराट विश्वो के रूप मे उसी प्रकार विकसित होते रहते हैं जैसे वट का बीज अनेक विशालकाय वट वृक्षों के रूप मे उत्पन्न होता रहता है।

ये महाविष्णु ही भगवान् श्रीकृष्ण के अंशावतार हैं जो ब्रह्म सहिता में निम्नलिखित भाँति वर्णित हुए हैं। भगवान् श्रीगोविन्द को मैं प्रणाम करता हूँ। जिनके अशावतार श्रीमहाविष्णु है जो अनेकानेक सृष्टियों के संचालक ब्रह्मागण जिनके एक स्वास प्रस्वास की अवधि पर्यन्त ही जीवित रहते है; तथा जिनके दिव्य विग्रह के रोमकूपों से अनेकानेक ब्रह्माण्डों का उद्भव होता रहता है। (ब्रह्म सहिता ५-५८)

इस प्रकार गोविन्द या भगवान् श्रीकृष्ण ही महाविष्णु के मूल कारण है। और ये नागरियाँ एवं राजमहिलाएँ इसी वैदिक—सत्य का सन्देश दे रही है। इससे पता लगता है कि उन्होने प्रामाणिक केन्द्रों से अध्यात्म तत्व का अनुशीलन किया होगा। इस दिव्य एवं रहस्यमय विषय को सम्पूर्ण रूप से एवं निश्चग पूर्वक अवगत करने का केन्द्र एकमात्र प्रामाणिक उत्स गुरूदेव के चरण कमल ही है। और इसमें कोई अन्य विकल्प नही हो सकता।

ब्रह्मा के १०० वर्ष व्यतीत होने के अनन्तर ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण जीव अत्यन्त स्वाभाविक रूप से महाविष्णु के दिव्य विग्रह में विलीन होते है।

परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि जीव अपनी व्यक्तिगत सत्ता अपना अस्तित्व खो देते हों। उनका अस्तित्व निश्चित रूप से रहता है उनका व्यक्तित्व पूर्ण रूप से रहता है। ज्यों ही नवीन सृष्टि का उद्भव होता है त्यों ही भगवान् की इच्छा से वे शयन करते हुये समस्त जीव तुरन्त ही विवशतापूर्वक नये जीवन की ओर गतिशील हो जाते है उनके नये जीवन की आधारशिला अपने पूर्व जीवन की अनवरतता से सम्बद्ध होती है। यही "सुप्तोत्थिता नय" चिर निद्रा से उत्थान एव अपने पूर्व कर्तव्यो में सलग्न होना कहा जाता है। जब मनुष्य रात्रि मे शयन करता है तब वह स्वयं को भूल जाता है। वह क्या है उसका कर्तव्य क्या है आदि जागरण की समस्त वस्तु स्थिति, समस्त परिवेश वातावरण सब विस्मृत हो जाता है। परन्तु ज्यों ही वह निद्रा से जाग्रत होता है। तत्क्षण ही उसकी स्मृति पुन पूर्ववत् हो जाती है। तथा वह अपने पूर्व निर्धारित कर्तव्य कार्यो में पन. सलग्न हो जाता है। जीव भी प्रलय की अवधि के उपरान्त महा-विष्णु के शरीर से वैसे ही जाग उठता है, जब सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है। जाग्रत होकर वह असमाप्त कार्यों की पूर्ति मे पुनः सलग्न हो जाता है। यह भगवद्गीता (८ १८।२०) द्वारा भी समर्थित हुआ है।

भौतिक शक्ति के कार्यरत होने के पूर्व भी भगवान् विद्यमान थे। वे भौतिक शक्ति के कार्य नही है। उनका श्रीविग्रह सर्वदा सर्वथा अप्राकृत है। तथा उनके दिव्य विग्रह एव उनमे कोई अन्तर नही। सृष्टि के पूर्व भगवान् अपने दिव्य लोक मे अवस्थित थे जो अद्वय है, एक है, अद्वितीय है।

[२२]

स एव भूयो निजवीर्यचोदितां
स्वजीवमायां प्रकृतिं सिसृक्षतीम्।
अनामरूपात्मनि रूपनामनी
विधित्समानोऽनुससार शास्त्रकृत्।

स.=वह, एव=ऐसा, भूयः=फिर से; निज=व्यक्तिगत, वीर्य=शक्ति, चोदिताम्=प्रेरित किया, स्व=अपना, जीव=जीव, मायाम्=बहिरङ्गा शक्ति द्वारा, प्रकृतिम्=भौतिक प्रकृति को, सिसृक्षतीम्= पुनः

निर्मित करते हुये, अनाम=उपाधि रहित; रूप-आत्मनि=जीव के विभिन्न रूप, रूप-नामनि=रूप और नाम; विधित्समान.=देने की इच्छा करते हुये; अनुससार=संरचना की; शास्त्र-कृत्=प्रामाणिक धर्मग्रन्थों की।

अनुवाद

जब भगवान् ने पुन. अपने अशों एव अंशाशों को विभिन्न नाम एवं रूप प्रदान करने की इच्छा की, तब उन जीवों को भौतिक प्रकृति के विभिन्न नियमों के अन्तर्गत संलग्न कर दिया। उनकी अपनी ही इच्छा से उनकी अपनी ही शक्ति से सञ्चालित भौतिक प्रकृति सक्रिय हो उठी। तथा व्यवहार के लिए वेद पुराणादि नाना प्रकार के शास्त्रो की सरचना भी हुई।

तात्पर्य

जीव भगवान् के अङ्ग एव अश है तथा वे दो प्रकार के होते है। एक तो नित्यमुक्त, दूसरा नित्यबद्ध। नित्यमुक्त जीव अनादि काल से मुक्त जीव है। तथा वे निरन्तर भगवान् की भक्तिमयी सेवा में सलग्न रहते है। वे नित्य निरतर गोलोक धाम में भगवान् के साथ प्रणय क्रीड़ा करते रहते हैं परन्तु नित्यबद्ध जीव सांसारिक आश्रित जीव अनादिकाल से बहिरङ्गा-शक्ति माया के अन्तर्गत भ्रमण करते हुए, ससरण करते हुये अपने प्रेमस्नेह-मय सर्वोच्च पिता के प्रति विद्रोही प्रकृति के कारण बन्धन में पडे हुए नाना प्रकार के दुखों को भोगते हुए विचरण करते रहते है। वे अपने स्वामी से अपना नित्य अनादिकालीन संबन्ध की विस्मृति के कारण सारे बन्धनों मे बँध जाते है। प्रकृति के नियमों मे बँध जाते है। और इस प्रकार आधिभौतिक आधिदैविक एव आध्यात्मिक पीड़ाओं से पीड़ित होते रहते है। वे भ्रामिका शक्ति की व्यवस्थानुसार पदार्थ सम्भूत पदार्थ की भाँति उत्पन्न होते हैं। और जगत में सुखी होने के लिए नयी-नयी योजनाये एव चेष्टाओं मे सलग्न एव व्यस्त रहा करते है। वे नयी-२ योजनाओं की आयो-जनाये करते रहते है। परन्तु भगवान् की इच्छा से वे आयोजित करने वाले एवं उनकी समस्त योजनाये पूर्वकथित अवधि मे समाप्त हो जाया करती है। यह भगवद्गीता के द्वारा इस प्रकार प्रतिपादित हुआ है। हे मेरे प्रिय अर्जुन—जब ब्रह्मा के जीवन का अन्त होता है, तब समस्त जीव मेरी प्रकृति में विलीन हो जाते हैं। तथा जब सृष्टि पुनः सृजित होती है, उस समय

में अपनी बहिरङ्गा शक्ति के द्वारा उनकी सरचना करता हूँ। भगवद्गीता (९।७)

"भूयः" शब्द इङ्गित करता है कि सृष्टि की उत्पत्ति, पालन एवं प्रलय की क्रिया अनादि काल से भगवान् की बहिरङ्गा शक्ति के द्वारा पुनः-पुनः होती चली आ रही है। अर्थात् वही सम्पूर्ण पदार्थों का मूल कारण है।

परन्तु जीव चूंकि भगवान् के नित्य दिव्य अंश विशेष होकर भी उस मधुरतम सम्बन्ध को भूले हुये है अतः वे पुनः नये-नये प्रकार से, नयी व्यवस्थाओं से नये-नये परिवेशों में बहिरङ्गा शक्ति से मुक्त होकर भगवान् के साथ अपने मधुर सम्बन्ध को उपलब्ध होने के लिए शुभ अवसर प्रदान किये जाते है। और इस मधुरतम सम्बन्ध के अनावरण के लिये। स्वय भगवान् के द्वारा नये-नये धर्मग्रन्थों की संरचना होती है। वैदिक साहित्य आश्रित जीवों के लिये लगातार सृष्टि, प्रलय एव जन्म-मृत्यु के चक्र से छुटकारा पाने के लिये एक महान् मार्गदर्शक तत्व है।

भगवान् भगवद्गीता में कहते है कि सृष्टि एव भौतिक शक्ति मेरे नियन्त्रण में ही सक्रिय होती है। मेरी प्रकृति के प्रभाव से ही वे पुनः पुनः निर्मित होते एवं विसर्जित होते रहते हैं। और मेरे द्वारा मेरी माया के माध्यम से यह घटना घटित होती ही रहती है।

वास्तव मे अप्राकृत स्फुलिग जीवो के न कोई भौतिक नाम हैं—और न कोई भौतिक रूप ही है। परन्तु चूंकि जीव का भौतिक प्रकृति पर स्वामित्व प्राप्त करने की प्रबल आकाँक्षा है। अतएव उस इच्छा को पूर्ण करने के लिये उन्हें नाम एव रूप दिया जाता है। इसके साथ ही इन्हें इस मिथ्या सुख को भोग लेने के लिये एक अवसर दिया जाता है तथा साथ ही साथ धर्म शास्त्रों में प्रतिपादित अपने वास्तविक स्वरूप को समझने का भी सुअवसर प्रदान किया जाता है। मूर्ख एवं आत्मविस्मृत जीव सदा झूठे रूपों एवं नामों में व्यस्त रहते है। तथा यह सुअवसर नही पहचान सकते। अपने शास्त्रवर्णित गरिमामय स्वरूप का महत्व नही समझ पाते हैं आधुनिक राष्ट्रवादिता ऐसे ही मिथ्या नाम एवं रूपों से सम्बन्धित है। मनुष्य ऐसे मिथ्या नाम रूपों के पीछे पागल हैं। इस शरीर का रूप किसी निश्चित परिस्थितियों के अन्तर्गत उपलब्ध हुआ है। उसी प्रकार तथा इस शरीर के रूप का दिया गया नाम भी प्रयोजनवश है, काल्पनिक है। तथा प्रत्येक

आश्रित जीव इन नाम और रूपों को लेकर नये-नये मतवादों एवं उपाधियों में फँसते चले जाते हैं। हमारे धर्मग्रन्थ इस उलझन पूर्ण भटकन का स्पष्ट रूप प्रस्तुत करते हैं। धर्मग्रन्थ किसी प्रकार जीव की वास्तविक स्थिति का दिग्दर्शन कराते हैं। और हम धर्मग्रन्थों का आदर करते हैं एक प्रकाश की ज्योति बिखर उठती है जीवन में मनुष्य अपना मार्ग पा जाता है अपना गन्तव्य उपलब्ध कर लेता है।

परन्तु मनुष्य विभिन्न स्थानों एवं समयों में विभिन्न रूप से प्रचलित भगवत्प्रोक्त धर्मग्रन्थों का आश्रय लेने में पराङ्मुख हो जाते हैं। उदाहरण के लिए भगवद्गीता का सिद्धान्त सम्पूर्ण मानव मात्र के लिये एक मात्र मार्ग प्रदर्शक प्रकाश-स्तम्भ की भाँति है। परन्तु भगवान् की बहिरङ्गा माया शक्ति के प्रबल प्रभाववश वे न तो भगवद्गीता से अथवा न श्रीमद्भागवत से लाभ उठा पाते हैं। इन दोनों का अध्ययन ज्ञान की स्नातकोत्तर शिक्षा की भाँति है; जो भगवद्गीता के सिद्धान्त को समझ लेता है, वह व्यक्ति निश्चित ही जीवन की पूर्णता को उपलब्ध कर लेता है। दुर्भाग्यवश हमें उनमें कोई रुचि नही रह गई है। और इसीलिये हम लगातार जन्म और मृत्यु के चक्र में फँसे हुये हैं। माया के क्रूर चंगुल में हम फँस गये है।

[२३]

स वा अयं यत्पदमत्र सूरयो
जितेन्द्रिया निर्जितमातरिश्वनः।
पश्यन्ति भक्त्युत्कलितामलात्मना
नन्वेष सत्वं परिमार्ष्टुमर्हति॥

सः=वे; वै=दैव द्वारा; अपम्=यह, यत्=जो; पदम्-अत्र=वे ही भगवान् श्रीकृष्ण; सूरय.=महान् भक्तगण, जित्-इन्द्रिया=इन्द्रियों को जिसने जीत लिया, निर्जित=सर्वथा वशीभूत, मातरिश्वनः=जीवन; पश्यन्ति =देख सकते हैं; भक्त्युत्=प्रेममयी सेवा द्वारा, कलित=विकसित; अमल-आत्मना=निर्मल अन्तःकरण युक्त भक्तों द्वारा, नन्वेष=निश्चित ही केवल इसी के द्वारा; सत्वम्=सत्ता, परिमार्ष्टुम्=अन्तःकरण की विशुद्धता के लिये; अर्हति=योग्य होते हैं।

अनुवाद

ये वे ही भगवत्ता के साक्षात् सर्वोच्च व्यक्तित्व हैं जिनके दिव्य विग्रह का साक्षात्कार बड़े-बड़े भक्त तीव्र अनन्य प्रेमाभक्ति के द्वारा हृदय से सांसारिकता का पूर्णतः परिष्कार कर,जीवन में इन्द्रियों के निग्रह के द्वारा उपलब्ध करते है। वास्तव में इन्ही की भक्ति के द्वारा ही हृदय की शुद्धता सम्भव हो सकती है।

तात्पर्य

भगवद्गीता में यह निर्दशित हुआ है कि भगवान् अपने वास्तविक स्वाभाविक स्वरूप मे तभी साक्षात् दर्शन देते है जब तीव्र भक्तियोग की साधना सम्पन्न हो। इसीलिये यहाँ कहा गया है कि केवल भगवान् के महान् भक्त जो भौतिकता की धूल को तीव्र भक्तियोग के द्वारा साफ कर लेते है, वे ही उनका अनुभव कर पाते है। जितेन्द्रिय का अर्थ होता है जो इन्द्रियो पर पूर्ण नियन्त्रण रख सकता हो इन्द्रियों का पूर्ण निरोध कर चुका हो। इन्द्रियाँ शरीर के सक्रिय भाग है और वे कभी रोके नही जा सकते। यौगिक प्रक्रियाओं के द्वारा कृत्रिमतापूर्वक इन्द्रियों का निग्रह सदा असफल सिद्ध हुआ है। यहाँ तक कि विश्वामित्र जैसे महान् योगी मुनि भी असफल रहे। विश्वामित्र मुनि यौगिक-प्रक्रियाओं से उत्पन्न यौगिक निष्क्रियता से अपनी इन्द्रियो पर पूर्ण नियन्त्रण कर चुके थे। परन्तु जब उनका मेनका नामक स्वर्गीय अप्सरा से मिलन हुआ। तब वे यौन क्रीडा के शिकार हो गये- और उनका इन्द्रियो पर कृत्रिम नियंत्रण असफल हो गया। परन्तु विशुद्ध भक्तों के सम्बन्ध मे ऐसी घटना नही घटती। प्रेममयी सेवा से इन्द्रियाँ वाह्य रूप से अवरुद्ध नही की जाती परन्तु उन्हे उनकी समुचित व्यवस्था दी जाती है। जब इन्द्रियाँ उन अति उत्कृष्ट आकर्षक कार्यों में संलग्न कर दी जाती हैं तब बाहरी तुच्छ सलग्नताओ मे आकर्षित होने के लिये कोई अवकाश नही बच रहता। भगवद्गीता यह कहती है, कि इन्द्रियाँ सिर्फ तभी नियंत्रित हो सकती है जब उत्तम सलग्नताओ की उपलब्धि हो। भक्तिमयी सेवा इन्द्रियो को परिशोधित करती है। तथा उन्हें दिव्य सेवा में सलग्न करती है। प्रेममयी सेवा निष्क्रियता नहीं है। जो भी भगवान् की सेवा में कार्य किया जाता है वह सर्वथा भौतिक प्रकृति के गुणों से रहित होता है। भौतिकता की धारणा केवल अज्ञान के कारण है।

वास्तव में वासुदेव के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही है। वासुदेव की यह व्यापक धारणा विद्वान् व्यक्ति के हृदय में क्रमश प्रेममयी सेवा के द्वारा विकसित होती है। और वासुदेव का सदा सर्वदा एवं सर्वत्र निरन्तर दर्शन करने मे यह प्रक्रिया सम्पूर्ण होती है। प्रेममयी सेवा के क्षेत्र मे यह अन्तिम अवस्था प्रारम्भ में ही अभिव्यक्त होती है। और भगवान् की कृपा से समस्त वास्तविक ज्ञान भक्त के हृदय में आन्तरिक-प्रेरणा के द्वारा स्फुरित होता जाता है। इसलिए प्रेममयी सेवा के द्वारा ही इन्द्रियो पर नियत्रण एक सुगमतम मार्ग है।

[२४]

स वा अयं सख्यनुगीतसत्कथो
वेदेषु गुह्येषु च गुह्यवादिभिः।
य एक ईशो जगदात्मलीलया
सृजत्यवत्यत्ति न तत्र सज्जते ॥

सः=वे, वै=भी, अयम्=यह; सख्य=हे मेरे मित्र; अनुगीत= वर्णित, सत्-कथा=भव्य लीलाएँ; वेदेषु=वैदिक साहित्य मे; गुह्येषु= रहस्यमय; च=ऐसा भी; गुह्य-वादिभिः=अन्तरङ्ग भक्तों के द्वारा; यः= जो; एकः=केवल एक; ईशः=परम नियन्त्रक सर्वोच्च नियंत्रक; जगत्= सम्पूर्ण सृष्टि, आत्म=अन्तर्यामी; लीलया=लीलाओं के प्रकटीकरण द्वारा; सृजति=सृजन करते हैं; अवति अति=पालन तथा संहार करते हैं; न= नही, तत्र=वहाँ; सज्जते=आसक्त होते हैं।

अनुवाद

हे प्रिय सखियो! ये वे ही साक्षात् भगवान् है जिनकी अत्यन्त आकर्षक एवं रहस्यमय लीलाएँ इनके महान् भक्तो द्वारा वैदिक वाङ्मय के गुप्त भागों में वर्णित हुई हैं। ये वे ही हैं, जो इस भौतिक जगत् का सृजन, पालन एवं संहार किया करते हैं; तथापि उनमें आसक्त नही होते।

तात्पर्य

जैसेकि भगवद् गीता में निर्दशित हुआ है कि समस्त वैदिक वाङ्मय में एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण की महानता का प्रतिपादन हुआ है। यहाँ यह वक्तव्य श्रीमद्भागवत के द्वारा भी समर्थित होता है। वैदिक वाङ्मय भगवत्शक्ति-प्रदत्त बहुत से भक्तो एवं अवतारों के द्वारा अनेक शाखाओं एवं प्रशाखाओ के रूप में विस्तृत हुआ है। उन भक्तों एवं भगवत्शक्ति प्राप्त अवतारो मे से मुख्य व्यक्तित्व निम्नलिखित है। व्यास, नारद, शुकदेव गोस्वामी, कुमारगण, कपिल, प्रह्लाद, ब्रह्मा, जनक, बलि, यमराज आदि के द्वारा वेदों का अनेक शाखाओं एव प्रशाखाओ में विस्तार हुआ है। परन्तु विशेषकर श्रीमद्भागवत में वेदो के अत्यन्त रहस्यमय गुप्त भाग का उद्घाटन हुआ। और वह है भगवान् श्रीकृष्ण की महा मनोहर, मधुर लीलाएँ। और यह श्री शुकदेव गोस्वामी के द्वारा वर्णित हुई है। वेदान्त-सूत्र एवं उपनिषदों मे भी भगवान् की रहस्यमयी लीलाओ के सकेत उपलब्ध होते है। जैसे "लोकवत् लीला कैवल्यम्" वेदान्त सूत्र। इस प्रकार वैदिक साहित्य उपनिषद् आदि मे भगवान्, भौतिक धारणाओ से सर्वथा भिन्न रूप मे प्रस्तुत किये गये है। उनका अस्तित्व, उनका रूप, उनका नाम, उनके गुण एवं उनके पार्षद, सदा सर्वदा सर्वथा चिन्मय है। अप्राकृत है। तथा पदार्थ से सर्वथा पृथक् अप्राकृत वर्णित हुये है और इसीलिये कभी-कभी ये अल्प बुद्धिमान व्यक्तियों के द्वारा निराकार रूप मे व्याख्या किये गये है। परन्तु वास्तव मे वे सर्वोच्च पुरुष है। उनका व्यक्तित्व है जो सर्वोच्च् है अतः वे भगवान् है। परमात्मा एव ब्रह्म मे उन्ही की आंशिक प्रस्तुति हुई है।

[२५]

यदा ह्यधर्मेण तयोधियो नृपा
जीवन्ति तत्रैष हि सत्त्वतः किल।
धत्ते भगं सत्यमृतं दयां यशो
भवाय रूपाणि दधद्युगे युगे ॥

यदा=जब कभी; हि=निश्चित ही, अधर्मेण=भगवान् की इच्छारूपी सिद्धान्तो के विपरीत; तमः-धियः=निम्नतम वृत्तियो वाला, नृपाः=शासकगण; जीवन्ति=पशुओं की भाँति जीते है; तत्र=वहाँ; एष=वह; हि=निश्चित ही, सत्वतः=दिव्य; किल=निश्चित ही; धत्ते=प्रगट होते

है; भगम्=सर्वोच्च शक्ति; सत्यम्=सत्य, ऋतम्=पारदर्शिनी-प्रज्ञा, दयाम् =दया, यश:=आश्चर्य जनक कृतियाँ; भवाय=विश्व पालनार्थ, रूपाणि =अनेक रूपों मे, दधत्=धारण किया, युगे-युगे=प्रत्येक युग में।

अनुवाद

जब-जब राजा तथा पृथ्वी की शासनसत्ता के कर्णधार नेतागण तमोगुण से आच्छादित मूढ बुद्धि होकर पशुवत् जीवन जीने लगते है। तथा भक्तों पर अत्याचार करते है, तब भगवान् अपनी अन्तरङ्गा शक्ति से अपना परम दिव्य विग्रह जो परम सत्य का वास्तविक व्यक्तिगत स्वरूप है, प्रस्तुत करते है और अपने अनन्य भक्तों पर कृपा प्रकट करते हुए अपनी आश्चर्य जनक लीला प्रकट करते है। उनका यह अवतार विभिन्न युगों में पृथक्-पृथक् अवधि के लिए होता है। जैसे कि उपरोक्त वर्णित हुआ है यह समग्र ब्रह्माण्ड सर्वोच्च पुरुष साक्षात् भगवान् की प्रतिकृति है अत: साक्षात् भगवान् की ही समृद्धि है।

यही वक्तव्य ईशोपनिषद् के दर्शन का मूल आधार है सभी वस्तुएँ भगवान् की समृद्धि है उसी की सम्पत्ति है। इसलिए किसी भी व्यक्ति को भगवत् सम्पत्ति पर आक्रमण करने का अधिकार नही है। प्रत्येक व्यक्ति को जो कुछ उनके द्वारा कृपा पूर्वक प्राप्त हुआ है उसे स्वीकार कर उसमे सन्तुष्ट रहना चाहिए। इसलिए भूमि तथा गृह, राष्ट्र एव विश्व भगवान् की ही सम्पत्ति है। जीव निश्चित ही उनके अश अशाश है, उनके पुत्र है और इस प्रकार प्रत्येक जीव को भगवान् की कृपा पर जीने एव एकमात्र अपने लिए सुनिश्चित कर्तव्य कार्यो को करने का अधिकार है। इसलिए किसी भी व्यक्ति को जीवन धारण करने के लिए किसी अन्य व्यक्ति की आजीविका अथवा किसी पशु के जीवन पर आक्रमण करने का कोई अधिकार नही है। राजा अथवा देश का शासक भगवान् का प्रतिनिधि है। उसे भगवान् की विधिवत् उपासना करनी चाहिए भगवान् की इच्छा का पालन होते रहने की समुचित व्यवस्था करनी चाहिए। इसीलिए प्रत्येक राजाको महाराज युधिष्ठिर या परीक्षित की भाँति प्रामाणिक होना चाहिए। ऐसे राजा को अपने उत्तरदायित्व एवं सम्भावनाओं का सम्पूर्ण परिचय आचार्यो से प्राप्त करना चाहिए। तभी सम्पूर्ण विश्व पर शासन करने के अधिकारी हो सकेगे। परन्तु कभी-कभी अज्ञान के प्रभाव

मे आकर तमोगुण के चगुल में पड़कर राजन्यवर्ग उत्तरदायित्व एव पर्याप्त ज्ञान के बिना ही पदारूढ हो जाते है, शासन सूत्र का सञ्चालन करने लगते है। और जैसे मूर्ख शासक पशुओ की भाँति जीवन व्यतीत करते है। अपने स्वार्थ के लिए जीवन व्यतीत करते है परिणाम यह होता है कि राष्ट्र का समस्त वायु मण्डल, सारा वातावरण अराजकता से स्पन्दित हो उठता है। दूषित कर्मो एव उनके फलो का एक दुष्चक्र चल पड़ता है तथा समाज मे धोखाधडी, घूँसखोरी, अत्याचार, परस्पर अनावश्यक आक्रमण अधिक प्रबल हो उठते है। वायुमण्डल मे असामञ्जस्य व्याप्त होते ही अकाल सक्रामक रोग, युद्ध, महामारी आदि बहुत से पीडादायी तत्वों से सारा राज्य पीड़ित होने लगता है। भगवान् के भक्त तथा धर्मात्मा सदाचारी व्यक्ति सभी ओर से पीड़ित होने लगते है। ये सब लक्षण भगवान् के अवतारों की पूर्व सूचना प्रदान करते है। जो कि राष्ट्र के अनैतिक तत्वों के निदान एव धर्म की पुन स्थापनार्थ इस भूमण्डल पर अवतीर्ण होते है। भगवद्गीता से भी यही प्रतिपादित होता है।

भगवान् प्राकृत गुण लेश रहित अप्राकृत चिन्मय विग्रह धारणकर यहाँ अवतीर्ण होते है। वे यहाँ आकर सृष्टि को एक नई व्यवस्था देते है। प्रकृति मे एक सन्तुलन स्थापित करते है। प्रकृति में सन्तुलन का यह अर्थ है कि भगवान् ने प्रत्येक लोकोको जीवन धारण करनेके लिए पर्याप्त आवश्यक सामग्री प्रदान की है। वे उन वस्तुओं का सुख पूर्वक अपने अधिकारानुसार उपयोग करते हुए उनके प्रति प्रेममयी सेवा अर्पित करे। इस प्रकार शास्त्रों में निर्दिष्ट नियमो का पालन करते हुए वे जीवन यापन करे। यह भौतिक जगत् नित्यबद्ध या नित्य-आश्रित जीवो की कामनाओ की संस्तुष्टि कर उनसे निवृत्त होने के लिए निर्मित हुआ है। जैसे एक नटखट बालक को खेलने के लिए खिलौने दे दिये जाते है, नही तो भौतिक जगत् की कोई आवश्यकता न थी। परन्तु जब जीव भौतिक विज्ञान के द्वारा आविष्कृत विभिन्न नवीन उपकरणो के द्वारा वे अनधिकार पूर्ण रीति से अवैधानिक रूप मे भगवान् के द्वारा प्रदत्त प्रत्येक जीवोके आवश्यक-तत्वोका शोषण करने लगते है। ओर दूसरोको लूटकर स्वय शक्तिवान् एवं धनधान्य सम्पन्न हो जाते है। और उससे उनमे मद का आविर्भाव हो जाता है। वे गर्व के नशे मे चूर हो जाते है। तब इन्द्रिय भोगों में ही वे निरत हो जाते हैं।

तब भगवान् को अवतार धारण करने की आवश्यकता पड़ती है।

उन विद्रोहियों का दमन करने के लिए उन्हें दण्डित करने के लिए त
भगवद्भक्तों की सुरक्षा के लिए भगवान् का आविर्भाव आवश्यक होत
और वे प्रभु अवतार धारण करते है।

जब वे अवतीर्ण होते है तब वे अपनी अति मानवीय कृतियों का प्रद
प्रारम्भ कर देते है। उनके भगवदीय सर्वोच्च अधिकार प्रत्यक्ष प्रमाणि
होने लग जाते है और इस प्रकार रावण, हिरण्यकशिपु,कस इत्यादि भौति
वादी उनके द्वारा अत्यन्त भयानक रूप से दण्डित होते है। वे जब प्र
होते है तो उनके द्वारा ऐसी लीलाएँ घटित होती है। भगवान् ऐ
लीलाये करते है कि सामान्य मानव उनका अनुकरण करने का क
साहस नही कर सकता। उनके द्वारा वह हो भी नही सकता। उद
हरणार्थ भगवान् श्रीराम के रूप में अवतीर्ण हुए थे तब उन्होने हिन्द मह
सागर मे ८०० मील लम्बा पुल बना दिया। जब वे श्रीकृष्ण के रूप मे अ
तीर्ण हुए थे तो उन्होंने बाल्यकाल से ही अपनी अति मानवीय लीलाओं
प्रदर्शन करते हुए पूतना, अघासुर, शकटासुर, कालिय इत्यादि भयानक रू
धारी दैत्यों को समाप्त कर दिया। कस भी उनके इसी शौर्य-वीर्य
प्रज्ज्वलित अग्नि मे जलकर भस्म हो गया। जब वे द्वारिकापुरी
पधारे तब अपनी युवावस्था के प्रारम्भ में उन्होने सोलह हजार एक
आठ राजकन्याओ मे विवाह किया और वे सभी श्रीकृष्ण पत्नियाँ पर्याप्त पु
पौत्रों से अनुगृहीत हुई। उनके व्यक्तिगत परिवार के सदस्यों की संख्
कोई १००,००० थी। वे सब यदुवंशियों के रूप मे प्रसिद्ध हुए और वे प्र
जब तक इस धराधाम मे अवस्थित रहे, तब तक अपने इन समस्त सुहृदों
साथ उन्होने आनन्द पूर्वक विचरण किया उनसे उन्होंने वार्तालाप किय
और जब वे यहाँ मे अपने धाम वापस पधारने लगे तो उसके पूर्व
उन्होने उन सबका परस्पर युद्ध कराकर सहार करा डाला। बड़े विचित्
है वे। बड़े लीला विनोदी हैं वे। वे गोवर्धन धारी श्रीहरि के रूप मे भ
विख्यात है क्योंकि उन्होने केवल सात वर्ष की उम्र मे ही विशाल गोवर्धन
पर्वत को एक उँगली से उठा लिया था। भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने जीवन
काल मे अनेक धर्मद्रोही, धर्मध्वजी अन्यायी राजाओं का सहार किया
युद्धभूमि में एक क्षत्रिय योद्धा की भाँति उन्होने अत्यन्त शौर्य-वीर्य का उग्
प्रदर्शन किया। ससार के समक्ष उन्होने शूरता-वीरता का एक उच्चतम
आदर्श प्रस्तुत किया। वे असमोर्ध्व के रूप मे 'अतुलनीय' 'अद्वितीय' के रूप
मे विख्यात है।

उनके समकक्ष भी कोई नही हो सकता। तो फिर उनसे बड़ा कोई हो ही कैसे सकता है।

[२६]

अहो अलं श्लाघ्यतमं यदोः कुल-
महो अलं पुण्यतमं मधोर्वनम्।
यदेष पुंषामृषभः श्रियः पतिः
स्वजन्मना चङ्क्रमणेन चाञ्चति॥

अहो=ओह; आश्चर्य है, अलम्=धन्य है, श्लाघ्यतमम्=अति-महिमामय, अत्यन्त प्रशसनीय है, यदोः=महाराज यदु का, कुलम्=वंश; अहो=ओह, अलम्=धन्य है; पुण्यतमम्=अत्यन्त पुण्यमय, मधोर्वनम्=मथुरा की भूमि; यत्=क्योंकि, एष=यह, पुसाम=सम्पूर्ण जीवो का, ऋषभ.=सर्वोच्च नेता; श्रियः=भाग्य की अधिदेवी का, पति.=पति, स्वजन्मना=अपने जन्म से, चङ्क्रमणेन=पाद-सञ्चार के द्वारा; च=भी, अञ्चति=महिमा प्रसारित करते हैं।

अनुवाद

अहो! यह यदुवंश धन्य है। अहो, यह मधुपुरी की भूमि कितनी पुण्यतम है जहाँ सम्पूर्ण जीवों के अधियन्ता, भाग्य की अधिदेवी लक्ष्मी के पति, भगवत्ता के सर्वोच्च विग्रह साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण ने जन्म लेकर अपनी लीलाएँ की।

तात्पर्य

भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने दिव्य आविर्भाव तिरोभाव एवं अपने कर्मों के रहस्य का संक्षिप्त परिचय दिया है, भगवान् अपनी अचिन्त्य शक्ति से विशिष्ट परिवार एव विशिष्ट स्थान में प्रादुर्भूत होते है। वे सामान्य आश्रित जीवों की भाँति जन्म ग्रहण करते है, और उन्ही की भाँति देह का परित्याग भी करते है, परन्तु उनका जन्म और अन्तर्धान

सामान्य नही अपितु सूर्य की भाँति होता है। सूर्य पूर्वीय क्षितिज से उदित होता है, परन्तु इसका यह अर्थ नही है, कि पूर्वीय क्षितिज सूर्य का पिता है। सूर्य सौर जगत के प्रत्येक भाग में अवस्थित है। परन्तु वह वहीं दृष्टिगोचर होता है, जहाँ समय अनुकूल होता है। जहाँ उसकी आवश्यकता नही होती, वहाँ से वह तिरोभूत हो जाता है। उसी प्रकार भगवान् विश्व में सूर्य की भाँति व्यक्त होते है, प्रकट होते हैं और जब उनका कार्य पूरा हो जाता है तब वे अन्तर्धान हो जाते है, वे सदा एवं सर्वत्र अवस्थित हैं, परन्तु वे अपनी अहैतुकी कृपा से अपने भक्तों के लिये स्थल विशेष मे, परिवार-विशेष में जन्म लेते है। कोई भी व्यक्ति जो इस तथ्य को, इस सत्य को समझता है, धर्मशास्त्र उसके लिये अपना आवरण अनावृत कर देते है। निश्चित ही जो इस तत्व को इस रहस्य को हृदयङ्गम कर लेता है, वह देहत्याग के पश्चात् मुक्ति प्राप्त कर लेता है। मुक्ति तभी प्राप्त होती है, जब अनेक जन्मों तक शाति एव धैर्यपूर्वक तपश्चर्या की जाय, साधना की जाय, ज्ञान मे परिनिष्ठा हो, सन्यास जीवन में प्रवेश करे। परन्तु यह भगवान् की विचित्र महिमा ही है कि इसे जानकर,केवल जानने मात्र से, इस तथ्य के हृदयङ्गम करने मात्र से मनुष्य मुक्ति का अधिकारी हो जाता है। जीव भगवान् के दिव्य जन्म एव दिव्य कर्म के रहस्य को जानते ही तत्क्षण मुक्त हो जाता है। यह भगवद्गीता का वक्तव्य है। परन्तु वे जो अज्ञानान्धकाराच्छन्न मति है, वे भगवान् के जन्म एवं कर्मो को पाञ्चभौतिक मानते है। जैसे साधारण आदमी जन्म लेता है, मरता है ऐसे ही वे भगवान् के विषय मे सोचते है। ऐसे अपूर्ण दृष्टिकोण एवं त्रुटिपूर्ण निर्णयों से कभी मुक्ति प्राप्त नही हो सकती। महाराज यदु के कुल में श्री वसुदेवजी के पुत्र रूप मे उनका जन्म तथा नन्द महाराज के परिवार में उनका स्थानान्तरण तथा मधुपुरी की पावन स्थलियों मे उनके श्रीचरणों का अङ्कन यह एक दैवीय विधान था। उनकी अन्तरंगा शक्ति की ही एक क्रीडा थी। कुरुवश अत्यन्त सौभाग्यशाली बना। भगवत्ता के सर्वोच्च विग्रह साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण उनके राज्य में उनकी नगरी में चङ्क्रमण करते रहे। भगवान् के जन्म एव कर्म के दिव्य स्वरूप को समझते ही कोई भी व्यक्ति मुक्त हो जाता है, इससे हमे यह कल्पना करनी चाहिये, यह अनुमान लगाना चाहिये कि जब उनके चिन्तन स्मरण एवं उनकी महिमा के हृदयङ्गम करने मात्र से ही जीव मुक्त हो जाता है तो साक्षात् भगवान् के सान्निध्य में उनके सम्पर्क संस्पर्श एवं उनके पारिवारिक सदस्य बनकर उनके पड़ोसी बनकर जिन्होने निवास·

किया, उन्हें कौन सी महान् गति उपलब्ध हुई होगी ? जो भगवान् के सान्निध्य में निवास कर परम सौभाग्यशाली बने, उनके चरण के स्पर्श की स्पृहा साक्षात् भाग्य की अधीश्वरी भगवती लक्ष्मी भी करती हैं। निश्चित ही, वह तथाकथित मुक्ति से भी अधिक उच्चतर अवस्था प्राप्त कर लेता है, इसलिए मधुवंश एव कुरुवंश दोनो ही भगवान् की अपरिसीम महती कृपा से धन्य-धन्य हो उठे।

[२७]

अहो बत स्वर्यशसस्तिरस्करी
कुशस्थली पुण्ययशस्करी भुवः ।
पश्यन्ति नित्यं यदनुग्रहेषितं
स्मितावलोकं स्वपतिं स्म यत्प्रजाः ॥

अहो बत=कितना आश्चर्य है, स्वः-यशसः=स्वर्ग लोकों की महिमा; तिरस्करी=तिरस्कृत करने वाली; कुशस्थली=द्वारका; पुण्य=पुण्य; यशस्करी=प्रसिद्ध; भुवः=पृथ्वी लोक में, पश्यन्ति=देखते हैं; नित्यम्=सतत, यत्=जिसे, अनुग्रह-ईषितम्=कृपा करने के लिये; स्मित-अवलोकम् =अत्यन्त मधुर मुस्कान चितवन द्वारा, स्वपतिम्=अपने स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण को; स्म=देखते थे, यत्-प्रजा=स्थान के निवासियों का।

अनुवाद

अहो! आश्चर्य है; कि द्वारका ने स्वर्गीय लोकों की महिमा पर भी विजय प्राप्त कर पृथ्वी की कीर्ति का दिग्दिगन्त मे विस्तार कर दिया है।द्वारका निवासी निरन्तर सम्पूर्ण जीवों के आत्मा भगवान् श्रीकृष्ण का अत्यन्त प्रेममय स्वरूप में दर्शन करते रहते है। वे भी उन्हें देखते हैं तथा मधुर मुस्कान के द्वारा अपनी कृपा की मानों वर्षा करते रहते है।

तात्पर्य

स्वर्गीय लोक इन्द्र, चन्द्र, वरुण, वायु आदि अनेक देवगणों द्वारा आकीर्ण

है। पृथ्वी पर अनेक पुण्य कर्म किये हुए सदाचारी जीव वहाँ पहुँचा करते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक भी यह बात स्वीकार करते है कि उच्च लोकों में काल व्यवस्था पृथ्वी से पृथक् है। धर्मग्रन्थों के अनुसार वहाँ जीवन की अवधि हमारे कालमान के अनुसार १०,००० वर्षों की है। पृथ्वी का ६ मास स्वर्गीय लोकों के एक दिन के तुल्य है। इसी भाँति सुखोपभोग की सुविधाएँ भी अधिक मात्रा में है। वहाँ के निवासियों का सौन्दर्य भी अनुपम है। पृथ्वी के सामान्य व्यक्ति स्वर्गीय लोकों में पहुँचने के उत्कट अभिलाषी हैं, क्योंकि उन्हें यह पता चल गया है कि वहाँ अधिक सुख-सुविधाएँ है। इसीलिए उच्चातिउच्च लोकों पर वायुयान द्वारा पहुँचने की आयोजनाएँ हो रही हैं। सब प्रकार से विचार करने पर स्वर्गीय लोकों की समृद्धि अपार है। परन्तु द्वापर के अन्तिम चरण में पृथ्वी की समृद्धि एवं कीर्ति ने समस्त लोंकों को तिरस्कृत कर दिया था। क्योकि भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकापुरी में विराजमान थे। समग्र पृथ्वी मण्डल उनके शासन के अन्तर्गत था। श्रीवृन्दावन, मथुरा एव द्वारका ये तीनो स्थल ब्रह्माण्ड के समस्त प्रख्यात लोकों मे अधिक विख्यात हैं। ये स्थल सदा सदा से सदा के लिए पावनतम रहे आते है। क्योंकि जब भी भगवान् पृथ्वी पर पधारते हैं वे इन्ही तीनों स्थलों पर अपनी दिव्य क्रीड़ाओं का प्रकाश विकीरित करते है। भगवान् की इस पावन लीला भूमि में समस्त मानव दूर-दूर से आ आकर अपनी भक्ति निवेदित करते है। तथा उनकी कृपा लाभ से समृद्ध होकर वापस लौटते है। भगवान् सम्पूर्ण प्राणिमात्र के आत्मा हैं तथा वे सदैव यह चाहते है, कि जीव अपना सहज स्वरूप प्राप्त करे, जो दिव्य वृन्दावन में भगवान् का नित्यदास है। उनका आकर्षक स्वरूप एवं मधुर मुस्कान किन्ही के भी हृदय को घायल कर जाती है और ज्यों ही यह घटना घटती है त्यो ही जीव भगवद्धामोन्मुख होने से रुक नही सकता। भगवद्धाम से पुनः आवर्तन नही होता। भगवद्गीता यही कहती है।

स्वर्गीय लोक भौतिक सुखो की उच्चतम सुविधाएँ प्रदान करने में भले ही अद्वितीय हो, पर भगवद्गीता ६-२०.२१ हमे बतलाती है कि ज्यों ही अर्जित पुण्यों की समाप्ति हुई त्यों ही हमे पुनः वहाँ से पतित होना पडेगा। निश्चित ही द्वारका स्वर्गीय लोकों से अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि जो भी भगवान् की मधुर मुस्कान से अनुगृहीत हुआ, उसे पुनः इस क्लेश-संकुल भौतिक जगत मे लौटकर नही आना पड़ेगा। केवल यह पृथ्वी ही नहीं अपितु समस्त लोक-लोकान्तर भी दु:ख-समाकुल है। क्योकि किसी

भी ग्रह में अमर जीवन, नित्य-सुख एव नित्य-ज्ञान नही है। कोई भी व्यक्ति जो भगवान् की प्रेममयी सेवा मे संलग्न है वह द्वारका, मथुरा अथवा वृन्दावन मे वास प्राप्त करता है। क्योकि इन तीनो स्थलो में की गई भगवत्सेवा अति महत्वपूर्ण होती है। वे अद्भुत रूप से विस्तृत हो जाती है, अक्षय हो जाती है। जो व्यक्ति धर्मशास्त्रों में वर्णित शिक्षाओ के अनुसार यहाँ निवास करते है वे ठीक वही फल प्राप्त कर लेते है जो साक्षात् भगवान् कृष्ण की उपस्थिति मे हो सकता था। उनका धाम और वे स्वय, अभिन्न है। और सद्गुरु के मार्गदर्शन मे भक्त आज भी ठीक वही फल प्राप्त कर लेता है जो श्रीकृष्ण के साथ सम्भव हो सकता था।

[२८]

नूनं व्रतस्नानहुतादिनेश्वरः
समर्चितो ह्यस्य गृहीतपाणिभिः।
पिबन्ति याः सख्यधरामृतं मुहु
र्व्रजस्त्रियः सम्मुमुहुर्यदाशयाः॥

नूनम्=निश्चित ही सचमुच; व्रत=व्रत, स्नान=स्नान, हुत=यज्ञ में आहुति; आदिनः=इन सबके द्वारा; ईश्वर.=भगवान् का; समर्चित=भलीभाँति पूजा किया, हि=निश्चित ही; अस्य=इसका, गृहीत-पाणिभि:=विवाहिता पत्नियो द्वारा, पिबन्ति=आनन्द लेते है, याः=वे जो, सखि=हे मित्र; अधर-अमृतम्=चुम्बन का आनन्दानुभव रूपी अमृत; मुहु=पुन -पुन ; व्रज-स्त्रिय.=व्रजभूमि की नव यौवनाएँ; सम्मुमुहुः=प्राय. मूर्छित, यत्-आशयाः=उसी प्रकार प्रियतम के प्रेम की अभिलाषा से।

अनुवाद

हे सखियो, निश्चित ही इन्होने जिनका पाणिग्रहण किया है, उन राज कन्याओ ने न जाने कौन से व्रत, स्नान, यज्ञ आदि के द्वारा भगवान् का पूजन किया है; जिसके फलस्वरूप ये भगवान् श्रीकृष्ण के ओष्ठ-पुटो का मधुमय अमृत पान करते है। जिसका स्मरण करते ही व्रजभूमि

की गोपाङ्गनाएँ विह्वल एवं प्रेमोन्मत्त होकर प्रेमवैचित्य में आत्मविस्मृत हो जाती है।

तात्पर्य

धर्मशास्त्रो मे प्रतिपादित धार्मिक नियम आश्रित जीव की भौतिक भावापन्न मन:स्थिति के परिशोधन का एक उपाय है। उससे जीव क्रमश भगवान् की प्रेममयी सेवा करने की योग्यता प्राप्त करता है इस प्रकार का विशुद्ध अप्राकृत जीवन जीव का सहज स्वरूप है, तथा यही जीवन की आत्यन्तिक परिपूर्णता भी है, स्वरूप-प्राप्ति की पूर्णावस्था मे जीव प्रेममयी सेवा के पाँच स्तरों में प्रतिष्ठित हो जाता है, जिनमे से एक स्तर माधुर्य रस है। भगवान् स्वयं सदा सर्वत· परिपूर्ण है। उन्हें किसी भाँति कोई स्पृहा नही है। और न ही कोई आग्रह है। इसलिये वे स्वामी, मित्र, पुत्र या पति बनकर भक्त की तीव्र भक्ति को सदा अन्तिम स्पर्श देकर परिपूर्णता प्रदान करते है। यहाँ भगवान् के माधुर्य-भाव के दो प्रकार के भक्तो का वर्णन हुआ है। प्रथम स्वकीया तथा द्वितीय परकीया। वे दोनो ही भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति माधुर्य प्रेम का सम्बन्ध रखते हैं। द्वारका की महारानियाँ स्वकीया थी। विधिवत् पाणिगृहीता थी परन्तु व्रज की गोपाङ्गनाएँ अविवाहिता थी, एव भगवान् की प्रेयसी थी। भगवान् ने वृन्दावन में ग्यारह वर्षो तक निवास किया। तथा व्रजाङ्गनाओ के साथ उनका प्रेयसी सम्बन्ध का परकीया भाव रहा इन व्रजाङ्गनाओं तथा महारानियो ने भी अनेक तीव्र व्रत एव तपश्चर्याएँ की थी। उन्होने तीर्थो में स्नान किया, यज्ञ किया, धर्मशास्त्रों के अनुसार नियमों का पालन किया, तथा उनके पुण्यो का लक्ष्य न तो भौतिक सुख रहा और न ज्ञान को उपलब्धि और न योग की सिद्धियाँ। इसके विरुद्ध उन सवके पुण्यों का एकमात्र परम लक्ष्य भगवान् की प्रेममयी सेवा ही रही। प्रत्येक जीव भगवान् की प्रेममयी सेवा मे अपना नित्य सहज स्वरूप प्राप्त करता है। उपरोक्त पाँच भावों मे से किसी भी एक भाव की प्राप्ति करनी होती है। तथा भगवान् एव भक्तो के बीच जो प्रेम अभिव्यक्त होता है वह वाह्य दृष्टि से सासारिक सा प्रतीत होते हुये भी सासारिकता के लेश से भी सर्वथा मुक्त होता है। वह सर्वथा दिव्य एव पावनतम होता है। भगवान् के माधुर्य भाव की लीला में महारानियो या व्रजाङ्गनाओ के मध्य गहनतम प्रेम की प्रगाढ़ता मे जो चुम्वन की घटना घटी, वह विकृत कामवासनात्मक भौतिक-गुणों युक्त

कदापि न थी। यदि ऐसा होता तो श्रीशुकदेव गोस्वामी एवं श्री चैतन्य महाप्रभु की भाँति परम विरक्त महान्-पुरुष कभी भी उन लीलाओं का आस्वादन नही करते। वास्तव में भगवत् ससर्ग एवं सस्पर्श अनेक जन्मों की तीव्र तपश्चर्याओ का परम-फल है।

[२९]

या वीर्यशुल्केन हृताः स्वयंवरे
प्रमथ्य चैद्यप्रमुखान् हि शुष्मिणः।
प्रद्युम्न साम्बाम्ब सुतादयोऽपरा
याश्चाहृता भौमवधे सहस्रशः॥

या=जो नारियाँ, वीर्य=पराक्रम, शुल्केन=शुल्क के द्वारा; हृताः =बलपूर्वक अपहरण, स्वयम्वरे=स्वयम्वर सभा मे, प्रमथ्य=मथकर, पराजित कर; चैद्य=राजा शिशुपाल, प्रमुखान्=प्रधान, हि=निश्चित ही; शुष्मिणः=महान् शक्तिशाली; प्रद्युम्न=श्रीकृष्ण पुत्र प्रद्युम्न; साम्ब=श्री कृष्ण पुत्र साम्ब, अम्ब=अम्ब, सुत-आदय=पुत्र आदि; अपरा=अन्य महिलाये, याः=वे; च=भी, आहृता=उसी भाँति लायी गयी, भौम वधे= भौमासुर के वध के अनन्तर, सहस्रश =हजारो।

अनुवाद

प्रद्युम्न, साम्ब, अम्ब आदि उनके पुत्र है। तथा रुक्मिणी, सत्यभामा. जाम्बवती आदि उनकी पत्नियाँ है। जिन्हे उन्होने शिशुपाल आदि अत्यन्त शक्ति-सम्पन्न योद्धाओं को परास्त कर अपनी पत्नी होने का सौभाग्य प्रदान किया था। तथा उन्होंने भौमासुर आदि सहस्त्रों दैत्यो का सहार करने के पश्चात् पराक्रम के शुल्क पर भी अन्य सहस्त्रो कन्याओ से विवाह किया था। वे समस्त अत्यन्त धन्य है।

तात्पर्य

कुछ विशिष्ट महाराजाओं की विशिष्ट सौन्दर्य एव प्रतिभासम्पन्न

कन्याओं को उन्मुक्त प्रतियोगिता में अपने लिये वर चयन करने की स्वतन्त्रता दी गयी थी। तथा ऐसे कार्यक्रम स्वयवर कहलाते थे। क्योंकि ऐसी प्रतियोगिताएँ साहसी एवं वीर राजकुमारों के लिये एक चुनौतियाँ होती थी। तथा राजकुमारियों के पिता उन्हे निमन्त्रित्त करते थे। स्वाभाविक ही निमन्त्रित राजकुमारों मे युद्ध हो जाता था। तथा इन विवाह-युद्धों में जो विजयी होता था वही राजकुमारी का पति होता था। भगवान् की पट्ट-महिषी महारानी रुक्मिणी विदर्भ देश के अधिपति महाराज भीष्मक की कन्या थी। भीष्मक की अभिलाषा थी कि उनकी सुन्दरी एवं गुणवती कन्या भगवान् कृष्ण को समर्पित हो। परन्तु उनके बड़े पुत्र रुक्मी ने इसका विरोध किया तथा उसने अपनी बहिन का विवाह राजा शिशुपाल से करना चाहा। जो श्रीकृष्ण के ममेरे भाई थे। इस प्रकार वहाँ एक खुली प्रतियोगिता थी, तथा उस महान् विवाह-युद्ध में भगवान् श्रीकृष्ण ने शिशुपाल सहित समस्त राजकुमारों को परास्त कर रुक्मिणीदेवी का पाणिग्रहण किया। रुक्मिणी से उनके प्रद्युम्नादि दस पुत्र हुये। इसी भाँति बहुत सी राजकन्याओं का भगवान् श्रीकृष्ण ने पराक्रम का सार्वजनिक प्रदर्शन कर विवाह किया। जिसका अत्यन्त सुन्दर एवं सजीव चित्रण श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में किया जायगा। सोलह हजार एक सौ सुन्दरी राजकन्याएँ थीं वे अनेक देशों के राजाओं की कन्याएँ थीं। तथा भौमासुर के द्वारा बल पूर्वक उनका अपहरण किया गया था। उसने बीस हजार की सख्या होने पर उन्हें विवाह की इच्छा से कैद कर रखा था। इन कन्याओ ने अपने उद्धार के लिये भगवान् श्रीकृष्ण से अत्यन्त करुणाजनक प्रार्थना की थी। उनकी इस विह्वल प्रार्थना ने भगवान् श्रीकृष्ण को निमन्त्रित किया। उन कृपामय भगवान् ने स्वयं पधार कर भौमासुर से युद्ध किया। उस युद्ध मे भौमासुर मारा गया। तत्पश्चात् उन राजकन्याओं के लिये समाज का द्वार सब ओर से बन्द हो गया था। परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण ने उनसे विवाह कर उनके लिये भगवद्धाम का मार्ग उन्मुक्त कर दिया। यद्यपि तत्कालीन समाज-व्यवस्था में वे पतित-कन्याएँ थी, तथापि सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण ने संसार के समक्ष अपने हृदय की विशालता का परिचय देते हुये उनसे विवाह कर लिया। इस प्रकार द्वारका में भगवान् श्रीकृष्ण की सोलह हजार एक सौ आठ महारानियाँ हो गयी; तथा उनमें से प्रत्येक के बहुत सी सन्ततियाँ भी हुईं। कालान्तर मे उनके सम्पूर्ण परिवार के सदस्यों की सख्या १००००००० हो गयी।

[३०]

एताः परं स्त्रीत्वमपास्तपेशलं
निरस्तशौचं बत साधु कुर्वते ।
यासां गृहात्पुष्करलोचनः पति-
र्नजात्वपैत्याहृतिभिर्हृदि स्पृशन् ॥

एता:=ये सब कन्यायें; परम=सर्वोच्च, स्त्रीत्वम्=स्त्रीत्व, अपास्तपेशलम्=बिना व्यक्तित्व के, निरस्त=रहित; शौचम्=पवित्रता, बत-साधु=विशिष्ट रूप से महिमान्वित; कुर्वते=करते है, यासाम्=जिनका; गृहात्=घर से; पुष्कर लोचनः=कमल जैसे नैनो वाले, पतिः=पति; न-जातु=किसी समय नही; अपेति=बाहर जाते है, आहृतिभि:=उपहारों द्वारा; हृदि=हृदय को, स्पृशन्=स्पर्श करने वाले ।

अनुवाद

इन समस्त नारियों ने अमहत्वपूर्ण एव अपवित्र होते हुए भी साक्षात् कमललोचन भगवान् को अपने पति के रूप मे प्राप्त कर सहज भाव से जीवन का परम लाभ प्राप्त कर लिया। वे निरन्तर उनके सग बने रहते है, तथा भगवान् नाना प्रकार के बहुमूल्य उपहार प्रदान कर सदा सर्वदा उनके हृदय के प्रेम का सम्मान करते रहते है।

तात्पर्य

भगवान् के भक्त सदा परिमार्जित अन्तःकरण युक्त होते हैं। ज्यों ही भक्त निष्कपटतापूर्वक भगवच्चरणों में समर्पित होता है, त्यो ही भगवान् उन्हे स्वीकार कर लेते है, और इस प्रकार भक्त तत्क्षण भौतिक आसक्तियो से छुटकारा पा जाता है। ऐसे भक्त सदा त्रिगुणातीत होते है। भक्तो में कोई भी शारीरिक अयोग्यताये नही होती। जैसे गन्दे नाले का गन्दा जल गंगा के पवित्र जल में मिल जाने के पश्चात् गंगाजल ही हो जाता है। उन दोनों में कोई अन्तर नही होता, उसी भांति भक्त भी गुणात्मक रूप से भगवान् से एक होता है। स्त्रियाँ, वैश्य तथा शूद्र प्राय: बुद्धि प्रधान नही होते है अतएव भगवद्विज्ञान को हृदयङ्गम कर उनको प्रेममयी सेवा मे

सलग्न होना उनके लिये अत्यन्त दुरूह है। वे प्रायः भौतिकवादी होते हैं तथा उनसे भी अधिक निम्नस्तरीय किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कंङ्क यवन एवं खस आदि हैं। परन्तु ये सभी यदि भगवान् की प्रेममयी सेवा मे सलग्न हों तो अपनी पतितावस्था से त्राण पा सकते है। एवं भगवद्धाम प्रवेश की सम्भावना निर्मित हो सकती है।

भौमासुर के विशेष कारागार में बन्दी की गयी उन कन्याओं ने भगवान् श्रीकृष्ण से निष्कपटता पूर्वक करुण हृदय से प्रार्थना की और उनके हृदय के इस विगलन ने पवित्र कर उन्हे प्रेममयी सेवा का अधिकारी बना दिया। और इस प्रकार भगवान् ने उन्हे अपनी पत्नी बना लिया। उनका जीवन धन्य-धन्य हो उठा। यह जीवन तब और महिमान्वित हो उठा जब भगवान् ने उनके साथ एक अत्यन्त अन्तरङ्ग पति का सा व्यवहार किया। जब वे कही बाहर जाते तो लौटते हुए उनके लिये उपहार लेते आते।

भगवान् ने एक ही साथ सोलह हजार एक सौ आठ रानियों के साथ स्वय को सोलह हजार एक सौ आठ रूपों मे विस्तीर्ण कर लिया था। उनमें से प्रत्येक मौलिक भगवान् कृष्ण से बिना किसी अन्तर के साक्षात् भगवान् ही थे। इसीलिये श्रुति ने भगवान् की इस "एकोऽहं बहु स्याम" की लीला का गान गाया है।

चूँकि वे बहुत सी पत्नियों के पति थे वे नाना प्रकार के उपहारों द्वारा उन्हे प्रसन्न किया करते थे। उन्होने स्वर्ग से पारिजात वृक्ष लाकर सत्यभामा की बगिया मे लगाया। इस प्रकार वे सदा अनेक उपहार प्रदान करते रहते थे, इससे यह सिद्ध होता है कि जो व्यक्ति भगवान् को पति भाव से उपासना करता है भगवान् उसकी इच्छाओं को भी पूर्ण किया करते है।

[३१]

एवंविधा गदन्तीनां स गिरः पुरयोषिताम्।
निरीक्षणेनाभिनन्दन् सस्मितेन ययौ हरिः॥

एवं विधा=इस प्रकार; गदन्तीनाप्=प्रार्थना एवं वार्तालाप करते हुए, स=वे भगवान्; गिर.=वाणी; पुरयोषिताम्=राजधानी की महि-

लाओं को, निरीक्षणेन=स्नेह भरी दृष्टि से देखकर, अभिनन्दन=उनका अभिनन्दन किया, सस्मितेन=मन्द मुस्कान युक्त मुख कमल द्वारा, ययौ=प्रस्थान किया, हरि =भगवान् ।

अनुवाद

जब हस्तिनापुर की नागरिकाएँ इस प्रकार मधुर वाणी से वार्तालाप करती हुई भगवान् का स्वागत कर रही थी, तो भगवान् ने एक मन्द मुस्कान के द्वारा उनका स्वागत स्वीकार करते हुये प्रसन्नता पूर्वक उनकी ओर दृष्टिपात किया तथा नगर से प्रस्थान किया ।

[३२]

अजातशत्रुः पृतनां गोपीथाय मधुद्विषः ।
परेभ्यः शङ्कितः स्नेहात्प्रायुङ क्त चतुरङ्गिणीम् ।।

अजात-शत्रु.=महाराज युधिष्ठिर, जिनके कोई भी शत्रु नही, पृतनाम्=सुरक्षा-सेनाएँ, गोपीथाय=सुरक्षार्थं, मधु-द्विष =मधु दैत्य के सहारक भगवान् श्रीकृष्ण, परेभ्य -दूसरों से शत्रुओं से; शङ्कितः=आशङ्कित होकर, स्नेहात्=प्रगाढ स्नेह से; प्रायुँक्त=सलग्न किया, चतुरङ्गिणीम्=चतुरङ्गिणी सेना ।

अनुवाद

महाराज युधिष्ठिर यद्यपि अजातशत्रु थे, उनके कोई शत्रु नही थे; तथापि उन्होने भगवान् श्रीकृष्ण की सुरक्षा के लिये (घोड़े हाथियों, रथो एव पैदल सैनिकों की) एक चतुरङ्गिणी सेना साथ भेजी। इसका कारण उनका भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति गहन प्रेम ही था ।

तात्पर्य

मानव की सामान्य सुरक्षा का साधन चतुरङ्गिणी सेना है ।

सम्मिलित घोड़े एवं हाथी कैसे भी पर्वत, वन, अथवा मैदान मे यात्रा करने के अभ्यस्त होते थे । एक रथारोही वीर अनेक घोडो हाथियों पर सवार वीरों से युद्ध कर सकता था । वह ब्रह्मास्त्र, जो कि आजकल के अणु-अस्त्र के समकक्ष भयानक था, से भी सामना कर सकता था । महाराज युधिष्ठिर भली भाँति जानते थे, कि श्रीकृष्ण सभी के मित्र एवं शुभचिन्तक है, तथापि क्योंकि असुर भगवान् के स्वाभाविक ईर्ष्यालू थे, अतएव उनके आक्रमण की आशङ्का से उनके प्रति गहन स्नेह के कारण ही उन्होने भगवान् श्रीकृष्ण की सुरक्षा मे अनेक प्रकार की सैन्य शक्ति की व्यवस्था की । यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण आवश्यकता पडने पर महान् योद्धाओ से टकराने एवं उन पर विजय प्राप्त करने में पूर्ण समर्थ थे, तथापि उन्होने महाराज युधिष्ठिर के स्नेह भाव का सम्मान करते हुये उनकी व्यवस्था, आयोजना स्वीकार की भगवान् अपनी दिव्य क्रीडाओं के अन्तर्गत स्वय को असमर्थ एवं निर्भर सा प्रदर्शित करते हुये एक असहाय शिशु का सा नाट्य करते हुये माता यशोदा की गोद में छिप जाते थे । वह भगवान् की चिन्मयी दिव्य लीला है, वह जो भगवान् एव उनके भक्तो के मध्य प्रेम का आदान-प्रदान है उसका अभिव्यक्तीकरण ऐसा दिव्य, ऐसा आनन्दोन्मादमय है, कि उसकी कोई तुलना नही है । यहाँ तक कि ब्रह्मानन्द भी उसके समक्ष तुच्छ प्रतीत होता है ।

[३३]

अथ दूरागतान् शौरिः कौरवान् विरहातुरान् ।
संनिवर्त्य दृढं स्निग्धान् प्रायात्स्वनगरीं प्रियैः ।।

अथ=इस प्रकार, दूर-आगतान्=उनके साथ दूर तक चले आने के अनन्तर, शौरिः=भगवान् श्रीकृष्ण, कौरवान्=महाराज कुरु के वश मे उत्पन्न होने वाले पाण्डव, विरहातुरान्=उनके विरह से व्याकुल, संनिवर्त्य=लौटाया, दृढम्=दृढ; स्निग्धान्=प्रेमपूर्ण; प्रायात्=आगे बढ़े; स्वनगरीम्=अपनी नगरी द्वारका की ओर, प्रियैः=अपने प्रिय पार्षदों के साथ ।

अनुवाद

भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति प्रवल प्रेमवश पाण्डवादि कुरुवंशी भगवान्

श्रीकृष्ण के साथ बहुत दूर तक चलते रहे। वे भावी-वियोग के विचार से अत्यन्त व्यथित हो रहे थे। भगवान् ने किसी भाँति आग्रह पूर्वक उन्हें गृह वापस लौटाया तथा उन्होने स्वय अपने अन्तरङ्ग पार्षदों के साथ द्वारका-पुरी को प्रस्थान किया।

[३४]

कुरुजाङ्गलपाञ्चालान् शूरसेनान् सयामुनान्।
ब्रह्मावर्तं कुरुक्षेत्रं मत्स्यान् सारस्वतानथ॥

[३५]

मरुधन्वमतिक्रम्य सौवीराभीरयोः परान्।
आनर्तान् भार्गवोपागाच्छ्रान्तवाहोमनाग्विभुः॥

कुरुजाङ्गल=दिल्ली के समीपवर्ती प्रदेश; पाञ्चालान्=पञ्जाब के क्षेत्र, शूरसेनान्=उत्तर प्रदेशके पश्चिमी क्षेत्र, स=से; यामुनान्=यमुनातट-वर्ती सुरम्य प्रदेश; ब्रह्मावर्तम्=उत्तर प्रदेश का उत्तरीय क्षेत्र, कुरुक्षेत्रम्=कुरुक्षेत्र के निकटवर्ती स्थल, मत्स्यान्=मत्स्य प्रान्त; सारस्वतान्=पञ्जाब प्रान्त; अथ=और, मरु=मरुभूमि राजस्थान; धन्व=मध्य प्रदेश; अतिक्रम्य=पार करके; सौवीर=सौराष्ट्र, आभीरयोः=गुजरात के भाग; परान्=पश्चिमी विभाग, आनर्तान्=द्वारका का प्रान्त, भार्गव=सरस्वती नदी; उपागात्=पहुँच कर; श्रान्त=थके हुए; वाहः=घोड़े; मनाक्-विभुः=लम्बी यात्रा के कारण शिथिल हुए।

अनुवाद

हे शौनक जी, इसके अनन्तर भगवान् ने कुरुजाङ्गल पाञ्चाल शूरसेन तथा यमुना तटवर्ती प्रदेशों की ओर तथा ब्रह्मावर्त, कुरुक्षेत्र, मत्स्य, सार-स्वत, मरु तथा धन्व आदि प्रदेशों की ओर यात्रा की। इन समस्त प्रदेशों को पार करने के उपरान्त वे क्रमशः सौभीर एवं आभीर प्रदेशों में आ पहुँचे, वहाँ से वे पश्चिम की ओर मुड़े तथा अन्त में वे द्वारकापुरी आ पहुँचे।

तात्पर्य

भगवान् के द्वारा यहाँ जिन-जिन प्रदेशों के पार करने का वर्णन आया है। उनके आज से भिन्न अन्य नाम है; परन्तु उनकी दिशाएँ जो वर्णित हुई है वे पर्याप्त सकेत करती है कि उन्होने दिल्ली, पजाब, राजस्थान, मध्यप्रदेश, सौराष्ट्र, गुजरात की यात्रा करते हुए अन्त मे द्वारकापुरी पहुँचे थे। हम आज उन प्रदेशों के सदृश, स्थलो का अन्वेषण करे तो उससे कोई लाभ न होगा, किन्तु ऐसा दृष्टिगोचर होता है कि राजस्थान की मरुभूमि एव मध्यप्रदेश की अल्प जल वाली भूमि पाँच हजार वर्ष पूर्व भी ऐसे ही विद्यमान थी। भूमि विशेषज्ञों के सिद्धान्त जो वर्तमान काल में विकसित हुये है। वे भागवत के सहायक नही है। हम भूगर्भवेत्ताओं के तथ्यों को छोडते है। क्योंकि उनमे कोई गहराई नही है। विश्व में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। और उनका यह परिवर्तन जैविक तथा भौगोलिक विकास मे पर्याप्त परिवर्तन उपस्थित करता है। हम तो इसी से सन्तुष्ट है कि भगवान् अब अपने प्रदेश पहुँच गये है। वे कुरु प्रदेशो से द्वारका धाम पहुँच गये हैं। कुरुक्षेत्र वैदिक काल मे भी अवस्थित था, उस काल मे भी इसकी सत्ता थी, और इसलिये प्राचीन काल मे कुरुक्षेत्र की सत्ता अस्वीकार करना अत्यन्त मूर्खतापूर्ण सिद्ध होगी।

[३६]

तत्र तत्र ह तत्रत्यैर्हरिः प्रत्युद्यतार्हणः।
सायं भेजे दिशं पश्चाद्गविष्ठो गां गतस्तदा ॥

तत्र तत्र = विभिन्न स्थलों मे, ह = ऐसा, तत्रत्यै = स्थानीय नागरिकों द्वारा, हरि. = भगवान्; प्रत्युद्यत् अर्हण. = उपहार एवं विभिन्न सामग्रियो से पूजन किया; सायम् = सायकाल, भेजे = पहुँच कर, दिशम् = दिशा को; पश्चाद् = पूर्व की ओर, गविष्ठ. = आकाश मे सूर्य, गाम् = समुद्र की दिशा को, गत. = चले गये, तदा = उस समय।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण जिन-जिन प्रान्तो से यात्रा करते थे, वहाँ-वहाँ के

निवासियों एवं राजाओं द्वारा अभिनन्दित होते थे। वहाँ के नागरिक एवं शासक अनेक प्रकार के उपहारों के साथ उनकी पूजा करते। उनका स्वागत करते थे। भगवान् श्रीकृष्ण यात्रा पथ पर जहाँ सन्ध्याकाल आप उपस्थित होता वही यात्रा स्थगित कर विश्राम एवं सध्या पूजन किया करते थे, यह सूर्यास्त के समय प्रतिदिन किया जाता था।

तात्पर्य

यह कहा गया है कि भगवान् धार्मिक नियमों का प्रतिदिन पालन किया करते थे। कई कल्पनाप्रधान दार्शनिक धारणायें है, जिसमें कहा जाता है कि भगवान् सकाम कर्मियों की परम्पराओ मे से है। परन्तु वास्तव में यह तथ्य नही है। वे कर्म एवं उसके फलो से बंधे नही है, भगवान् अद्वय है, समस्त कार्य उन्ही के द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। वे ही कार्य उनके द्वारा किये जाते है जो सबके लिये समान रूप से लाभदायक हों। परन्तु जब वे धरती पर अवतरित हुए है तो अपने भक्तों की रक्षा करने एवं उनकी चेतना-विकास की सम्पूर्ण व्यवस्था करने के लिये तथा अभक्तों की समाप्ति के लिये वे नाना प्रकार के कर्म किया करते है। यद्यपि उनके लिये अनिवार्यरूपेण किये जाने के लिये कोई निश्चित कर्म नही है। वे कर्मों से बँधे नही हैं। तथापि वे समस्त जगत् के कल्याणार्थ कर्म किया करते है। सामान्य मनुष्य केवल वाचिक उपदेश को स्वीकार नही कर सकते। भगवान् स्वयं सकाम कर्मो के फलो के प्रदाता है। वे आत्माराम है। आप्त काम हैं। तथापि वे प्रसिद्ध धर्मग्रन्थों के अनुसार नाना प्रकार के कर्म किया करते है। ताकि समस्त जगत उनकी शिक्षाओं का अनुगमन कर सके। यदि भगवान् ऐसे लोक शिक्षार्थ कर्म नहीं करे तो सामान्य मनुष्य उन कर्मों को नही करते जो अन्त करण की शुद्धि के लिये परमावश्यक है। उनके न करने से जीव विकास-पथ से च्युत हो जाते हैं, पतित हो जाते है और इस प्रकार जीवन में दु खों की परम्परा चल पडती है। कुकर्मों का एक दुश्चक्र निर्मित हो जाता है और दु.खों की सीमा नही रहती। भगवान् करुणावश ही उनके विकास का मार्ग प्रशस्त करने के लिये नाना प्रकार के कर्म करते है। जो भगवान् के जन्म एवं कर्मो के स्वरूप के रहस्य का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब वह परम आनन्द को उपलब्ध हो जाता है।

भगवान् मानव समाज मे प्राय: वही कर्म करते है जो सभी व्यक्तियों के लिये आवश्यक कर्तव्य हैं। परन्तु कभी-कभी वे असाधारण कर्म भी .

करते है, जो सामान्य जीव के लिये कदापि अनुकरणीय नही है। वे प्रत्येक सायं संध्या किया करते थे। उनके संध्या करने की लीला अवश्य ही जीव मात्र के लिये अनुकरणीय है परन्तु उनकी गोवर्धन धारण लीला या गोपियों के साथ रासलीला कदापि अनुकरणीय नही है। कोई भी व्यक्ति सूर्य का अनुकरण नही कर सकता। कोई भी व्यक्ति गन्दी जगह से जल शुष्क कर सकता है, जल का शोषण कर सकता है, उसे सुखा सकता है, अधिक शक्तिशाली व्यक्ति महान् कार्य कर सकते है परन्तु भगवान् के असाधारण कार्यो का हमारे द्वारा अनुकरण हमें अनन्त कष्टोंमे डाल देने वाला है। इसलिये सभी कार्यो के प्रारम्भ करने मे अनुभवी धर्म गुरु के मार्गदर्शन की आवश्यकता है जो भगवान् की कृपा के साक्षात् स्वरूप ही है, जिन्होंने जीवन में भगवत्तत्वविज्ञान प्राप्त किया है। जीवन पथ मे यात्रा करने के लिये सदा उनकी सहायता लेनी चाहिये। केवल ऐसा करने से ही उन्नति का पथ प्रशस्त होना सम्भव हो सकेगा।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत प्रथम स्कन्ध दशम् अध्याय "भगवान् श्रीकृष्ण का द्वारका को प्रस्थान" नामक शीर्षक पर भक्तिवेदान्त टीका समाप्त हुई।

एकादश अध्याय

भगवान् कृष्ण का द्वारका प्रवेश

[१]

सूत उवाच

आनर्तान् स उपव्रज्य स्वृद्धाञ्जनपदान् स्वकान् ।
दध्मौ दरवरं तेषां विषादं शमयन्निव ।।

सूतः उवाच=श्रीसूत गोस्वामी बोले, आनर्तान्=द्वारका के समीपवर्ती प्रदेश, स= वे; उपव्रज्य =सीमा पर पहुँचकर, स्वृद्धान्=अत्यन्त-समृद्ध; जनपदान्=शहर; स्वकान्=अपने; दध्मौ=बजाय; दरवरम्=अत्यन्त मङ्गलमय पाञ्चजन्य शङ्ख, तेषाम्=उनके ; विषादम्=विषाद (दु.ख); शमयन्=शान्त करते हुए; इव=सदृश ।

अनुवाद

सूत गोस्वामी बोले—भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी अत्यन्त समृद्ध नगरी द्वारका की सीमा पर पहुँचकर, वहाँ के निवासियो के हृदय से अपने वियोग का विषाद मिटाते हुए अपना पाञ्चजन्य शङ्ख बजाया ।

तात्पर्य

परम प्रियतम भगवान् अपनी ऐश्वर्यशालिनी नगरी द्वारका से

कुरुक्षेत्र के युद्ध के कारण पर्याप्त समय तक वाहर थे। अतः नगर निवासी-गण उनके पुण्य दर्शनों के अभाव से विरह-पीडित हो रहे थे। जव भगवान् पृथ्वी पर अवतीर्ण होते है तो उनके नित्य पार्षद भी उनके साथ आते है, ठीक उसी भाँति जैसे राजा के साथ उनके सैन्य चला करते है। भगवान् के ऐसे नित्य-पार्षद नित्य-मुक्त जीव होते है। तथा उन्हें अपने हृदय मे भगवान् के प्रति महान् प्रेम सँजोये रहने के कारण उनका क्षण भर का विरह भी असह्य हो जाता है। इस प्रकार द्वारका नगरी के निवासी अत्यन्त विषादग्रस्त थे। वे अनुक्षण भगवान् के आगमन की प्रतीक्षा करते रहते थे। अतः जव उन्होंने भगवान् की परम मङ्गलमयी शङ्खध्वनि सुनी तो वे अत्यन्त हर्ष विभोर हो उठे। उस ध्वनि ने उनका विषाद मानो तत्क्षण शान्त कर दिया। तथापि वे भगवान् को शीघ्र अपने मध्य देखने के लिए अत्यन्त उत्सुक हो उठे। वे सवके सव एक साथ विशाल समारोह पूर्वक उनका स्वागत करने के लिए व्याकुल होकर उठ दौड़े, यही भगवत्प्रेम का सहज स्वाभाविक लक्षण है।

[२]

स उच्चकाशे धवलोदरो दरो-
ऽप्युरुक्रमस्याधरशोणशोणिमा ॥
दाध्मायमानः करकञ्जसम्पुटे
यथाब्जखण्डे कलहंस उत्स्वनः ॥

सः=वह; उच्चकाशे=प्रकाशित हो उठे; धवलोदरः=जिनका मध्यभाग अत्यन्त शुभ्र था, दर.=शङ्ख, अपि=यद्यपि, उरुक्रमस्य=भगवान् उरुक्रम का, अधर-शोण=उनके ओष्ठपुटो के दिव्य गुणो द्वारा; शोणिमा= लालिमा, दाध्मायमानः=वजाये जाने पर, करकञ्ज-सम्पुटे=उनके कर-कमलो के सम्पुट में अवस्थित, यथा=जैसे, अब्ज-खण्डे=कमल पुष्प के मध्य मे, कलहस=हस; उत्स्वनः=उच्च स्वर से गुञ्जायमान।

अनुवाद

श्वेत एवं स्थूल भगवान् श्रीकृष्ण का पाञ्चजन्य शङ्ख उनके करतलों मे स्थापित होकर उनके द्वारा वजाये जाने पर, उनके दिव्य ओष्ठपुटो से

लगकर वैसा ही सुशोभित हो उठा, जैसे श्वेत राजहंस लाल कमल के भीतर प्रवेश कर क्रीड़ा कर रहा हो।

तात्पर्य

भगवान् के ओष्ठपुटों से स्पृष्ट हुई शङ्ख की अरुणिमा आध्यात्मिक अप्राकृत विकास की महानता का प्रतीक है। भगवान् सर्वथा दिव्य है, आत्मा हैं तथा पदार्थ उनके अप्राकृत अस्तित्व के अज्ञान से दृष्टिगोचर होता है और तब तत्क्षण ही अप्राकृत प्रकाश की प्रखरता चहुँ दिशि व्याप्त हो जाती है, जब भगवान् श्रीकृष्ण का सस्पर्श प्राप्त होता है। भगवान् श्रीकृष्ण समग्र अस्तित्वके अणु-२मे व्याप्त है और वे अपनी उपस्थिति किन्ही के भी समक्ष प्रगट कर सकते है। तीव्र प्रेम के द्वारा,भक्तिमयी सेवा के द्वारा अथवा भगवान् के दिव्य संस्पर्श के द्वारा समस्त वस्तुयें अप्राकृत रूप से भगवान् के कर कमलों में विद्यमान शङ्ख की भाँति अरुणिम हो उठती है। तथा परमहस उत्कृष्ट प्रज्ञा सम्पन्न व्यक्ति होकर अप्राकृत आनन्द के जल में राजहस की भाँति क्रीड़ा करते है। जो भगवान् के चरण रूपी कमल पुष्प से निरन्तर व्याप्त एवं सुशोभित रहता है।

[३]

तमुपश्रुत्य निनदं जगद्भयभयावहम् ।
प्रत्युद्ययुः प्रजाः सर्वा भर्तृदर्शनलालसाः ॥

तम्=वह; उपश्रुत्य=सुनकर; निनदम्=ध्वनि, जगद्भय=प्राकृत सत्ता का भय; भयावहम्=भयावह; प्रति=प्रति, उद्ययु.=शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़े; प्रजाः=नागरिक गण, सर्वाः=सब; भर्तृ=रक्षक; दर्शन=देखने की, लालसाः=आकाक्षा के साथ।

अनुवाद

ज्यों ही द्वारका के नागरिकों ने भौतिक जगत् के मूर्तिमान भय को भी भयभीत करने वाली, भगवान् की वह शङ्खध्वनि सुनी, तो उनका दर्शन प्राप्त करने के लिए वे अत्यन्त तीव्र गति से दौड़ पड़े जहाँ समस्त भक्तों के रक्षक प्रभु विद्यमान थे।

तात्पर्य

पहले सूचित किया जा चुका है कि भगवान् श्रीकृष्ण के समीप निवास करने वाली द्वारका की समस्त प्रजाये मुक्त पुरुष थे जो भगवान् के साथ ही उनके पार्षद रूप में आविर्भूत हुए थे। वे सभी भगवद्दर्शन के लिए अति उत्सुक थे। यद्यपि वे अप्राकृत दृष्टि से उनसे कभी पृथक् नही थे तथापि उनके दर्शनो की लालसा से वे द्रुतगति से दौड़ पड़े। जिस प्रकार वृन्दावन में गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्ण के गोचारणार्थ वन को प्रस्थान करने पर उनके विषय में चिन्तन करती रहती थीं, उसी भाँति द्वारका के नागरिक भी जब श्रीकृष्ण जन कल्याण कार्यवश कुरुक्षेत्र अथवा हस्तिनापुर चले जाते थे, तब वे उन्ही के चिन्तन मे निमग्न रहा करते थे। बङ्गाल के कुछ दन्तकथा लेखक ऐसा कहते हैं कि वृन्दावन के श्रीकृष्ण, मथुरा के श्रीकृष्ण तथा द्वारका के श्रीकृष्ण भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व थे। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इस वक्तव्य मे कोई तथ्य नही है। तथ्य यह है कि कुरुक्षेत्र के श्रीकृष्ण एव द्वारका के श्रीकृष्ण एक ही व्यक्तित्व हैं।

द्वारका के नागरिक भगवान् की अनुपस्थिति में उसी भाँति विषादग्रस्त होकर असहाय अनुभव करते थे जिस भाँति सूर्य की अनुपस्थिति मे, रात्रि के अन्धकार मे हम असहाय हो जाते है। भगवान् की शङ्ख ध्वनि ठीक उसी भाँति थी जैसे प्रभात में सूर्य उदय हो गया हो और सर्वत्र एक आलोक व्याप्त हो गया हो, और द्वारका के समस्त नागरिक श्रीकृष्ण रूपी सूर्य के उदय हो जाने पर वियोग व्यथा रूपी निद्रा से जाग उठे हों तथा उनके दर्शन प्राप्ति के लिए उन्ही की ओर तीव्र गति से दौड़ पड़े हों। भगवान् के भक्त उनके अतिरिक्त और किसी को अपने रक्षक के रूप में नही ले सकते।

भगवान् की शङ्ख ध्वनि भगवान से अभिन्न है, जैसे कि हमने भगवान् की अद्वय अवस्था के द्वारा समझाने का प्रयास किया है। हमारी वर्तमान भौतिक सत्ता चारो ओर से भयो से घिरी हुई है। ये भय ही हमारे सामने समस्याओं के रूप मे उपस्थित होते है। उनमें से चार समस्यायें हमे अधिक पीडित करती है। पहली समस्या है भोजन की, द्वितीय है आवास की, तृतीय है जीवन नाश की, चतुर्थ है काम वासना की। जीवन नाश की समस्या हमे सबसे अधिक पीड़ित करती है। हम सदा नवीन समस्या के

अज्ञान से भयभीत रहे आते है. तथा सम्पूर्ण भौतिक सत्ता अनन्त समस्याओं से परिपूर्ण है और इस प्रकार भय की समस्या का प्रामुख्य सदा बना रहता है इसका एकमात्र कारण भ्रामिका शक्ति से हमारा सयोग है। जो भगवान् की बहिरङ्गा शक्ति अथवा माया कहलाती है। तब सारी समस्याएँ एवं भय तत्काल तिरोहित हो जाते है, ज्योंही भगवान् का प्रतिनिधित्व करने वाला कोई स्वर, कोई ध्वनि हमारे कर्ण-गोचर होती है। जैसे भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु के द्वारा षोडशाक्षर मन्त्र—

हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम, हरे राम, राम राम हरे हरे।।

के रूप में प्रतिध्वनित हुई थी। हमें भौतिक सत्ता के अनेक भय उत्पन्न करने वाली समस्याओं के निदान के लिये इन दिव्य ध्वनियों से लाभ उठाना चाहिये।

[४]

तत्रोपनीतवलयो रवेर्दीपमिवादृताः।
आत्मारामं पूर्णकामं निजलाभेन नित्यदा।।

[५]

प्रीत्युत्फुल्लमुखाः प्रोचुर्हर्षगद्गदया गिरा।
पितरं सर्वसुहृदमवितारमिवार्भकाः।।

तत्र=तत्पश्चात्; उपनीत=लाये गये; वलय:=उपहार; रवे:=सूर्य को; दीपम्=दीप, इव=सदृश; आदृता:=आदर किया; आत्मारामम्=आत्मारामको, निज-लाभेन=आत्म लाभ से; पूर्ण कामम्=पूर्ण सन्तुष्ट को, नित्यदा =निरन्तर वितरित करने वाले; प्रीति=प्रीति; उत्फुल्ल-मुखा:=अत्यन्त प्रसन्न मुखमण्डल वाले को; प्रोचु:=कहा, हर्ष=हर्ष; गद्गद्या=गद्गद् होकर, गिरा=वाणी द्वारा; पितरम्=पिताको; सर्व=सब, सुहृदम्=सुहृद; अवितारम्=अभिभावक को; इव=सदृश, अर्भका=बालक।

अनुवाद

भगवान् के समक्ष पहुँचकर समस्त नागरिको ने उन्हें अपने उपहार अर्पित किये, जो सर्वथा सर्वदा स्वयमेव सन्तुष्ट एवं परिपूर्ण है। तथा अपनी शक्ति से ही समस्त जीवों को निरन्तर उनकी समस्त आवश्यकताएँ वितरित कर रहे है। यद्यपि उनके ये उपहार सूर्य को दीपक अर्पित करने के तुल्य थे, तथापि नागरिक अत्यन्त सम्मान एव प्रेम-युक्त भाषा मे भगवान् का अभिनन्दन करने लगे तथा उनसे वैसे ही प्रार्थना करने लगे जैसे एक छोटा सा बालक अपने अभिभावक अपने पिता के प्रति करता है।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ आत्माराम कहे गये है। वे सदा-सन्तुष्ट है तथा उन्हे सुख के लिये स्वयं से पृथक् अन्य वस्तु की खोज करने की आवश्यकता नहीं। वे स्वयं आप्तकाम है, क्योंकि उनका समस्त अस्तित्व सर्वथा आनन्दमय है, उनकी अवस्थिति नित्य है। वे सर्वज्ञ एवं आनन्दमय है। इसलिये कोई भी उपहार चाहे वह कितना भी बहुमूल्य क्यों न हो उनके लिये कोई अर्थ नही रखता। परन्तु चूँकि वे प्राणीमात्र के शुभचिन्तक है। अतः वे प्रेम भक्ति से परिपूर्ण होकर अर्पित किया गया कोई भी उपहार प्रेमपूर्वक स्वीकार करते है। इसका अर्थ यह नही है कि वे इन उपहारों के लिये सतृष्ण है। ऐसा नही है, क्योकि समग्र वस्तुएँ उनकी ही बहिरङ्गा शक्ति से निर्मित होती है। यहाँ पर उपहार प्रदान करने की घटना की तुलना सूर्य को दीपक दिखाने की घटना से की गयी है। कोई भी वस्तु जो प्रकाशवान् है, तेजस्वी है, वह सूर्य की ऊर्जा का ही विकीरण है, तथापि यदि सूर्यदेव की पूजा की जाय तो उन्हे दीप अर्पित करना अति आवश्यक होगा। पूजक कुछ वस्तुओं की आकाँक्षा भी करता है, परन्तु भगवान् की प्रेममयी सेवा मे किसी भी ओर से किसी भी प्रकार की माँगों अथवा अपेक्षाओं के लिये कोई अवकाश नही है। यही भक्त एव भगवान् के मध्य प्रेम का सामान्य लक्षण है।

भगवान् सम्पूर्ण प्राणीमात्र के पिता है। इसलिये जो इस मधुरतम सम्बन्ध के प्रति जागरूक है, वे जैसे पिता के समक्ष शिशु अपनी माँगे रखते है, तथा पिता प्रसन्न होकर विना किसी व्यवधान, विना किसी आपत्ति के उनकी माँगे पूर्ण करता है। उसी भाँति भगवान् भी अपने शिशुवत् भोले

भक्तों की कामनायेँ पूर्ण करते है। भगवान् कल्पवृक्ष की भाँति है। कोई भी व्यक्ति उनकी अकारण करुणा से प्रत्येक वस्तु उपलब्ध कर सकता है। विशेषता यह है भगवान् अपने विशुद्ध भक्तों को वे पदार्थ प्रदान नही करते जो उनकी भक्तिमयी सेवा में व्यवधान उपस्थित करने वाले हों। वे जो भगवान् की प्रेममयी सेवा मे संलग्न है; वे उनके अप्राकृत आकर्षण की डोर से बँधकर कारण रहित निष्काम, अहैतुकी भक्ति की अवस्था पर्यन्त अपनी चेतना का विकास कर सकते है।

[६]

नताः स्म ते नाथ सदाङ्घ्रिपङ्कजं।
विरिञ्चवैरिञ्च्यसुरेन्द्रवन्दितम् ॥
परायणं क्षेममिहेच्छतां परं।
न यत्र कालः प्रभवेत परः प्रभुः ॥

नता.=प्रणाम करते है; ते=आपको, नाथ=हे नाथ; सदा=निरन्तर, अङ्घ्रिपङ्कजम्=चरण-कमलो को, विरञ्चि=ब्रह्मा; वैरिञ्च=ब्रह्मा के सनकादि चारो पुत्र, सुरेन्द्र=स्वर्ग का राजा इन्द्र, वन्दितम्=नमस्कृत; परायणम्=परायण; क्षेमम्=कल्याण; इह=इस जीवन मे, इच्छताम्=जो ऐसी इच्छा करता है, परम्=सर्वोच्च, न=कभी नही, यत्र=यहाँ; कालः=अजेय समय, प्रभवेत=प्रभाव डाल सकता है; पर.=दिव्य, प्रभुः=सर्वोच्च भगवान्।

अनुवाद

नागरिकों ने कहा, हे भगवन्! आप ब्रह्मा सनकादि एवं इन्द्र आदि समस्त देवताओ के पूजनीय हैं। आप जीवन के परम लाभ प्राप्त करने के लिये किये जाने वाले अनवरत प्रयास के अन्तिम विश्राम है। आप सर्वोच्च अप्राकृत तत्व है तथा दुर्लङ्घ्य काल आप पर कोई प्रभाव नही डाल सकता।

तात्पर्य

भगवद्गीता ब्रह्म संहिता तथा अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों के द्वारा श्रीकृष्ण

परम देवाधिदेव माने गये है। उनसे श्रेष्ठ तो दूर समकक्ष भी कोई नहीं है। यही धर्मग्रन्थों का वक्तव्य है। समय एवं स्थान का प्रभाव आश्रित जीवों पर ही पड़ सकता है, जो कि भगवान् के अंश है। जीव नियन्त्रित ब्रह्म है। जबकि भगवान् नियन्त्रक-अद्वयतत्त्व है। ज्यो ही हम जीवन के इस स्पष्ट तथ्य को विस्मृत करते है; त्यों ही हम त्रिताप-तप्त होने लगते हैं। जैसे कोई गहन अन्धकार में प्रविष्ट करा दिया गया हो जीव की परम विशुद्धता एव स्वच्छ चेतना ही भगवत्-चेतना है, जिसमें वह समस्त घटनाचक्रो एवं सम्पूर्ण परिस्थितियों मे सदा-सदा के लिये भगवान् को ही समर्पित हो जाता है।

[७]

भवाय नस्त्वं भव विश्वभावन
त्वमेव माताथ सुहृत्पतिः पिता।
त्वं सद्गुरुर्नः परमं च दैवतं
यस्यानुवृत्त्या कृतिनो बभूविम ॥

भवाय=कल्याणार्थ, न.=हमारे; त्वम्=आप, भव=हुए हैं; विश्व-भावन=विश्व के निर्माता; त्वम्=आप, इव=निश्चित ही, माता=माता, अथ=ऐसा; सुहृद्=सुहृद्; पतिः=स्वामी; पिता=पिता, त्वम=आप; सद्गुरुः=धर्मगुरु; नः=हमारे; परमम्=सर्वोच्च; च=और; दैवतम्=पूजनीय देवता, यस्य=जिसका; अनुवृत्य=अनुगमन करते हुये; कृतिनः=सफल; बभूविम=हुए है।

अनुवाद

हे सम्पूर्ण विश्व के सर्जक आप ही हमारे माता, शुभचिन्तक, स्वामी, पिता, गुरु एवं देवता है। आपके चरण-चिन्हों का अनुगमन करते हुए हम सर्वत्र सफलता प्राप्त करते हैं। इसलिये हम सदा-सदा के लिये आपके अनुग्रह प्राप्ति के लिये प्रार्थना करते है।

तात्पर्य

भगवान् के सर्वाङ्गसुन्दर, मङ्गलमय व्यक्तित्व विश्व के सृजनकर्ता

तो हैं ही वे सम्पूर्ण जीवों के कल्याणार्थ विभिन्न योजनाएँ भी बनाते रहते है। तथा सदाचारी जीव भगवान् के द्वारा अपने सारगर्भित उपदेशों के अनुगमन के लिए प्रेरित किये जाते है; और ऐसा करते हुए वे जीवन के सभी क्षेत्रों में सफल होते है। केवल एक भगवान् की पूजा करने की आवश्यकता है और किसी देवी देवताओं की नहीं। क्योंकि वे सर्वशक्तिमान् हैं और यदि अपने चरण कमलों की आज्ञानुवर्तिता एवं सेवा से वे हम पर सन्तुष्ट हुये तो भौतिक एवं आध्यात्मिक जीवन के दोनों स्तरों की परिपूर्णता के लिये अपनी कृपा के द्वारा अभीष्ट अप्राकृत समृद्धियें एवं आशीर्वादों की वृष्टि उपस्थित कर देंगे। मानव देह आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति के लिए एक सुअवसर है, एक द्वार है; जिससे वह भगवान् के साथ अपने नित्य सम्बन्धों को समझ सकता है। उनके साथ हमारा सम्बन्ध नित्य है। वह न टूट सकता है और न कभी नष्ट हो सकता है। परन्तु कुछ काल के लिये विस्मृत अवश्य हो सकता है। किन्तु यह भगवत्कृपा से पुन: स्मरण में लाया भी जा सकता है। इसकी नवीनता एवं नित्यता पुन: उपलब्ध की जा सकती है। और यह तभी सम्भव है जब हम उनकी शिक्षाओं का अनुकरण करें जो धर्मग्रन्थों में सब समय एवं सब स्थानों के लिए निर्दशित हुआ है।

[८]

अहो सनाथा भवता स्म यद्वयं
त्रैविष्टपानामपि दूरदर्शनम्।
प्रेमस्मितस्निग्ध निरीक्षणाननं
पश्येम रूपं तव सर्वसौभगम्॥

अहो=अहो यह हमारा सौभाग्य है, सनाथा=स्वामी के संरक्षण में; भवता=आपके द्वारा, स्म=जैसे हम यहाँ हुए; यत्-वयम्=जैसे हम है; त्रैविष्टपानाम्=देवताओं का; अपि=भी; दूरदर्शनम्=बहुत विरले ही देखा जाता है; प्रेम-स्मित=प्रीतिपूर्वक मुस्कान; स्निग्ध=प्रेमपूर्वक; निरीक्षण-आननम्=प्रेम की मुद्रा से देखते हुए मुख कमल; पश्येम=आपको देखते हुए; रूपम्=सौन्दर्य; तव=आपका; सर्व=समस्त; सौभगम्=मङ्गलमय।

अनुवाद

ओह, यह हमारा कितना बड़ा सौभाग्य है कि हम आज पुन: आपकी उपस्थिति के द्वारा आपके संरक्षण में आ गये; क्योकि आपका स्वामित्व स्वर्ग के देवों के लिए भी दुर्लभ है। आज हमारे लिए आपके मन्द मुस्कान युक्त स्नेहपूर्ण अवलोकन से सुशोभित मुख-कमल का दर्शन सम्भव हो सका है। आज हम आपके परम मङ्गलमय दिव्य स्वरूप का दर्शन प्राप्त कर सके है।

तात्पर्य

भगवान् के नित्य चिन्मय वपु के दर्शन केवल विशुद्ध-भक्तों को ही उपलब्ध होते है। भगवान् निराकार नही, अपितु वे सर्वोच्च अद्वय-भगवत्तत्त्व है; तथा प्रेममयी सेवा के द्वारा ही सम्मुख दर्शनार्थ प्राप्त होते है। यह दर्शन उच्चातिउच्च लोकों के निवासियों के द्वारा भी असम्भव है। एक बार ब्रह्माजी एक आवश्यक विचार विमर्श के लिए मुख्य-मुख्य देवगणों के साथ भगवान् श्रीकृष्ण के अंशावतार भगवान् विष्णु से मिलने गये तो वे क्षीर समुद्र के तट-पर ही प्रतीक्षा करते रहे; जहाँ भगवान् विष्णु श्वेतद्वीप में निवास करते है। यह क्षीर-सागर एवं श्वेतद्वीप दोनों ही इस प्राकृत जगत् के अन्तर्गत अप्राकृत वैकुण्ठलोक की शाखाएँ है और न ब्रह्मा और न इन्द्र ही इस श्वेतद्वीप-लोक में प्रवेश कर सकते है। वे क्षीर-सागर के तट पर खड़े होकर केवल अपना सन्देश भगवान् क्षीरोदकशायी विष्णु तक संवेदित कर सकते है। इस प्रकार भगवान् विरले ही उनके दृष्टिगम्य हुआ करते हैं परन्तु द्वारका के निवासी चूँकि उनके विशुद्ध-भक्त थे, जिनमें भौतिकता, सकाम-कर्म, काल्पनिकता एवं तार्किकता का सर्वथा अभाव था। अत: वे भगवान् की दृष्टि से दृष्टि मिलाकर दर्शन करने में समर्थ थे। यही जीवों का मौलिक स्वरूप है जिसे केवल प्रेममयी-सेवा के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

[९]

यर्ह्यम्बुजाक्षापससार भो भवान्
कुरून् मधून् वाथ सुहृद्दिदृक्षया।

तत्राब्दकोटिप्रतिमः क्षणो भवेद्
रविं विनाक्ष्णोरिव नस्तवाच्युत ॥

यर्हि=जब कभी; अम्बुज-अक्ष=हे कमलनयन; अपससार=आप चले जाते है; भो=हे; भवान्=आप स्वयम्; कुरून्=कुरुवशी राजाओं के देश, मधून्=मथुरा पुरी के प्रदेश, वा=या, अथ=इसलिये; सुहृद्-दिदृक्षया=अपने सुहृदो से मिलने के लिये; तत्र=उस समय; अब्द-कोटिः+करोड़ों वर्षो; प्रतिमः=के सदृशः; क्षण=एक क्षण; भवेत्=हो जाता है; रविम्=सूर्य, बिना=बिना (रहित); अक्ष्णोः=आँखों के; इव=उसी भाँति; नः=हमारे, तव=तुम्हारा, अच्युत=हे भगवान् श्रीकृष्ण ।

अनुवाद

हे कमलनयन, जब कभी आप अपने सुहृदो एव मित्रो से मिलने मथुरा, वृन्दावन अथवा हस्तिनापुर चले जाते है तब आपकी अनुपस्थिति का प्रत्येक क्षण हमें सहस्त्रों वर्षों की भाँति लम्बायमान प्रतीत होता है। हे अच्युत, उस समय हमारी आँखे व्यर्थ हो जाती है जैसे सूर्य के अभाव में यह व्यर्थ प्रतीत होने लगती हैं।

तात्पर्य

हम सभी भगवान् के अस्तित्व के निर्णय के लिए प्रयोग करने में अपनी प्राकृत इन्द्रियों की शक्ति पर अधिक गर्व करते हैं, किन्तु हम यह भूल जाते है, कि हमारी इन्द्रियाँ स्वतः अपूर्ण है, वे निश्चित स्थिति मे निश्चित स्तर तक ही कार्य कर सकती है। उदाहरणार्थ हमारे नेत्र जब तक सूर्य का प्रकाश फैला हुआ है तब तक कार्य करते है। सूर्य के प्रकाश के अभाव में नेत्र व्यर्थ से हो जाते है। भगवान् श्रीकृष्ण आदिपुरुष है। परम सत्य है उनकी तुलना सूर्य से की गयी है। उनके बिना हमारा समस्त ज्ञान या तो मिथ्या है अथवा आंशिक। क्योंकि जैसे सूर्य का दूसरा पहलू अन्धकार है उसी प्रकार श्रीकृष्ण का दूसरा पहलू माया है, भ्रम है। भगवान् के भक्त समस्त पदार्थों को भगवान् श्रीकृष्ण-प्रदत्त प्रकाश के परिप्रेक्ष में सत्य देखता है। भगवान् की कृपा से भक्त कभी भी अज्ञान अन्धकार मे नही रह सकता अतएव आवश्यकता इस बात की

है कि हम सदा श्रीकृष्ण की दृष्टि के सम्मुख रहें। ताकि हम स्वयं को एवं भगवान् को उनकी समग्र शक्तियों के साथ दर्शन कर सकें। जैसे हम सूर्य की अनुपस्थिति मे कोई पदार्थ नही देख सकते उसी प्रकार हम भगवान् की वास्तविक उपस्थिति के बिना किसी भी पदार्थ की तथा अपने स्वयं की सत्ता का, ज्ञान भी नही प्राप्त कर सकते। उसके विना हमारा व्यक्तित्व केवल मिथ्या धारणाओं एव भ्रमों से आच्छादित रहा आता है।

[१०]

कथं वयं नाथ चिरोषिते त्वयिप्रसन्नदृष्ट्याखिलतापशोषणं।
जीवेमतेसुन्दरहासशोभितमपश्यमाना वदनम् मनोहरम् ॥
इति चोदीरिता वाचः प्रजानां भक्तवत्सलः।
शृण्वानोऽनुग्रहं दृष्ट्या वितन्वन्प्राविशत्पुरम् ॥

कथम्=कैसे; वयम्=हम; नाथ=हे नाथ, चिरोषिते=बहुत दूर चले जाने पर, त्वयि=आपके, प्रसन्नदृष्ट्या=प्रसन्न दृष्टि से; खिल=समस्त; ताप=तीनों प्रकार के सांसारिक ताप, शोषणम्=शोषण करने वाले, जीवेम=जी सकेंगे; ते=आपका; सुन्दर=मनोहर; हास=हास्य, शोभितम्=सुशोभित; अपश्यमाना=बिना देखे हुए; वदनम्=मुख, मनोहरम्=आकर्षक, इति=ऐसा; च=और; उदीरिता=बोलते हुये; वाचः=वाणी; प्रजानाम्=प्रजाओं का; भक्तवत्सलः=भक्तों पर करुणा करने वाले, शृण्वान=इस प्रकार सुनते हुये; अनुग्रहम्=अनुग्रह; दृष्ट्या=दृष्टि से, वितन्वन्=वितरण करते हुये; प्राविशत्=प्रवेश किया, पुरम्=श्री द्वारकापुरी में।

अनुवाद

हे स्वामी! जब आप दीर्घकाल के लिए विदेश चले जाते है और हम आपके इस परम आकर्षक मुखारविन्द का दर्शन नही करपाते जिस पर सुशोभित मधुर मुस्कान क्षणमात्र में हमारे समस्त दुःखों का उन्मूलन कर देती है, उस समय हम मृतवत् हो जाते है। तब हम आपके सान्निध्य के विना भला कैसे जीवित रहेगे? भक्त नागरिको के प्रति अत्यन्त कृपामय

भगवान् ने उनकी वार्ताओं एवं प्रार्थनाओं को सुनते हुए द्वारका नगरी में प्रवेश किया तथा अपने प्रीतिभरे दिव्य अवलोकन से उन्हें कृतार्थ करते हुए उनके उपहारो को स्वीकार किया।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण का आकर्षण इतना प्रबल है,कि जो भी उनकी ओर एक बार भी आकर्षित होता है वह उनकी विरह व्यथा सहन नही कर सकता। ऐसा क्यो ? क्योंकि हम उनसे नित्य संयुक्त है। हम उनसे ठीक वैसे ही नित्य अन्त-र्सन्धित है जैसे सूर्य की किरणे सूर्यमण्डल से नित्य संयुक्त है। सूर्य की किरणे सौरशक्ति विकीरण के आणविक अश है और ये सूर्य की किरणे सूर्य से कभी पृथक् नही हो सकती। मेघ के द्वारा जो वियोग घटित होता है वह क्षणिक एवं कृत्रिम है।ज्यों ही मेघ विसर्जित होते है त्यों ही सूर्य की किरणे सूर्य की उपस्थिति में तत्क्षण अपनी स्वाभाविक प्रकाश-स्वरूपता को प्राप्त हो जाती है। इसी भाँति जीव जो भगवान् का अणु अश है माया की कृत्रिम भ्रामिका शक्ति के द्वारा अनिश्चित काल के लिए विलग हो जाते है। तथापि पुनः संयुक्त होने की खोज निरन्तर चलती ही रहती है। इस भ्रामिका शक्ति अथवा माया के पर्दे का अनावरण अवश्य होना चाहिए। और जब ऐसा होता है केवल तभी जीव भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त करता है और तत्काल ही उसका दुख सदा-सदा के लिए विदा हो जाता है। हममे से प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन से दुःख समाप्त करना चाहता है किन्तु यह कैसे समाप्त किया जाय यह हम नही जानते, यहाँ पर इसका समाधान दिया गया है और इसे जीवन में अनस्यूत करना या न करना हम पर निर्भर करता है।

[११]

मधुभोजदशार्हार्हकुकुरान्धकवृष्णिभिः ।
आत्मतुल्यबलैर्गुप्तां नागैर्भोगवतीमिव ॥

मधु=मधु; भोज=भोज; दशार्हद=शार्ह; अर्ह=अर्ह, कुकुर=कुकुर; अन्धक=अन्धक; वृष्णिभिः=वृष्णिवंशियों के द्वारा; आत्मतुल्य

स्वय अपने समान; बलै:=शक्ति द्वारा; गुप्ताम्=संरक्षित; नागै:=नागों द्वारा; भोगवतीम्=नागलोक की राजधानी, इव=सदृश।

अनुवाद

जैसे नागलोक की राजधानी भोगवतीपुरी नागो के द्वारा सुरक्षित होती है उसी भाँति द्वारकापुरी भी वृष्णि, भोज मधु, दाशार्ह, अर्ह, कुकुर, अन्धक इत्यादि प्रतापी राजवशियों के द्वारा सुरक्षित हो रही थी जो श्री कृष्ण के सदृश पराक्रमी थे।

तात्पर्य

नागलोक पृथ्वीलोक के नीचे अवस्थित है, और कहा जाता है कि सूर्य की किरणे वहाँ तक नही पहुँचती। उस लोक का अन्धकार श्रेष्ठ नागों के मस्तक पर जड़ी हुई देदीप्यमान अद्भुत मणियों के प्रकाश से निवारित होता है। यह कहा गया है कि वहाँ अति सुन्दर बाग, बगीचे, नदियाँ, पर्वत एव शहर है जिनमें अनेक नाग कुमार एवं नाग कुमारियाँ विहार करते रहते है। समझना चाहिये कि नगर वहाँ के निवासियों द्वारा ही भली भाँति सुरक्षित रहता है। उसी प्रकार द्वारकापुरी भी वृष्णिवंशियों के द्वारा सुरक्षित थी। वे विश्व में इतने पराक्रम सम्पन्न थे जितने भागवान् श्रीकृष्ण ने जगत् मे प्रकट किया था।

[१२]

सर्वर्तुसर्वविभवपुण्यवृक्षलताश्रमैः।
उद्यानोपवनारामैर्वृतपद्माकरश्रियम्॥

सर्व=सब, ऋतु=ऋतुएं; सर्व=सब, विभव=ऐश्वर्य; पुण्य=पुण्य, वृक्ष=वृक्ष; लता=लता; आश्रमै.=आश्रमों के साथ; उद्यान=बगीचे; उपवन=पुष्पों का वन, आरामै=सुन्दर बागों सहित आवास, वृतः=घिरे हुए; पद्म-आकर=कमलों से आच्छादित सरोवर, श्रियम्=अभिवृद्ध सौन्दर्य।

अनुवाद

द्वारकापुरी सम्पूर्ण ऋतुओं की समृद्धि से आप्लावित थी। वहाँ

ऋषियों के बहुत से आश्रम, वृक्ष, लतायें एवं पुष्पों के बाग तथा स्वच्छ सरोवर थे, जिनमे नाना प्रकार के कमलो के पुष्प खिल रहे थे। सर्वत्र अप्राकृत सौन्दर्य की छटा छिटक रही थी।

तात्पर्य

मानव सभ्यता की पूर्णता तभी सम्भव हो पाती है जब हम प्राकृतिक देनों का उपयोग उनके सहज स्वाभाविक पद्धति से करते है। जैसे कि हम यहाँ पाते है कि द्वारकापुरी का ऐश्वर्य अतुलनीय था यह पुरी पुष्प के बागों से फलो के बागानों एवं खिले हुए कमलों से युक्त सरोवरो से आकीर्ण थी। वहाँ मिलों, कारखानों एवं कसाईघरों का कोई वर्णन नही है जो कि आधुनिक शहरों की आधुनिकता के आवश्यक चिन्ह हैं। प्राकृत देनों के उपयोग की अति सुन्दर प्रवृत्ति वहाँ भी विद्यमान है। यहाँ तक कि आधुनिक सभ्यता के प्रेमी व्यक्तियों के हृदय में भी यह प्रवृत्ति विद्यमान है। आधुनिक सभ्यता के नेतागण अपना निजी आवास वही चुनते है जहाँ सुन्दर बाग हो, जलाशय हो, किन्तु वे सामान्य जनों के लिये जलाशयों एवं उद्यानों से रहित सङ्कीर्ण स्थानो की व्यवस्था करते है। अवश्य ही हम द्वारकापुरी की रचना एवं व्यवस्था का वर्णन बहुत विचित्र रूप मे पाते है। यहाँ समझा जाना चाहिये कि इस धाम के सम्पूर्ण भवन अनेक कमलों से सुशोभित बागो से घिरे हुए है। यह स्पष्ट है कि वे समस्त व्यक्ति जो कल-कारखानों से रहित विशुद्ध प्राकृत उपादानों से युक्त निवास स्थानो में रहते है। वे अधिक स्वस्थ शान्त एवं सुखी होते है। सभ्यता का विकास मिलों एवं कारखानो के विकास पर आधारित नही है वरन् यह तो मानवता के भावनागत मूल प्रवृत्तियों का शोषक है। इसलिये सभ्यता का चरम विकास एवं उसके पूर्ण स्वस्थ स्वरूप का उद्‌घाटन तब होता है जब उसका आध्यात्मिकीकरण होता है। और यह तब होगा जब हमारे सारे कार्य-कलाप एवं हमारी मौलिक प्रवृत्तियाँ भगवत् प्राप्ति की ओर अभिमुख हों, उन्मुख हों। मिलों एवं कारखानों का विकास उग्र कर्म कहलाता है और ऐसे उग्र-कर्म समाज एवं मानवता की कोमलतम भावनाओं को आघात पहुँचाने वाले होते है।

यह वर्णन उपलब्ध होता है कि उस काल में ऋतु के अनुसार पुष्प एवं फल प्रदान करने वाले वृक्षों की बहुतायत थी। असदाचारी वृक्ष केवल निरुपयोगी वन मात्र ही निर्मित करते हैं। और उनका केवल ईंधन के लिये ही उपयोग किया जा सकता है। आधुनिक सभ्यता में ऐसे असदाचारी वृक्ष

मार्गो के दोनों किनारों पर रोपे जाते है। मानवीय शक्ति का उपयोग अप्राकृत ज्ञान की उपलब्धि के लिये इन्द्रियो की सूक्ष्मता के विकास में होना चाहिये और जीवन की समस्याओं का निदान इसी में सन्निहित है। फल, फूल, सुन्दर बाग, उपवन, हंस एवं सारसों से युक्त एवं खिले हुए कमलों से आकीर्ण सरोवर तथा दूध देने वाली गौएँ तथा मक्खन का प्राचुर्य मनुष्य शरीर के सूक्ष्म तन्तुओं के विकास के लिये अनिवार्य तत्त्व हैं। इसके विरुद्ध खदानों कारखानों एव वर्कशाप की अधिकता समाज मे दानवोचित कार्य संलग्नता का परिचय देते है। श्रमिक वर्ग के व्यक्तियों में संवेदन शीलता के अभाव के कारण निम्न प्रवृत्तियों का आधिक्य हो जाता है तथा अनेक प्रकार के कलहों का श्रीगणेश हो जाता है। इसलिये नगर एवं समाज की सरचना मे भारतीय संस्कृति सर्वोपरि है। और इस प्रकार इस श्लोक में द्वारका धाम के वर्णन में मानवीय-सभ्यता का आदर्श प्रस्तुत किया गया है।

[१३]

गोपुरद्वारमार्गेषु कृतकौतुकतोरणाम् ।
चित्रध्वजपताकाग्रैरन्तः प्रतिहतातपाम् ॥

गोपुर=शहर का मुख्य द्वार, द्वार=द्वार; मार्गेषु=विभिन्न मार्गों पर; कृत=किया हुआ, कौतुक=उत्सव के द्वारा; तोरणम्=सुसज्जित तोरण; चित्र=चित्र, ध्वज=झण्डियाँ; पताग्रैः=पताकाओं के चिन्ह; अन्त =अन्दर; प्रतिहताः=अवरुद्ध; तपाम्=सूर्य का प्रकाश।

अनुवाद

नगर का प्रमुख द्वार, गृहस्थों के घरों के द्वार तथा समस्त राजमार्ग तोरणों से सजे हुए थे। केले के वृक्षों एवं आम्र-किसलयों से सजे हुए भव्य मार्ग भगवान् के शुभागमन की चिर प्रतीक्षा कर रहे थे। ध्वजा, हार तथा अनेक प्रकार के चित्रों से सज्जित झण्डियों से सूर्य का प्रकाश अवरुद्ध-सा हो गया था।

तात्पर्य

विशिष्ट पर्वों में सजावट के विभिन्न प्रतीक भी प्राकृतिक देनों से

उपलब्ध होते थे। केले के वृक्ष आम्र-किसलय फल, फूल तथा नारियल यह सब प्राचीन काल में तो मङ्गलमय होते ही थे। आजकल भी ये मङ्गलमय रूप में स्वीकृत होते है उपरोक्त ध्वजाएँ प्रायः श्रीगरुड़ अथवा श्री हनुमान के चित्रों से सजे होते थे, वे दोनों भगवान् के महान् भक्त हैं। भक्तों के समाज में ऐसे चित्रण एवं सजावट आज सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं तथा भक्त-गण इनके द्वारा ही पूजागृह, उत्सव-स्थल एवं माङ्गलिक द्रव्य सजाते हैं तथा भगवान् भी इससे अधिक सन्तुष्ट, अधिक प्रसन्न होते हैं।

[१४]

सम्मार्जितमहामार्गरथ्यापणकचत्वराम् ।
सिक्तां गन्धजलैरुप्तां फलपुष्पाक्षतांकुरैः ॥

सम्मार्जित=भलीभाँति स्वच्छ; महामार्ग=राजमार्ग; रथ्या=उपमार्ग; अपणक=क्रय विक्रय का स्थल बाजार; चत्वराम्=सार्वजनिक सभा स्थल; सिक्ताम्=सिञ्चित; गन्धजलैः=सुगन्धित जलों द्वारा; उप्ताम्=फैलाये हुए; फल=फल; पुष्प=पुष्प, अक्षत=अक्षत; अङ्कुरैः=अङ्कुर।

अनुवाद

राजमार्ग, उपमार्ग चौक बाजार तथा सार्वजनिक स्थल भलीभाँति स्वच्छ थे तथा सुगन्धित जलों से उन पर छिड़काव किया गया था। भगवान् के स्वागत के लिये स्थान-स्थान पर फल-फूल तथा अखण्डित बीज रोपे गये थे।

तात्पर्य

गुलाब, केवड़ा आदि चुने हुये पुष्पों के द्रव्य से निर्मित सुगन्धित जलों से समस्त मार्ग भलीभाँति सिञ्चित किये गये थे। द्वारका धाम के समस्त मार्ग, उपमार्ग एवं चौराहे निरन्तर सुगन्धि से सुगन्धित होते रहते थे। बाजार एवं सार्वजनिक स्थल सर्वथा स्वच्छ एवं भव्य थे। उपरोक्त वर्णन से यह प्रतीत होता है कि द्वारका धाम पर्याप्त विस्तृत था जो राजमार्ग, उपमार्ग, सार्वजनिक स्थल एवं फल-फूलों से लदे हुये वन उपवन एवं सरोवरों से अद्भुत रूप से सजा हुआ था। लाजा एवं फलो से सुशोभित स्थल अति

मङ्गलमय माना जाता है और अद्यावधि यह हिन्दू परिवारों में त्योहारों के दिनों में उपयोग किया जाता है।

[१५]

द्वारि द्वारि गृहाणां च दध्यक्षत फलेक्षुभिः।
अलंकृतां पूर्णकुम्भैर्बलिभिर्धूपदीपकैः ॥

द्वारि-द्वारि=प्रत्येक दरवाजे पर; गृहाणाम्=समस्त गृहों के; च=और; दधि=दही; अक्षत=अक्षत; फल=फल; इक्षुभि.=गन्नों से; अलङ्कृताम्=सुसज्जित; पूर्ण-कुम्भैः=पूर्ण जलपात्रों द्वारा, वलिभिः=पूजन सामग्रियों द्वारा; धूप=धूप; दीपकै.=दीपकों द्वारा।

अनुवाद

प्रत्येक गृहद्वारों पर दधि, अक्षत, फल, गन्ने एवं जलपूर्ण पात्र आदि मङ्गल सूचक पदार्थ रखे हुए थे। तथा धूप, दीप आदि पूजा द्रव्यों से स्थान-स्थान पर अर्चायें की गई थी।

तात्पर्य

वैदिक नियमानुसार स्वागत की प्रक्रिया कदापि शुष्क नहीं है। स्वागत का कार्यक्रम मार्ग-परिष्कार तथा विभिन्न अर्चन सामग्रियों द्वारा नगर की साज सज्जा एवं आनन्द-कौतूहलों से सम्पन्न होता था। और अपनी सामर्थ्यानुसार धूप, दीप, पुष्प, मिठाई, फल एवं अन्य सुस्वादु खाद्य पदार्थों से भगवान् की पूजा की जाती थी। तथा अवशिष्ट वस्तु एकत्रित जनसमूह में वितरित होती थी। अतः प्राचीन काल में आधुनिक काल की भाँति स्वागत की शुष्क प्रणाली का प्रचलन नहीं था। प्रत्येक गृह इसी प्रकार भगवान् का स्वागत समारोह करता था तथा मार्ग पर अवस्थित प्रत्येक गृह उपस्थित जनता मे प्रसाद वितरण कर रहा था और प्रसाद वितरण से ही उत्सव सफल होता था प्रसाद-वितरण के विना कोई भी उत्सव पूर्ण नहीं माना जाता। यही वैदिक संस्कृति की पद्धति है।

[१६]

निशम्य प्रेष्ठमायान्तं वसुदेवो महामनाः ।
अक्रूरश्चोग्रसेनश्च रामश्चाद्भुतविक्रमः ॥

[१७]

प्रद्युम्नश्चारुदेष्णश्च साम्बो जाम्बवतीसुतः ।
प्रहर्षवेगोच्छशितशयनासनभोजनाः ॥

निशम्य=सुनकर; प्रेष्ठ=प्रियतम; आयान्तम्=आगमन; वसुदेवः =श्रीकृष्ण के पिता श्रीवसुदेव जी; महामनाः=अत्यन्त उदार हृदय; उदार-चेता, अक्रूरः=श्रीकृष्ण के चाचा श्रीअक्रूर; च=और; उग्रसेन=श्रीउग्रसेन; च=और; राम.=श्रीबलरामजी; च=और; अद्भुत=असाधारण; विक्रमः =शौर्यशाली; प्रद्युम्न=प्रद्युम्न; चारुदेष्ण=श्रीकृष्ण पुत्र चारु देष्ण; च= ओर, साम्बः=श्रीकृष्ण पुत्र साम्ब; जाम्बवती-सुतः=श्रीमती जाम्बवती के पुत्र; प्रहर्ष=अत्यन्त हर्ष के; वेग=प्रवाह से; उच्छशित=प्रभावित हुए; शयन=शयन; आसन=आसन; भोजनाः=भोजन ।

अनुवाद

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारका धाम में आगमन का अत्यन्त प्रिय समाचार सुनकर उनके दर्शनौत्सुक्य आह्लाद में भरकर वसुदेव, अक्रूर, उग्रसेन, बलराम, प्रद्युम्न, चारुदेष्ण एवं साम्ब आदि समस्त यदुवशी भोजन, शयन, आसन, आदि समस्त कार्यों का परित्याग कर बड़े वेग से भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शनों को दौड़ पड़े ।

तात्पर्य

श्रीवसुदेव—महाराज शूरसेन के पुत्र,देवकी देवी के पति तथा भगवान् श्रीकृष्ण के पिता, देवी कुन्ती के भाई एवं सुभद्रा के पिता थे । सुभद्रा का विवाह अर्जुन से हुआ था । और यह प्रथा अभी भी भारत के कई भागों में

प्रचलित है। वसुदेव उग्रसेन की राजसभा के एक मन्त्री थे कालान्तर में उग्रसेन के भाई देवक की आठ कन्याओं से उनका विवाह हुआ। देवकी उनमें से एक थीं। कंस उनके साले थे तथा श्रीवसुदेव जी ने कंस का कारागार परिस्थितिवश देवकी के अष्टम गर्भ प्रदान करने के हेतु कतिपय शर्तों के साथ स्वतः स्वीकार किया था। कंस की अमरत्व की दुर्निवार अभिलाषा ही इसमें एकमात्र कारण थी। पाण्डवों के मामा की भाँति श्रीवसुदेव जी ने पाण्डवों के समस्त संस्कारों में सक्रिय भाग लिया था। उनके जन्म के अवसर पर पुरोहित कश्यप जी को शतशृङ्ग पर्वत पर भेजकर उन्होंने जातकर्म संस्कार करवाये थे। जब भगवान् श्रीकृष्ण कंस के कारागार में प्रगट हुए, वे श्रीवसुदेव के द्वारा तत्क्षण ही नन्द महाराज के गृह में पहुँचा दिये गये थे। उनके ही गृह में भगवान् श्रीकृष्ण का पालन पोषण हुआ। वसुदेव जी के तिरोधान के पूर्व ही श्रीकृष्ण एवं बलराम अन्तर्धान हो गये तथा उनके भानजे अर्जुन ने उनका तिरोधान सम्बन्धी कार्यक्रम सम्पन्न किया।

अक्रूर—ये वृष्णिवंश के प्रमुख सेनानायक एवं भगवान् श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त थे। अक्रूर ने भगवान् की प्रेममयी सेवा में एकमात्र प्रार्थना की प्रक्रिया से ही सफलता प्राप्त कर ली। वे आहुक की पुत्री सूतनी के पति हुये। जब अर्जुन ने सुभद्रा का हरण किया था तब भगवान् श्रीकृष्ण की इच्छा से अक्रूर ने उनकी सहायता की थी। भगवान् कृष्ण एवं अक्रूर दोनों सुभद्रा के हरण की सफलता के अनन्तर उनसे मिलने गये थे। दोनों ने अर्जुन को अपनी शुभ कामनायें अर्पित की। जब सुभद्रा के पुत्र अभिमन्यु का विवाह उत्तरा से हुआ था तब भी अक्रूर वहाँ उपस्थित थे। अक्रूर के श्वसुर आहुक का अक्रूर के साथ मधुर सम्बन्ध नहीं था परन्तु दोनों ही भगवान् के भक्त थे।

उग्रसेन—वृष्णिवंश के एक महा शक्तिसम्पन्न राजा थे तथा महाराज कुन्तिभोज के चचेरे भाई थे। उनका एक अन्य नाम आहुक था। श्रीवसुदेव जी इनके मन्त्री थे प्रबल शक्तिशाली कंस उनके पुत्र थे। इस कंस ने अपने पिता को बन्दी बना लिया था और स्वयं मथुरा का राजा बन बैठा था। किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण एवं बलराम की कृपा से कंस मारा गया। तथा उग्रसेन का पुनर्राज्यारोहण हुआ। जब शाल्व ने द्वारका नगरी पर आक्रमण किया तब उग्रसेन ने उससे अत्यन्त पराक्रमपूर्वक युद्ध किया तथा शत्रुओं के छक्के छुड़ा दिये। उग्रसेन ने श्रीनारद से श्रीकृष्ण तत्त्व की

जिज्ञासा की तथा उन्हें भगवत्ता के सर्वोच्च विग्रह जानकर उनके हृदय में अत्यन्त आश्चर्य एवं आनन्द के साथ भक्ति उमड़ पड़ी। जब यदुवंश का अन्त होने वाला था तथा साम्ब के उदर से मूसल निकला और यदुवंश संहारक वह लौहखण्ड उनके सम्मुख उपस्थित किया गया, तो तुरन्त उन्होंने उसे टुकड़े-टुकड़े करवाकर द्वारका के पश्चिमी तट के समुद्र में फिकवा दिया। इसके अनन्तर उन्होंने द्वारका शहर एवं सम्पूर्ण राज्य की जनता में उस ओर न जाने का आदेश प्रसारित किया। अन्त में देह परित्याग कर उन्होंने भगवद्धाम की प्राप्ति की।

बलदेव—ये श्रीवसुदेव जी के पुत्र हैं। रोहिणी जी माता हैं इसलिये ये रोहिणीनन्दन भी कहलाते है। जब श्री वसुदेव जी ने स्वयं कारागृह वास वरण कर लिया तब श्रीरोहिणी ने श्रीनन्द महाराज के गृह में आश्रय लिया। इस प्रकार श्रीनन्द महाराज श्रीकृष्ण के साथ बलराम जी के भी पालक पिता हैं। भगवान् श्रीकृष्ण, एवं बलराम दोनों बाल्यकाल से ही सहचारी मित्र थे। यद्यपि वे दोनों सगे भाई थे वे भगवान् के अंशावतार हैं और इसलिये वे भगवान् श्रीकृष्ण के समान शक्तिशाली हैं। वे विष्णु तत्त्व के मूल उत्स हैं। जो भगवान् के मौलिक स्वरूप से अभिन्न है वे द्रौपदी स्वयम्बर में भगवान् श्रीकृष्ण के साथ उपस्थित थे। जब अर्जुन के द्वारा सुभद्रा हरण की घटना घटी, जो कि श्रीकृष्ण की एक व्यवस्थित योजना थी, तब वल्देव जी अर्जुन पर अत्यन्त कुपित हो उठे और उन्होने अर्जुन को तत्क्षण समाप्त कर देना चाहा। उस अवसर पर श्रीकृष्ण ने बल्देव जी के चरणों में नमस्कार प्रार्थना की कि वे अर्जुन को क्षमा करे। वे उनके मित्र हैं और सुभद्रा के सर्वथा अनुरूप पति हैं। इस प्रकार बल्देव जी सन्तुष्ट हुए। एक बार वे कौरवों के किसी अपराध पर अत्यन्त कुपित हो उठे। और उन्होंने सम्पूर्ण नगरी यमुना नदी मे फेक देने का उपक्रम किया परन्तु समस्त कौरवों ने उनके चरणों में पड़कर क्षमा माँगी। उन्होंने उन्हे भली भाँति सन्तुष्ट किया। वे वास्तव में श्री वसुदेव जी के सप्तम पुत्र थे, परन्तु भगवान् की इच्छा से योगमाया के द्वारा वे श्री रोहिणी के उदर मे प्रविष्ट करा दिये गये। और इस प्रकार कंस के कोप से वे बच सके इस गर्भाकर्षण की घटना के कारण ही उनका नाम सङ्कर्षण हुआ। वे भी श्रीकृष्ण के अंशावतार हैं। अतः भगवान् श्रीकृष्ण तुल्य ही शक्तिशाली थे। अतएव अपने भक्तों पर पर्याप्त आध्यात्मिक शक्ति की वृष्टि करने में समर्थ थे। इसलिये वे बलदेव कहे जाते हैं। इसलिये वेदों मे कहा जाता है कि सर्वोच्च भगवान् को कोई

भी व्यक्ति श्री बलदेव की कृपा के बिना नही जान सकता। बल का अर्थ है "आध्यात्मिक शक्ति" न कि भौतिक शक्ति, कुछ अल्पज्ञ पुरुष बल की व्याख्या शारीरिक शक्ति करते है, परन्तु केवल शारीरिक शक्ति से कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिक उपलब्धि नहीं कर सकता। भौतिक शक्ति भौतिक शरीर के साथ समाप्त हो जाती है, परन्तु आध्यात्मिक-शक्ति जन्म जन्मान्तर पर्यन्त जीव का साथ देती है। और इसलिये बल्देव जी के द्वारा उपलब्ध हुई शक्ति कभी भी नष्ट नही होती, शक्ति नित्य है और इस प्रकार बल्देव सम्पूर्ण भक्तों के मौलिक आध्यात्मिक गुरु है।

श्रीबल्देव जी श्रीसान्दीपनि मुनि के आश्रम मे भगवान् श्रीकृष्ण के साथ विद्याध्ययन करते थे। बाल्यकाल मे भी उन्होंने श्रीकृष्ण के साथ अनेक असुरों का संहार किया। और कुरुक्षेत्र के महाभारत युद्ध में वे तटस्थ रहे। उन्होंने यथाशक्ति प्रयास किया कि यह युद्ध न हो। वास्तव मे वे दुर्योधन को पसन्द करते थे, तथापि श्रीकृष्ण एवं बहिन सुभद्रा के प्रेमवश वे उसका पक्ष न ग्रहण कर सके फलत. वे उदासीन रहे और तीर्थ-यात्रा करने चले गये। जब अन्तिम दिवस दुर्योधन एवं भीमसेन के मध्य गदा-युद्ध हो रहा था तो वे वहाँ अकस्मात् आ उपस्थित हुए। जब भीमसेन ने दुर्योधन की जाङ्घ पर गदा का अन्तिम प्रहार किया तब बलराम जी उन पर अत्यन्त कुपित हुए। और उन्होने इसका प्रतीकार करना चाहा। भगवान् श्रीकृष्ण ने उनके क्रोध से भीमसेन की रक्षा कर ली, परन्तु वे उस स्थान से तत्काल चले गये, और दुर्योधन काल का ग्रास बनता हुआ धरती पर गिर पड़ा। महाभारत युद्ध के अनन्तर अपने प्रिय भानजे अभिमन्यु का मृतक सस्कार श्री बलराम जी ने स्वयं किया, वे उनके मामा थे। पाण्डवों के लिये यह कार्य करना अति असम्भव था क्योंकि वे अत्यन्त शोक पीड़ित थे, अपने जीवन के अन्त काल मे श्री बल्देव जी ने अपने मुख से एक विशाल दीर्घकाय श्वेतवर्ण नाग उत्पन्न कर इस लोक से प्रस्थान किया। और इस प्रकार उन्होंने शेषनाग के द्वारा एक दिव्य सर्प के रूप मे अपने लोक को गमन किया।

प्रद्युम्न—कामदेव अथवा सनत्कुमार के अवतार के रूप में इनकी प्रसिद्धि है। ये भगवान् श्रीकृष्ण के पुत्र रूप में अवतीर्ण हुए। स्वयं श्रीलक्ष्मी देवी श्री रुक्मिणी के रूप में अवतीर्ण हुई थीं। वे द्वारका की अष्ट पटरानियो मे प्रमुख थी। अर्जुन एव सुभद्रा के विवाह में उनका अभिनन्दन करने जाने वाली पटरानियों में वे अग्रणी थी। राजा शाल्व से भयङ्कर-युद्ध करने वाले

सेनापतियों में प्रद्युम्न प्रधान थे, जब वे शाल्व से युद्ध कर रहे थे तो एक वार युद्ध भूमि में तीक्ष्ण शक्ति-प्रहार से अचेत हो गये। इस पर उनके सारथी ने उन्हें वापस शिविर में पहुँचा दिया था। इस कार्य से वे सारथी पर अत्यन्त क्रुद्ध हुए और अत्यन्त कठोर शब्दों में उसकी भर्त्सना करते हुए तत्क्षण वापस युद्ध-भूमि चलने की आज्ञा दी। और शाल्व से भयङ्कर युद्ध किया और उस युद्ध में वे विजयी हुए। उन्होने श्रीनारद से विभिन्न देवताओं की स्थिति कार्य आदि का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया। उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण के चार अंशावतारों, अंश विस्तारों को जाना यह उन्हें अवगत हुआ कि वे उनमे से एक हैं—

उन्होंने साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण से ब्राह्मणों की गरिमा पर जिज्ञासा की और भगवान् श्रीकृष्ण ने उनके प्रश्नों का अभिनन्दन किया, प्रश्नों का स्वागत करते हुए उन्होने जो अमूल्य उपदेश किया है वंह समस्त शास्त्रों में यथोचित वर्णन हुआ है। अन्त मे प्रभास क्षेत्र में यदुवशियों में परस्पर घोर युद्ध हुआ उसमे वृष्णिवंश के प्रायः सभी योद्धा खेत रहे, उन मृत्यु शय्या पर शयन करने वाले वीरो में से एक प्रद्युम्न भी थे। उसके अनन्तर उन्होंने अपनी वास्तविक स्थिति प्राप्त करली।

चारुदेष्ण—भगवान् श्रीकृष्ण एवं रुक्मिणी देवी के एक अन्यतम पुत्र थे। वे द्रौपदी के स्वयम्बर में भी उपस्थित थे। वे अपने बड़े भाई एव पिता की भाँति एक वीर थे। विविन्धक से उनका घोर युद्ध हुआ था। वह विविधक बड़ा वीर था। युद्ध भूमि में उन्होने उसका संहार कर डाला।

साम्ब—यदुवंश के एक श्रेष्ठ वीरों में से एक और भगवान् श्रीकृष्ण की जाम्बवतो नामक पत्नी से उत्पन्न पुत्र थे। उन्होंने अर्जुन से अस्त्र शस्त्रों की विद्या का अध्ययन किया। वे महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के अवसर पर उपस्थित थे। जव समस्त वृष्णिवशी प्रवश यज्ञ में एकत्रित हुए थे, तव सात्यकि ने वलदेव जी के सम्मुख उनके महान् कर्मों का वर्णन किया था। उस अवसर पर भी साम्व अपने पिता भगवान् श्रीकृष्ण के साथ उपस्थित थे जव महाराज युधिष्ठिर ने अश्वमेघ यज्ञ का आयोजन किया था। एक वार द्वारकापुरी के वाहर जहाँ वहुत से ऋषि मुनि एकत्रित हुए थे वहाँ उनका परिहास करते हुए वे एक गर्भवती नारी के रूप में अपने भाईयों के द्वारा उनके समक्ष प्रस्तुत किये गये। उन्होने स्त्री वेषधारी साम्व को सम्मुख करके पूछा कि यह स्त्री क्या जनने वाली है? तव ऋषियों ने कहा था कि

इसके उदर से मूसल उत्पन्न होगा, जो यदुकुल के समस्त वीरों की मृत्यु का कारण बनेगा। दूसरे दिन प्रातःकाल साम्ब ने सचमुच एक मूसल उत्पन्न किया, जो उग्रसेन के समक्ष उपस्थित किया गया, तथा करणीय कार्य की आज्ञा चाही। कालान्तर में एक भयङ्कर युद्ध हुआ और उस युद्ध मे साम्ब की मृत्यु हो गई। जब भगवान् श्रीकृष्ण का द्वारकापुरी में आगमन हुआ, तो उनके ये समस्त पुत्र अपने पिता श्रीकृष्ण से मिलने की आतुरता में अत्यन्त प्रेमवश भाव विभोर हो गये। और समस्त कार्य छोड़कर दौड पड़े। यहाँ तक कि उन्होंने शयन, आसन. एवं भोजन भी छोड़ दिया, और अपने पूज्य पिता के दर्शनार्थ द्रुत गति से दौड़ पड़े।

[१८]

वारणेन्द्रं पुरस्कृत्य ब्राह्मणैः ससुमङ्गलैः।
शङ्खतूर्यनिनादेन ब्रह्मघोषेण चादृताः।
प्रत्युज्जग्मू रथैर्हृष्टाःप्रणयागतसाध्वसाः॥

वारणेन्द्रम्=सुसज्जित हाथी; पुरस्कृत्य=सामने रखकर, ब्राह्मणैः= ब्राह्मणों द्वारा; ससुमङ्गलैः=समस्त माङ्गलिक लक्षणों द्वारा; शङ्ख=शङ्ख; तूर्य=तुरही, निनादेन=निनाद से, ब्रह्म-घोषेण=वेद मन्त्रों के उच्चारण से, च=और, आदृताः=महिमान्वित; प्रति=की ओर; उज्जग्मु=शीघ्रता पूर्वक प्रस्थान किया; रथैः=रथों पर; हृष्टा=अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा मे; प्रण-यागत=प्रेम से आप्लावित हृदय होकर; साध्वसाः=सम्पूर्ण श्रद्धा सम्मान के साथ।

अनुवाद

वे समस्त श्रीकृष्णपुत्र अपने रथो पर सवार होकर ब्राह्मणों को आगे करके पुष्पो की सुन्दर मालाएँ धारण करके भगवान् की ओर दौड़ पड़े तीव्र गति से। उस समय उनके सम्मुख हाथी चल रहे थे जो सौभाग्य के लक्षण थे। तथा ब्राह्मण शङ्ख बजा रहे थे। घन्टे निनादित हो रहे थे। वेद मन्त्रो का उच्चारण हो रहा था। इस प्रकार वे भगवान् श्रीकृष्ण को अपने हृदय का प्रेम, अपने हृदय का सम्मान अर्पित करते हुए उनका स्वागत करने चले जा रहे थे।

तात्पर्य

वैदिक संस्कृति के अनुसार यही स्वागत की पद्धति है। स्वागत करने वाला आदर सम्मान का एक अत्यन्त सुन्दर वातावरण प्रस्तुत कर देता है, जो प्रेम एवं श्रद्धा से सारे वायुमण्डल को पुण्यमय बना देता है। और इसमें जिस व्यक्ति का सम्मान किया जाता है वह भी उस वायुमण्डल की स्नेह-मयिता से आप्लुत हो उठता है, उसका हृदय प्रेम से द्रवित हो जाता है। ऐसा शुभ एवं पवित्र वातावरण उपरोक्त पद्धति से ही निर्मित किया जा सकता है। जैसे—शङ्ख की वाद्य-ध्वनि, पुष्प-वृष्टि, सुगन्धित-धूप, दीपों तथा सजे हुए हाथियों तथा सुशिक्षित ब्राह्मणों के द्वारा वेद-मन्त्रों का उच्चा-रण, वैदिक वाङ्मय का अत्यन्त सुन्दर ललित स्वर में पाठ इन सब के द्वारा एक सत्वगुणमय आध्यात्मिक वायुमण्डल निर्मित हो जाता है। स्वागत का ऐसा कार्यक्रम निष्कपटता, पवित्रता से परिपूर्ण होता है। तथा स्वागत करने वाले तथा स्वागत प्राप्त करने वाले का हृदय भी समस्त उप-स्थित समाज के प्रति निर्मल एव उन्मुक्त हो जाता है।

[१९]

वारमुख्याश्च शतशो यानैस्तद्दर्शनोत्सुकाः ।
लसत्कुण्डलनिर्भातकपोलवदनश्रियः ॥

वारमुख्याः=प्रसिद्ध वेश्याएं; च=और; शतशः=सैकड़ों; यानैः=वाहनों में, तद्-दर्शन=भगवान् के दर्शनार्थ, उत्सुकाः=बहुत उत्सुक होकर; लसत्=सुशोभित; कुण्डल=कुण्डल; निर्भात=प्रतिविम्बित, प्रकाशित होते हुए; कपोल=गाल; वदन=मुख; श्रियः=सौन्दर्य।

अनुवाद

उसी समय सैकड़ों नर्तकियाँ नृत्य करती हुई विभिन्न उपहारों के साथ आईं और वे सब भगवान् के दर्शन के लिए अत्यन्त उत्सुक होकर गायन करने लगी। उनके सुन्दर मुख हिलते हुए कुण्डलों से सुशोभित हो रहे थे जो उनके मुखमण्डल के सौन्दर्य को अत्यधिक उद्भासित कर रहे थे।

तात्पर्य

यदि वेश्याएँ भी भगवान् की भक्ता हों तो हम उनसे घृणा नही कर सकते। अद्यावधि भारत वर्ष के बड़े-बड़े शहरों मे बहुत सी ऐसी वेश्याएं है जो निष्कपटता पूर्वक सम्पूर्ण भाव से भगवद्भवता है। अवसरवश कोई उस व्यवसाय को स्वीकार करने को बाध्य हो सकती है जो समाज में आदरणीय नही है, निकृष्ट है। परन्तु इसका यह अर्थ नही है, कि उनके लिए भगवान् के प्रति प्रेममयी सेवा अर्पित करने का मार्ग ही अवरुद्ध हो गया हो; नही वे भक्त हो सकती हैं। भगवान् के प्रति प्रेममयी सेवा भौतिक वस्तु, व्यक्ति अथवा परिस्थितियों द्वारा किसी भाँति भी रोकी नही जा सकती, यहाँ यह समझना चाहिए कि पाँच हजार वर्ष पूर्व भी वेश्याएँ थी तथा द्वारका में भी थी, जहाँ साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण निवास कर रहे थे। इसका यह अर्थ होता है कि वेश्याएँ समाज की सुव्यवस्था के लिए एक आवश्यक तत्त्व है। सरकार शराब की दुकान खोलती है तो इसका यह अर्थ नही है कि वह मद्यपान के लिए प्रोत्साहित कर रही है। इसका प्रयोजन एकमात्र यही है कि मनुष्य का एक ऐसा भी वर्ग है, जो किसी भी कीमत पर शराब पीना पसन्द करता है। और यह अनुभव किया गया है कि बड़े-बड़े शहरो मे इस पर रोक-टोक बहुत से अवैध काला बाजार आदि अनैतिक व्यवसायों का कारण बनती है लेकिन सरकार किन्ही व्यक्ति विशेष के लिए किन्हीं खास शर्तो पर उपलब्ध करावे तो ऐसे अनैतिक व्यवसाय नही पनप सकेगे। किसी कारण विशेष से जो मनुष्य घर में सन्तुष्ट नही हो पाया, उन्हें सन्तुष्ट करने के लिए वेश्याएँ आवश्यक है। अन्यथा ऐसे व्यक्ति अन्य कुलीन नारियों को भी वेश्या बनने के लिए बाध्य कर सकते है। अतएव यह अच्छा है कि बाजारों मे वेश्याएँ उपलब्ध रहे, ताकि समाज की पवित्रता सुरक्षित रखी जा सके, समाज में वेश्या तत्त्व के प्रोत्साहन से अच्छा यह है कि वेश्याओं का एक वर्ग ही समाज के किसी कोने मे बनी रहें। ताकि समाज की पवित्रता अक्षुण्ण रहे। समाज का वास्तविक सुधार इसी में है कि शासन सत्ता भगवद्भक्ति के आलोक से जनता का हृदय आलोकित करे। यदि समस्त जनता अपना लक्ष्य भगवद्भक्ति बना लेती है; तब जीवन के समस्त उपद्रव-कारक तत्व, विषाक्त प्रभाव स्वयमेव प्रशमित हो जाते है।

श्री बिल्वमङ्गल ठाकुर जो विष्णु स्वामी वैष्णव सम्प्रदाय के एक

श्रेष्ठ आचार्य है, अपने गृहस्थ जीवन में एक वेश्या से अत्यन्त मोहाविष्ट थे। वह चिन्तामणि वेश्या भगवान् की भक्ता थी। एक रात्रि आकाश से बादलों की भीषण गर्जना के साथ घोर वर्षा हो रही थी, फिर भी विल्वमङ्गल ठाकुर किसी प्रकार वहाँ आ ही पहुँचे। चिन्तामणि अत्यन्त विस्मित हो उठी। उन्होंने पूछा कि वे ऐसी भयङ्कर रात्रि मे भीषण रूप से बाढ आई हुई नदी को पार कर यहाँ कैसे आ सके ? उन्होने आगे कहा कि ठाकुर विल्वमङ्गल आपका जो आकर्षण इस मांस, रक्त, हड्डियों के तुच्छ पुतले पर है वह तब सफल एवं सार्थक हो सकता है, जब यह भगवद्भक्ति की ओर प्रवाहित हो सके। भगवान् के दिव्य सौन्दर्य की ओर जिस दिन यह आकर्षण अभिमुख हो जायेगा उसी दिन इसका साफल्य है। और वह ठाकुर के जीवन का अत्यन्त बहुमूल्यतम क्षण था। वे तुरन्त ही घर-द्वार त्याग करके, गृहस्थ जीवन का परित्याग करके भगवद्भक्ति की खोज मे चल पड़े। कालान्तर में उन्हें भगवत्प्राप्ति हुई पर उस वेश्या को उन्होंने अपना धर्मगुरु माना और अपने द्वारा निर्मित साहित्यों मे उन्होने कतिपय स्थलों में चिन्तामणि शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने उस वेश्या को भी आदर एवं महिमा प्रदान की जिसने उनके जीवन में प्रकाश का मार्ग प्रदर्शित किया। भगवद्गीता (९।३२) में भगवान् कहते है हे पृथा पुत्र अर्जुन, जो निम्नकुलोत्पन्न चाण्डाल तथा अविश्वासियो एवं वेश्याओ से उत्पन्न हुए है वे भी जीवन की परिपूर्णता को प्राप्त कर सकते है यदि वे अनन्य प्रेममयी अहैतुकी भक्ति का आश्रय ग्रहण करें। क्योंकि प्रेममयी सेवा के सन्दर्भ मे जन्म एवं व्यवसाय पर आधारित कोई भी तत्व चिन्तनीय नहीं होता है। यह मार्ग सभी के लिये सर्वथा अनुगमनार्थ प्रस्तुत है। अनावृत है। खुला हुआ है। सदा के लिये। ऐसा दृष्टिगोचर होता है कि द्वारका की वेश्याएँ जो भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शनार्थ अत्यन्त उत्सुक थी वे भगवान् की अनन्य भक्ता थी और भगवद्गीता के उपरोक्त वक्तव्य के अनुसार वे भगवान् के भक्ति मार्ग में आरूढ परम भाग्यशालिनी नारियाँ थी। इसलिये समाज के सुधार के लिये जो आवश्यक तत्व है वह केवल इतना ही है कि नागरिकों को हम किसी भाँति भगवद्भक्तों मे रूपान्तरित कर सकें। और इस प्रकार समस्त देवोपम गुण उनमे स्वतः आविर्भूत होने लगते है। इसके विरुद्ध जो अभक्त हैं वे कभी शुभ गुणों से सम्पन्न नही हो सकते। शुभ गुणों से युक्त दिखाई पड़ने पर भी वे भीतर से दुर्गुणों से युक्त होंगे। उनका शुभ गुण सदा ही क्षणिक होता है। किसी भाँति वे भौतिक दृष्टि से समृद्ध ही क्यों न

हों, तथापि भगवान् के भक्तों एवं अभक्तों मे आकाश पाताल का अन्तर होगा। भगवान् का भक्त सर्वथा स्वतन्त्र, निर्भय एव निःशङ्क रहेगा, सुखी एव शान्त रहेगा जबकि धर्म निरपेक्ष व्यक्ति सांसारिक भोगों में निरन्तर बँधता रहेगा वह उत्तरोत्तर फँसता ही जायेगा। भौतिक वन्धनों से जकड़ता ही जायेगा। सभ्यता में अति उन्नत अधिक अभिवृद्ध होने का लक्षण यही है कि व्यक्ति मुक्ति प्राप्ति के मार्ग पर प्रेममयी सेवा के मार्ग पर अधिक सुशिक्षित हों। अनुभूतियों मे अधिक समृद्ध हों।

[२०]

नटनर्तकगन्धर्वाः सूतमागधवन्दिनः।
गायन्ति चोत्तमश्लोक चरितान्यद्भुतानि च ॥

नट=नाट्य करने वाले, नर्तक=नृत्य करने वाले; गन्धर्वाः=देवलोक के गायक; सूत=ऐतिहासिक; मागध=वंशावली गायन करने का व्यवसाय करने वाले; वन्दिनः=व्यावसायिक प्रवचन करने वाले, गायन्ति=गाते हैं; च=और; उत्तम-श्लोक=उत्तम कविताओं से गाये जाने वाले भगवान् श्री कृष्ण; चरितानि=चरित्र; अद्भुतानि=अतिमानवीय; च=और।

अनुवाद

कुशल नाटककार, कलाकार, नृत्यकार, गायक, ऐतिहासिक, वंशावली-गायक एवं विद्वान् वक्ता ये सब अपनी कलाओं एवं गुणों के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति सादर अभ्यर्थनाएँ अर्पित करने लगे। भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं से उनके मन और प्राण आन्दोलित हो रहे थे। इसी मनोदशा में वे क्रमशः आगे बढ़ने लगे।

तात्पर्य

पाँच हजार वर्ष पूर्व भी समाज नाटककारों, कलाकारों, गायकों, ऐतिहासिकों, वंशावली गायको एवं वक्ताओं की आवश्यकता अनुभव करता था। नृत्यकार, गायक एवं नाटककार प्रायः शूद्र वर्ण के व्यक्ति होते थे जब कि विद्वान्, ऐतिहासिक, वंशावली-गायक एवं वक्ता ब्राह्मण वर्ण के व्यक्ति

होते थे। वे समस्त विभिन्न जातियों के होते थे और अपने-अपने परिवारों में तत्तत्कार्यों में भलीभाँति शिक्षित एवं दीक्षित किये जाते थे। ऐसे नाटककार, नृत्यकार ऐतिहासिक-वंशावली-गायक एवं वक्ता भगवान् के ऐसे अतिमानवीय पराक्रमपूर्ण कार्यों का वर्णन करते थे जो अनेक कल्पों में नये-नये अवतार धारणकर, किए गये है। उन समस्त लीलाओं का शब्दचित्र प्रस्तुत करने में वे अत्यन्त कुशल होते थे। तथा इन्ही के आधार पर नृत्य, नाटक एवं वक्तृताये हुआ करती थी। ये समस्त पुराण ऐतिहासिक तथ्य हैं जो भगवान् के विभिन्न लोको में, विभिन्न कल्पों मे हुए विभिन्न अवतारों का वर्णन करते है। इसलिये पुराणो मे घटनाओं के वर्णन मे कोई घटना क्रम या समयक्रम नहीं होता है। आधुनिक ऐतिहासिक पुराणो को इसलिए हृदयङ्गम नही कर सकते क्योंकि वे उनमें समय क्रम एव घटनाक्रम एवं कलियुगाक्रान्त सामर्थ्य-सम्भावना का अन्वेषण करते है और इस प्रकार वे अनधिकार चेष्टा करते हुए पुराणो को काल्पनिक कथाये कहकर अपनी अदूरदर्शिता एवं अल्पबुद्धिमत्ता का परिचय देते है। पुराण सर्वथा ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक है।सौ वर्ष पूर्व भारत में समस्त नृत्य, कविताएँ एव नाटक-समारोहों की कथावस्तु भगवान् की अतिमानवीय लीलाओं का आधार लेकर ही निर्मित होती थी। सामान्य व्यक्ति नाटकों एवं यात्रा सङ्घो द्वारा अभिनीत भगवान् की आश्चर्यमयी-लीलाओं का ही रसास्वादन करते थे। भगवल्लीलाओ से ही मनोरञ्जन करते थे। और इस प्रकार एक अशिक्षित ग्रामीण कृषक भी महाविद्यालय आदि की उच्च शिक्षाओं के बिना भी वैदिक साहित्य का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लेता था। इसलिए नाटक नृत्य एवं वक्तृत्व कला के द्वारा सामान्य जनता में आध्यात्मिक प्रकाश का प्रदीप प्रज्वलित करने वाली अनेक सस्था एवं सङ्गठनों की आवश्यकता पडती है। वंशावली गायक परिवार विशेष के समूचे वंश मे होने वाले सम्पूर्ण व्यक्तियों का परिचय जानता था। और उसे अवसर विशेष पर प्रस्तुत करता था। आजकल भी जब तीर्थयात्री किसी तीर्थ में पहुँचते है तो वहां उन्हें अपने कुल पुरोहित से अपने वंश के विभिन्न व्यक्तियों का नाम एवं उनके स्वभावों का यथातथ्य वर्णन प्राप्त होता है। यह आश्चर्यजनक सूचनाये यात्रियों को दूर देश निवासी अपरिचित व्यक्ति के साथ भी अपनत्व का भाव उत्पन्न कराती है।

[२१]

भगवांस्तत्र बन्धूनां पौराणामनुवर्तिनाम् ।
यथाविध्युपसंगम्य सर्वेषां मानमादधे ॥

भगवान्=श्रीकृष्ण; तत्र=उस स्थान में; बन्धूनाम्=मित्रों का; पौराणाम्=नागरिकों का; अनुवर्तिनाम्=अनुगामी जनों के साथ, यथा-विधि=यथा योग्य; उपसङ्गम्य=समीप जाकर, सर्वेषाम्=प्रत्येक के लिये; मानम्=सम्मान, आदधे=प्रदान किया ।

अनुवाद

भगवान् श्रीकृष्ण शनैः-शनैः द्वारका वासियो के सन्निकट आ पहुँचे । लम्बे समय के पश्चात् उनका अति समीप से दर्शन पाकर द्वारकावासियों के नेत्र एवं प्राण उनके प्रति प्रेम, आदर एवं सम्मान से भर उठे । प्रत्येक मित्र, प्रत्येक सुहृद्, प्रत्येक नागरिक तथा अन्यान्य समागत व्यक्तियो ने अपनी अभ्यर्थनाएँ, अपना अभिनन्दन भगवान् को अर्पित किया, उनका स्वागत किया ।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण न तो निर्गुण निराकार है और न भक्तों की भाव-नाओ को ग्रहण करने मे अक्षम नि शक्तिक तत्त्व । यहाँ ''यथा विधि'' शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है और यह सूचित करता है कि लोगों की विभिन्न रुचियो, सामाजिक व्यवस्थाओं, एवं अवस्थाओ के अनुरूप ही भगवान् ने सब का यथाविधि स्वागत स्वीकार करते हुए उन्हें अपना स्नेह अर्पित किया । यह ''यथाविधि'' शब्द भगवान् एवं उनके विशिष्ट भक्तो के बीच एक नवीन, एक अद्‌भुत सम्बन्ध का निर्देश करना है । सचमुच विशुद्ध भक्त केवल भग-वान् को ही अपना सेव्य बनाते हैं । भगवान् की ही सेवा उनके जीवन का एकमात्र प्रयोजन होती है । और इसलिए वे ऐसे विशुद्ध भक्तों को वैसे ही "यथाविधि" अपना प्रेम प्रदर्शित करते है । सदा सर्वदा अपने विशुद्ध भक्तों की छोटी बड़ी समस्त रुचियों एवं अभिलाषाओं के प्रति भी वे अति जागरूक रहते है । इस प्रकार किसी भी व्यक्ति के लिये उन्हे निराकार घोषित करने

का कोई अवकाश नही है। और भगवान् की भी ऐसे व्यक्तियों में कोई व्यक्तिगत, रुचि नही है जो उन्हें नि.शक्तिक, निराकार माने हुए बैठे है। वे अप्राकृत-चेतना के विकास के आधार पर अपने भक्तों को सन्तुष्ट करते है। और ऐसे व्यवहार का आदर्श यहाँ स्वागत करने आये हुए विभिन्न भक्तों के साथ व्यवहार में पाया जाता है।

[२२]

प्रह्वाभिवादनाश्लेषकरस्पर्शस्मितेक्षणैः ।
आश्वास्य चाश्वपाकेभ्यो वरैश्चाभिमतैर्विभुः ॥

प्रह्वा=मस्तक झुकाकर प्रणाम करके; अभिवादन=मधुर वाणी द्वारा स्वागत; आश्लेष=आलिङ्गन, कर-स्पर्श=हाथ मिलाकर, स्मित-ईक्षणैः=मन्द हास्य पूर्वक देखकर; आश्वास्य=आश्वासन प्रदान द्वारा, च =और; अश्वपाकेभ्यः=समस्त चाण्डाल पर्यन्त, वरैः=वरों द्वारा, च=भी; अभिमतै.=अभीष्ट पदार्थो के प्रदान से; विभुः=सर्व शक्तिमान भगवान् ने।

अनुवाद

सर्वशक्तिमान् भगवान् ने वहाँ उपस्थित समस्त जनता के अनुरूप उनका विभिन्न प्रकार से स्वागत किया। उन्होने वयोवृद्धों को नमस्कार किया। किन्ही सौभाग्यशालियो को आलिङ्गन किया। किन्ही से उन्होने हाथ मिलाया। कुछ लोगो को उन्होंने देखा और मुस्कराया। और कुछ लोगो को उन्होंने मस्तक हिलाकर स्वीकृति के सकेत पूर्वक स्वागत किया। कुछ व्यक्तियों को उन्होंने उपहार प्रदान कर स्वागत किया। यहाँ तक कि उन्होंने निम्न वर्ग के व्यक्तियो को भी अपना प्रेम अर्पित किया।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण के स्वागत के लिये वहाँ विभिन्न स्तरों की असंख्य जनता उपस्थित थी। श्रीवसुदेव, उग्रसेन. गर्गमुनि, पिता, प्रपिता, शिक्षक, इत्यादि से लेकर वेश्याएँ एव चाण्डाल तक वहाँ उपस्थित थे, उन सबने भगवान् श्रीकृष्ण से यथोचित स्वागत प्राप्त किया। सभी के हृदय में भगवान्

के प्रति अनन्य प्रेम उमड़ पड़ा, प्रत्येक प्राणी वस्तुत: भगवान् का अंश है, भगवान् से उनका अविनाभाव सम्बन्ध है। और इस प्रकार कोई भी उनके नित्य-सम्बन्ध से पृथक् नहीं है। ऐसे शुद्ध जीव भौतिक प्रकृति की आसक्तियों के विभिन्न धरातलों द्वारा विभिन्न वर्गो में अवश्य विभाजित कर दिये गये हैं, परन्तु भगवान् अपने उन सभी अंशों, अङ्गों एवं अशांश विशेषों के प्रति समान रूप से स्नेह पूर्ण रहे आते है। इन भौतिक प्रकृति के विभिन्न वर्गो एव विभाजनों पर उनका कोई आग्रह नही है। उनका एकमात्र आग्रह भक्ति पर है। वे संसार में अवतरित होते है तो केवल इसलिए कि वे भौतिक वासनाओं कामनाओं में आवद्ध जीव को एक वार पुन: पुकार ले। गड्ढे में गिरने से उन्हें बचाले, उनसे आ मिले भगवद्धाम मे। तथा बुद्धिमान् व्यक्ति इस सुविधा का लाभ उठाते है। कोई भी जीव भगवद्धाम की प्राप्ति से वञ्चित नही किया जाता। यह जीवों पर ही निर्भर करता है कि वह भगवत्प्रदत्त इस सुविधा को स्वीकार करे अथवा अस्वीकार करदे।

[२३]

स्वयं च गुरुभिर्विप्रैः सदारैः स्थविरैरपि ।
आशीर्भिर्युज्यमानोऽन्यैर्वन्दिभिश्चाविशत्पुरम् ॥

स्वयम्=स्वयं; च=भी, गुरुभि:=वयोवृद्धों द्वारा, विप्रै:=ब्राह्मणों द्वारा; सदारै.=पत्नियों सहित; स्थविरै.=स्थविरों द्वारा, अपि=भी; आशीर्भि:=आशीर्वादों द्वारा; युज्यमान:=प्रसंसित होकर; अन्यै:=अन्यों के द्वारा; वन्दिभि:=व्यावसायिक प्रवचनकारों द्वारा भी; च=और, प्राविशन्=प्रवेश किया; पुरम्=अपनी नगरी को।

अनुवाद

तब भगवान् ने सपत्नीक ब्राह्मणों स्थविरों एवं वयोवृद्ध सम्बन्धियों से घिरे हुए नगर में प्रवेश किया उस समय समस्त पुरवासी-गण सम्मिलित कण्ठ से भगवान् को आशीर्वाद देते हुए उनकी महिमा का गायन कर रहे थे तथा अन्य भी अनेक प्रकार से उनकी स्तुति करते हुए उनकी महती गरिमा का विशद् गायन कर रहे थे।

तात्पर्य

समाज में ब्राह्मण कभी भी धन एकत्रित करने की ओर उत्सुक नही होते थे। जब वे वृद्ध होते थे तो वे पत्नी सहित राजाओं की सभा में चले जाते थे वहाँ उनके विशिष्ट शौर्य वीर्य एवं पराक्रमो तथा प्रजापालन के लिए किये गये त्याग एवं बलिदानों का विशिष्ट कलापूर्ण श्लोकों में गायन करते थे। इस पर उन्हें राजाओं की ओर से जीवन की समस्त अभिलषित आवश्यक वस्तुओं का दान प्राप्त हो जाता था। ऐसे ब्राह्मण राजाओं के तथाकथित खुशामदी या चाटुकार नही होते थे अपितु इसके विपरीत राजा उनकी कला-कृतियो एवं गायन से महिमान्वित होते थे। और वे उत्तरोत्तर शुभ कार्यो एव धार्मिक कार्यो के सम्पादनार्थ अत्यधिक उत्साहित होते थे। भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण महिमाओं एवं गरिमाओं के परम आश्रय है। उनके नाम यश से सम्बन्धित कविताओं एव श्लोको को ब्राह्मण एवं नगरवासी भी गा-गाकर स्वयं भी महिमान्वित हो उठे। और भगवान् भी अपनी स्नेह भरी दृष्टि से उनका अवलोकन करते हुए चले जा रहे थे।

[२४]

राजमार्गं गते कृष्णे द्वारकायाः कुलस्त्रियः ।
हर्म्याण्यारुरुहुर्विप्र तदीक्षणमहोत्सवाः ॥

राज-मार्गम्=राजमार्ग को; गते=जब पार कर रहे थे; कृष्णे=भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा; द्वारकायाः=द्वारका नगरी के; कुलस्त्रियः=सम्मान्य परिवार की महिलाये; हर्म्याणि=राजमहलों पर; आरुरुहुः=जा चढी; विप्र=हे ब्राह्मणों, तत्-ईक्षण=उन्हे देखकर, महा-उत्सवाः=महा-उत्सव छा गया नेत्र एव प्राणों में।

अनुवाद

जब भगवान् श्रीकृष्ण राजमार्ग से निकले उस समय द्वारकापुरी की समस्त सामान्य परिवारों की महिलाएँ अपने महलों की छतों पर चढ़ गयीं एव वहाँ से भगवान् श्रीकृष्ण का दर्शन करने लगी कृष्ण-दर्शन का आनन्द ऐसा अपार था कि वह उन्हें एक अन्तहीन महोत्सव सा लगा।

तात्पर्य

भगवान् का दर्शन निःसन्देह एक महान् उत्सव है। जैसे कि द्वारका की नारियों को प्रतीत हो रहा है। अद्यावधि भारतवर्ष की भक्त महिलाओ द्वारा इस प्रथा का अनुगमन किया जाता है। विशेषकर झूलन लीला एव जन्माष्टमी के अवसर पर भगवान् के दर्शन का महान् उत्सव होता है। इसलिए भारत की महिलाएँ अपार सख्या में भगवान् के मन्दिर मे दर्शनार्थ उपस्थित होती है,जहाँ उनके दिव्य-श्रीविग्रह की, नित्य-अर्चावतार की समर्चना होती है। मन्दिर मे पूजित होने वाले अर्चाविग्रह भगवान् के मौलिक दिव्य-स्वरूप मे पृथक् नही है। वे अभिन्न है। वे एक है। भगवान् के ऐसे अवतार "अर्चाविग्रह" कहलाते है। "अर्चावतार" कहलाते हैं। यह अवतार भी उनकी अतरङ्गा शक्ति के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। ताकि उन असख्य भक्तों के लिए प्रेममयी सेवा की सुविधा प्रदान की जा सके जो भौतिक जगत् मे भटक रहे है। भौतिक इन्द्रियो से भगवान् का अप्राकृत स्वरूप कदापि ग्रहण नही हो सकता,कदापि अनुभव नही किया जा सकता। और इसलिये साक्षात् भगवान् ही स्वय "अर्चाविग्रह" धारण करते है जो बाह्य रूप से स्थूल दृष्टि से तो मिट्टी, लकड़ी, पत्थर इत्यादि से निर्मित पदार्थ प्रतीत होते है परन्तु वास्तव मे वहाँ उनमे उनका कोई भौतिक सश्लेश नही होता। भौतिकता का उसमे कोई लेशमात्र भी समावेश नही होता। भगवान् 'कैवल्य" हैं—अर्थात् "केवल एक" "पदार्थ-विहीन" "अद्वितीय"। वे अणु परमाणुओ से रहित, अतीन्द्रिय, चिन्मय, अप्राकृत, दिव्य एव अद्वितीय होते है। इसलिये सर्वशक्तिमान् भगवान् किसी भी रूप मे प्राकृत तत्वो से, भौतिक तत्त्वो से भिन्न रहते हुए, असंपृक्त रहते हुए, अससक्त रहते हुए, अपनी पूर्ण अप्राकृतता एव चिन्मयता मे प्रकट हो सकते है। इसलिये मन्दिरो मे भगवान् का उत्सव जैसे सामान्यत सर्वत्र मनाया जाता है, वे उत्सव उन्ही उत्सवो के समकक्ष है जो ५००० वर्ष पूर्व भगवान् के द्वारका निवास काल मे उनकी उपस्थिति मे मनाये गये थे। अभी भी प्रत्येक मन्दिरो मे, प्रत्येक तीर्थो मे, प्रत्येक नगरों मे जो उत्सव मनाये जा रहे है वे उत्मव यदि भगवान् से सम्वन्धित है तो निश्चित ही वे द्वारका के उन उत्सवों के समकक्ष है जिनमे सम्मुख स्वय भगवान् विराजमान है। और प्रामाणिक आचार्य जो इस भगवत्तत्त्व विज्ञान का रहस्य भलीभाँति जानते है, कुछ निश्चित सिद्धान्तो के आधार पर सामान्य जनता की सुविधा को दृष्टि मे रखकर उन्हे भगवदोन्मुख करने के उद्देश्य से मन्दिरो का निर्माण

किया है परन्तु वे व्यक्ति जो अल्प बुद्धिमान् है, इस गूढ़ विज्ञान को भली-भाँति न जानकर, रहस्य से, मर्म से अनभिज्ञ रहते हुए इसे केवल मूर्तिपूजा कहने की अनधिकार चेष्टा करते हुए भगवच्चरणो में एक महान् अपराध करते हैं। इसलिये वे नर-नारियाँ जो भगवान् के मन्दिरो मे उत्सव मनाते है, जितनी वार भगवान् के दिव्य विग्रह को देखते जाते है उतना ही उन्हें गहनतम दिव्य सौन्दर्य, का दर्शन प्राप्त होता है। हजारों वार वे दर्शन करते है और हजारो गुनी उनकी दृष्टि दूरदर्शिनी होती जाती है और दृष्टि की स्थूलता एव भौतिकता के स्थान मे चिन्मयता आती जाती है जो श्रद्धाहीन अविश्वासियों के जीवन में कदापि सम्भव नही है।

इस श्लोक से यह ज्ञात होता है कि द्वारका मे प्रत्येक नागरिको के बड़े-बड़े राजमहल थे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि नगर अत्यन्त-समृद्ध था। महिलाएँ भगवान् की शोभायात्रा देखने के लिए। उनके मधुर मनोहर दिव्य-स्वरूप का दर्शन पाने के लिए छतो पर जा चढी। वे महिलाएँ मार्ग की भीड में एक नही हो गयी, मार्ग के अपार जनसमूह में नही घुस पडी, अपितु छतों पर जा चढी। जो एक शालीन, कुलीन कुलबधू के लिए स्वाभाविक है। वे सम्मानिता थी और उसी सहज सम्मान्य आचरण गरिमा से वे भगवान् का दर्शन करने लगी। पुरुषों की समकक्षता उपलब्ध करने के लिए उन सबमें कोई कृत्रिम अमर्ष आन्दोलन नही प्रारम्भ किया गया। स्त्रियो के लिए पुरुषो द्वारा सम्मान प्राप्त करने की योग्यता तभी जानी जाती है और औचित्य की सीमा मर्यादा तभी हमे प्रतीत होती है जव वे पुरुषों से पृथक् रहे। जव वे लज्जा संकोच आदि नार्योचित गुणो से सम्पन्न, समृद्ध हों। वे नरों को चुनौती देकर सत्याग्रह कर अपनी गरिमा न खो दे। वैदिक अनुशासन में रहे। सास्कृतिक मर्यादा मे रहे। शास्त्रो मे निर्दिष्ट पालनीय सिद्धान्तों का मानना, पालना हो उनके जीवन का परम आदर्श होना चाहिए।

[२५]

नित्यं निरीक्षमाणानां यदपि द्वारकौकसाम्।
न वितृप्यन्ति हि दृशः श्रियोधामाङ्गमच्युतम्॥

नित्यम्=प्रतिदिन; निरीक्षमाणानां=उन्हे देखा करते थे, यत्=यद्यपि, अपि=तथापि, द्वारका-औकसाम्=द्वारकापुरी के निवासी; न=कभी

नही, वितृप्यन्ति=तृप्त हुए, सन्तुष्ट हुए; हि=निश्चित ही; दृशः=दृष्टि से, श्रियः=सौन्दर्य; धाम-अङ्गम्=उनका श्रीविग्रह जो सौन्दर्य का अनन्त धाम है, अच्युतम्=अच्युत भगवान् श्रीकृष्ण।

अनुवाद

द्वारका के निवासी प्रतिदिन भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन के अभ्यस्त थे, जो सौन्दर्य के एकमात्र धाम हैं उन अच्युत भगवान् का नित्य दर्शन करते हुए वे कभी भी सन्तुष्ट न हो सकी।

तात्पर्य

जब द्वारका की नागरिकाएँ भगवान् के दर्शनार्थ अपने महलों की छतों पर जा चढी और दर्शन करने लगी तो उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था कि वे भगवान् अच्युत को जीवन में सर्व प्रथम देख रही है। उनके दर्शन की आतुरता अपरम्पार थी। यह सकेत करता है कि उन्हे भगवान् के दर्शन में कभी सन्तोष न हो सका था। कोई भी भौतिक पदार्थ जब कई बार देखा जाता है तो उसका आकर्षण समाप्त हो जाता है उसे पुन. देखने की इच्छा नही होती। यही प्रकृति का नियम है। यही सन्तुष्टि का भी नियम है। यह नियम भौतिक स्तर पर ही सक्रिय होता है, परन्तु अप्राकृत जगत् में इसके प्रवेश का कोई उपाय नही। "अच्युत" शब्द यहाँ अधिक महत्वपूर्ण है यद्यपि भगवान् कृपा करके इस धरातल पर अवतीर्ण हुए हैं तथापि वे अच्युत है। जीव मात्र च्युत हैं। अर्थात् च्युत होने योग्य हैं। जीव च्युत होते ही रहते है। असफल होते ही रहते है। क्योंकि ज्योंही वे भौतिक जगत् में जन्म लेते हैं, त्यों ही वे अपने वास्तविक अप्राकृत सत्ता की विस्मृति के कारण विवश होकर इस देह से आबद्ध हो जाते हैं। इसे ही "मैं" मानने लगते हैं। और इस प्रकार जन्म, विकास, मृत्यु आदि नाना प्रकार के क्लेश-दायक प्रकृति के नियमों के जाल में पड़ जाते है। भगवान् का दिव्य विग्रह इस प्रकार प्रकृति-नियन्त्रित नहीं है। वे जैसे हैं; वैसे ही यहाँ आविर्भूत होते है। और भौतिक प्रकृति के नियम उन पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते। त्रिगुण की वृत्तियाँ उनका स्पर्श भी नहीं कर पातीं। उनका दिव्य देह इस विश्व में परम मङ्गल की परम सम्भावना है। वह समस्त सौन्दर्या-नुभूतियो की आत्यन्तिक सीमा है। अक्षय भण्डार है। और इसलिए कोई

भी व्यक्ति उनके श्रीविग्रह की छटा को देखने में कभी भी सन्तुष्ट नही हो पाता, वे नित्य-निरन्तर नवीन-नवीन सौन्दर्यों का प्रागट्य करते रहते है। नित्य नवीन सौन्दर्य उनके श्रीविग्रह से उद्भासित होता रहता है। भगवान् के नाम, रूप,गुण, पार्षद यह सब अप्राकृत सत्ता का प्रतिफलन है, प्रतिविम्वाङ्कन है। अप्राकृतत्व का ही प्रकटीकरण है वह अप्राकृतत्व ही आविर्भूत हुआ है उन रूपों में इस जगत् में। और इसलिए भक्तों को भगवान् के पवित्र नामों का उच्चारण गायन से कभी सन्तुष्टि नही होती। भगवान् के दिव्य गुणो पर वार्तालाप करने में अलम् भाव नही होता। और भगवान् की लीलाओं की कोई सीमा नही है। वे इस समग्र अस्तित्व के परम उत्स हैं अतः सीमातीत है।

[२६]

श्रियो निवासो यस्योरः पानपात्रं मुखं दृशाम्।
बाहवो लोकपालानां सारङ्गाणां पदाम्बुजम्॥

श्रियः=भाग्य की अधिदेवी लक्ष्मी का, निवास.=निवास; यस्य=जिसके; उर =हृदय; पान-पात्रप्=पीने का वर्तन; मुखम्=मुख; दृशाम्=नेत्रों का, बाहव.=भुजाएँ; लोक-पालानाम्=देवताओ के पालन करने वाले; सारङ्गाणाम्=निरन्तर भगवत्सम्वन्धी वार्ता चर्चा करने वाले भक्त गण; पद-अम्वुजम्=चरण-कमल।

अनुवाद

भगवान् श्रीकृष्ण का हृदय भाग्य की अधीश्वरी लक्ष्मीदेवी का नित्य आवास है। उनका चन्द्रमा के समान मुखमण्डल नये-नये सौन्दर्य के अन्वेषक-नेत्रों के लिए पान पात्र है। उनकी भुजाएँ चौदह भुवनों के समस्त सत्तारूढ़ देवताओं के लिए विश्राम स्थल है। और उनके चरण-कमल उनके विशुद्ध भक्तों के परम आश्रय है। जो उनकी लीला उनके गुण, उनके नामो के सिवाय कुछ भी गाने में, कुछ भी वार्तालाप करने मे कभी उत्सुक नही होते।

तात्पर्य

मनुष्यों के अनेक वर्ग है परन्तु वे अनेक होकर अनेक विषयों में मलग्न होकर भी केवल एक आनन्दानुभूति की खोज करते रहते है । प्राय' वे ऐसे व्यक्ति है जो भाग्य की अधीश्वरी लक्ष्मी की कृपा प्राप्त करने के लिए लालायित है । उनके लिये वैदिक वाङ्मय का निर्देश है कि भगवान् सदा सर्वदा सहस्र सहस्र भाग्य की अधीश्वरी लक्ष्मीदेवी से अपने चिन्ता-मणि-धाम नामक अप्राकृत धाम मे अर्चित होते रहते है ।

चिन्तामणिप्रकरसद्मसुकल्पवृक्ष-
लक्षावृतेषु सुरभिरभिपालयन्ताम् ।
लक्ष्मी-सहस्र-शत-सम्भ्रम सेव्यमानं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ।।

—ब्रह्म संहिता ५।२९

भगवान् अपने ऐसे चिन्तामणि-धाम में सहस्र-सहस्र लक्ष्मियों द्वारा निरन्तर सेवित होते रहते हैं । समस्त वृक्ष वहाँ कल्पवृक्ष हैं । तथा समस्त निवास स्थान वहाँ पारसमणियों के बने हुए है । और भगवान् गोविन्द वहाँ अनेकानेक सुरभि गौओं के मध्य विराजमान है । यदि ऐसी बात है तो भाग्य की अधीश्वरी लक्ष्मी स्वाभाविक रूप से मिल जायेगी, यदि हम भगवान् के दिव्य विग्रह की ओर आकर्षित होते हैं । निराकारवादी को भाग्य की अधीश्वरी का दर्शन ही नही हो पाता । क्योंकि शुष्क, तार्किक एवं अश्रद्धा का भाव उनके नेत्रों में जड़िमा उत्पन्न कर देता है, हृदय एवं नेत्रों को पथ-रीला बना देता है और जो वे देख पाते है वह उनका मानस प्रक्षेप होता है । और जो कलाकार है वे सृष्टि के सौन्दर्य जाल में फंसे हुए है उनके लिए यह अच्छा होगा कि वे भगवान् के मुखचन्द्र को देखकर अपने हृदय में तृप्ति का अनुभव करना सीखे ।

भगवान् का मुखचन्द्र सौन्दर्य की घनीभूत मूर्ति है । कवि जिसे सुष-मामय प्रकृति कहते है वह भगवान् की मधुमय मुस्कान है । और वे जिसे पक्षियों का सुमधुर गीत कहते है । वे भगवान् के सुमधुर वार्तालाप का एक स्थूलतम प्रतीक है । और तीनों भुवनों के सञ्चालक विभिन्न देवी देवता उनकी सेवा मे अपने कर्तव्य का पालन करते हुए सृष्टि के संरक्षण कार्य में सलग्न रहा करते है । वे शासन के अत्यन्त लघु प्रशासक हैं । और वे सदा

प्रतिद्वन्द्विता से भयभीत बने रहते है, किन्तु यदि वे भगवान् की भुजाओ का आश्रय ग्रहण करते है तो भगवान् सदा शत्रुओं के आक्रमण से उनकी रक्षा करते है। भगवान् का निष्कपट एव कर्तव्य-परायण भक्त सामान्य जनता के हितो की रक्षा के लिए प्रशासन कार्यो मे भी संलग्न होता है। दूसरे तथाकथित शासक तो केवल तानाशाही के प्रतीक-मात्र है। जो उनकी प्रजा वनकर रहेगे उन्हे वे दुखों के गर्त में डालते रहते है। प्रशासक जब एक मात्र भगवान् की भुजाओ का आश्रय ग्रहण करते है तभी सुरक्षित रह सकते है, निश्चिन्त एवं निर्भय रह सकते है। समस्त तत्त्वो के सार साक्षात् भगवान् श्री कृष्ण है इसलिए वे "सारम्" कहे गये है। और जो उनकी लीलाओं का गायन करते है, उनके सम्वन्ध मे वार्तालाप करते रहते है, उन्हे "सारङ्ग" कहा जाता है। "सारङ्ग" का अर्थ है विशुद्ध भक्त। और विशुद्ध-भक्त सदा उनके चरण कमलों के मधुकर होते है। भगवान् के चरण कमलों में सदा एक प्रकार का मधु होता है। मकरन्द होता है। जो विशुद्ध भक्तो के द्वारा निरन्तर आस्वादित होता रहता है। वे उन भ्रमरो की भाँति है जो मधु के पास सदा उडते ही रहते है। गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के एक महान् आचार्य श्रील रूपगोस्वामी ने इन्ही चरण-कमल के मधु के विषय मे एक गीत गाया है जिसमे स्वय को उन्होने एक मधुकर के रूप में वर्णन किया है। हे मेरे भगवान् श्रीकृष्ण ! मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि मेरा मन-भ्रमर जो सदा किसी अप्राकृत मधु की खोज मे व्याकुल होकर भटकता रहता है। इसे अपने चरण-कमलो का दिव्य मधुर मधुपान करा दीजिये। मै जानता हूँ कि ब्रह्मा शिव, आदि बड़े-बड़े देवता भी आपके चरण-कमलों की नख छटा का दर्शन नही कर पाते। वे हजारों वर्षो तक तीव्र ध्यान योग मे तन्मय रहते है। तथापि हे अच्युत ! हे प्रभो ! वे आपके चरण-कमलो के मधु की प्राप्ति करने में असमर्थ रह जाते है किन्तु हे मेरे कृपामय प्रभु ! आप अत्यन्त दयामय है। हे माधव ! मैं जानता हूँ कि आपके चरण कमलो की सेवा में मेरी कोई आत्यन्तिक उत्कण्ठा भी नही है तथापि चूंकि आपकी दयालुता अचिन्त्य रूपेण शक्तिमान् है, तथा आप असम्भव को भी सम्भव कर सकते हैं। अत: हे परम प्रभु ! मेरा मन उनकी ओर अत्यधिक आकर्षित हो गया है। हे परमनिधे ! कृपया मेरे चित्त को अपने चरण कमलों में सदा-सदा के लिए तल्लीन हो जाने दें ताकि मैं अनन्त काल के लिये आपकी सेवा के स्वाद का आस्वादक हो जाऊँ। भक्तों की एक मात्र आकांक्षा यही होती है कि वे भगवान् के चरण-

कमलों में स्थान प्राप्त कर लें और इसी मे वे सदा सन्तुष्ट बने रहते है। उनके नित्य सौन्दर्यमय मुख कमल के दर्शन अथवा उनके कर-कमलो के सरक्षण मे अपने को संरक्षित करने को वे कभी आतुर नही होते। इस क्षेत्र मे उनकी कोई महत्वाकॉक्षा हो नही होती। वे स्वभाव से विनीत होते है और इसलिए भगवान् अपने विनीत भक्तों के प्रति सदा झुके हुए रहते है। सदा उनका हृदय अपने निष्काम भक्तों के प्रति उन्मुक्त होता है।

[२७]

सितातपत्रव्यजनैरुपस्कृतः
प्रसूनवर्षैरभिवर्षितः पथि।
पिशङ्गवासा वनमालया बभौ
घनो यथार्कोडुपचापवैद्युतैः॥

सित-आतपत्र=श्वेत छत्र, व्यजनै=चामर; उपस्कृत.=सेवित होकर, प्रसून=पुष्प, वर्षै=वर्षा द्वारा, अभिवर्षित=चारों ओर से आच्छादित; पथि=मार्ग में, पिशङ्ग-वासा=पीताम्बर धारी, वन-मालया=वन्य पुष्पों की मालाओं द्वारा, बभौ=ऐसे सुशोभित हुए, घन.=मेघ, यथा=जैसे, अर्क=सूर्य उडुप=चन्द्र, चाप=धनुष, वैद्युतं=विद्युत् के द्वारा।

अनुवाद

जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकापुरी के जनमार्ग से निकले, उस समय उनके मस्तक पर सूर्य-रश्मियो की रक्षा के लिए श्वेत छत्र लगाया गया था। श्वेत-वर्ण का व्यजन अर्धवृत्त में उनके पीछे की ओर डुलाया जा रहा था। ऊपर से पुष्पो की भारी वर्षा हो रही थी, जिससे राजमार्ग आकीर्ण हो रहा था। उनका पीला पीताम्बर तथा स्वर्णोज्ज्वल पुष्पहार ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो गहन नीलमेघ सूर्य, चन्द्र, विद्युत एव इन्द्र-धनुष से घिरकर सुशोभित हो रहा हो।

तात्पर्य

सूर्य, चन्द्र, इन्द्र-धनुष एव विद्युत की चमक आकाश मे एक साथ

'कभी दिखाई नही देती। सूर्य के उदयकाल में चन्द्र का प्रकाश नगण्य हो जाता है यदि मेघ एवं इन्द्र-धनुष आकाश में विद्यमान हों तो बिजली चमकने की कोई सम्भावना नही रह जाती। भगवान् का श्रीविग्रह अभूतपूर्व अप्राकृत है। उसके चारों ओर नित्य नवीन वर्षा कालीन मेघ की भाँति श्यामल प्रकाश विकीरित होता रहता है। उसकी तुलना यहाँ मेघ से की गई है। यथा उनके मस्तक के ऊपर तने हुए श्वेतछत्र की तुलना सूर्य से की गई है। तथा पीछे डुलाये जा रहे व्यजन की उपमा चन्द्रमा से की गई है तथा निरन्तर बरसते हुए फूलों की उपमा तारावलियों से की गई है। तथा उनके पीताम्बर की उपमा इन्द्र-धनुष से की गई है। अद्भुत दृश्य संयोग का आकाश मे एक साथ घटित होना एवं दृष्टिगोचर होना सर्वथा असम्भव है कैसे भी यन्त्रों के द्वारा इनको व्यवस्थित करना अत्यन्त दुरूह है। यह घटना तभी सम्भव हो पाती है जब हम भगवान् की अचिन्त्य शक्ति पर विचार करते है। भगवान् सर्वशक्तिमान है। और उनकी उपस्थिति में कोई भी घटना सम्भव हो सकती है। उनकी अचिन्त्य शक्ति से वह सम्भव बनाई जा सकती है तथापि द्वारका के राजमार्ग से गुजरते हुए उनकी जो शोभा हुई, उनके सम्मिलित पार्षदों द्वारा जो सौन्दर्य का प्रकाश चारों ओर व्याप्त हुआ। उसकी तुलना इस भौतिक जगत् की किसी भी घटना, अथवा प्राकृतिक संयोग से नही की जा सकती।

[२८]

प्रविष्टस्तु गृहं पित्रोः परिष्वक्तः स्वमातृभिः ।
ववन्दे शिरसा सप्त देवकीप्रमुखा मुदा ॥

प्रविष्टः=प्रवेश कर; तु=परन्तु; गृहम्=घर; पित्रोः=पिता के; परिष्वक्तः=आलिङ्गित हुए, स्वमातृभिः=अपनी माताओं द्वारा; ववन्दे=प्रणाम किया; शिरसा=मस्तक झुकाकर, सप्त=सात; देवकी-प्रमुखाः=देवकी जिनमें प्रमुख थीं; मुदा=हर्ष विभोर होकर।

अनुवाद

भगवान् श्रीकृष्ण सीधे अपने पिता के गृह में पधारे। वहाँ देवकी आदि बहुत सी माताएँ उनके दर्शनो के लिए उत्सुक होकर प्रतीक्षा कर

रही थीं। भगवान् ने उनके चरणो में मस्तक रखकर उन्हें प्रणाम किया। और माताओं ने उन्हें अपने हृदय से लगाया।

तात्पर्य

प्रतीत होता है कि भगवान् के पिता श्रीवसुदेवजी का गृह सर्वथा एक स्वतंत्र भवन था। जहाँ वे अपनी अठारह पत्नियों के साथ निवास करते थे। जिनमें से भगवान् श्रीकृष्ण की माता श्रीमती देवकीदेवी समस्त रानियों में प्रमुख थी। किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण अपनी समस्त माताओं के चरणों में ठीक वैसे ही श्रद्धा रखते थे जैसे माता देवकी के चरणों में रखते थे। इस श्लोक से यही प्रतिध्वनित होता है कि उन्होंने अपनी सौतेली माताओं एवं सगी माता में कोई भेद दृष्टि नही की। उन्होंने समस्त माताओं के चरणो में मस्तक रखकर प्रणाम किया। शास्त्रों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की सात माताएँ मानी गई है—

(१) जन्मदात्री माता
(२) धर्मगुरु की पत्नी
(३) ब्राह्मण की पत्नी
(४) राजा की पत्नी
(५) गाय
(६) पोषण करने वाली धात्री एवं
(७) पृथ्वी

ये सब माताएँ है। और शास्त्रों को यही शिक्षा है कि ये सब जन्मदात्री माता के तुल्य ही पूजनीया है चूँकि पिता भी एक धर्मगुरु है अतः भगवान् श्रीकृष्ण जो विश्व के स्वामी है वे आदर्श पुत्र की भाँति लीला कर रहे हैं, ताकि सामान्य जनता शिक्षा ग्रहण कर सके। तथा अपनी इन सातों माताओं से यथावत् व्यवहार कर सके।

[२९]

ताः पुत्रमङ्कमारोप्य स्नेहस्नुत पयोधराः।
हर्षविह्वलितात्मानः सिषिचुर्नेत्रजैर्जलैः॥

ताः=वे सव; पुत्रम्=पुत्र को; अङ्कम्=गोद में; आरोप्य=विराकरके; स्नेह-स्नुत=प्रीति से भरे हृदय से; पयोधराः=वक्ष.स्थल भर

आये, हर्ष=आनन्द के वेग से; विह्वलित-आत्मानः=हृदय में प्रेम के अतिरेक से; सिषिचुः=आर्द्र हो गये, सींचने लगे; नेत्रजैः=नेत्रों से विगलित; जलैः=जल से।

अनुवाद

माताओं ने भगवान् श्रीकृष्ण को अपने हृदय से लगाकर अपनी गोद मे विठा लिया तथा अत्यन्त हर्षातिरेक से उनके स्तनों से दुग्ध धारा क्षरित होने लगी। उनके हृदय में तीव्र वात्सल्य प्रेमालोक छा गया और उनके नेत्रों से अश्रु धाराएँ विगलित होने लगी। और भगवान् के मस्तक को सिञ्चित करने लगी।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण जव वृन्दावन में निवास कर रहे थे उस समय गौएँ भी उनके प्रति इतने प्रेम से भर उठती थी कि उनके स्तनों से दुग्ध-धारा क्षरित्त होने लगती थी। और वे घास चरना भी भूल जाती थीं। भगवान् श्रीकृष्ण प्राणी मात्र के अत्यन्त स्नेही है सभी उनसे प्रेम करते है अतः क्या कहना उनका जो उनकी साक्षात् माताएँ है। वे तो धन्यातिधन्य हैं। उनके प्रेमातिरेक एवं भाव शावल्य की तो किसीसे तुलना ही नही हो सकती।

[३०]

अथाविशत् स्वभवनं सर्वकाममनुत्तमम्।
प्रासादा यत्र पत्नीनां सहस्राणि च षोडश॥

अथ=तदनन्तर; आविशत्=प्रवेश किया, स्व-भवनम्=अपने आवास को; सर्व=सव; कामम्=इच्छायें; अनुत्तमम्=पूर्ण; प्रासादा=राजमहलों में; यत्र=जहाँ, पत्नीनाम्=उनकी पत्नियाँ; सहस्राणि=हजारों, च=अधिक और; षोडश=सोलह।

अनुवाद

इसके अनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने राजमहलों में प्रवेश किया

जो समस्त प्रकार के प्रचुर ऐश्वर्य सामग्रियों से सम्पन्न थे। उनकी पत्नियाँ उनमें निवास करती थी, जिनकी संख्या सोलह हजार से अधिक थी।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण के सोलह हजार एक सौ आठ पत्नियाँ थी उनमे से प्रत्येक रानियों के पृथक्-पृथक् आवास समस्त सुविधाओ से सम्पन्न थे। उनके राजमहलों का वर्णन दशम स्कध में किया गया है। वे सब राजमहल अति उच्चकोटि के सङ्गमर्मर पत्थरो से निर्मित थे तथा वे रत्नों एवं मणियों से सजकर जगमगाते रहते थे। उनमें रङ्गीन पर्दे लगे हुए थे। मखमल की दरियाँ बिछी हुई थीं तथा रेशमी चादर तने हुए थे। जरीदार कपड़ों से सारा गृह सुसज्जित था। भगवान् का अर्थ ही यही होता है जो समस्त शक्ति, वैभव, सौन्दर्य एवं ज्ञान वैराग्य में सर्वथा परिपूर्ण हो। इसीलिये भगवान् के समूचे सारे महलों में उनकी इच्छापूर्ति के लिए कही कोई अभाव न था। वहाँ तो नित्य समृद्धि झरती रहती थी। भगवान् असीम है, इसलिए उनके विचार भी असीम है। और उनका वितरण भी असीम हैं। प्रत्येक पदार्थ वहाँ असीम है। इसलिए यहाँ सक्षिप्त रूप में वर्णित हुआ है "सर्वकामम्" अर्थात् समस्त आवश्यक अभिलषित पदार्थो से सर्वथा सम्पन्न।

[३१]

पत्न्यः पतिं प्रोष्य गृहानुपागतं
विलोक्य संजातमनोमहोत्सवाः।
उत्तस्थुरारात् सहसाऽऽसनाशयात्
साकं व्रतैर्व्रीडितलोचनाननाः॥

पत्न्यः=भगवान् की पत्नियाँ; पतिम्=अपने पति को; प्रोष्य=जो लम्बे समय से घर के बाहर थे; गृहान्-उपागतम्=गृह को वापस आ प्राप्त हुए, विलोक्य=देखकर; संजात=उत्पन्न हुआ; मनः-महा-उत्सवः=मन एवं प्राणों में महा हर्ष उत्सव छा गया; उत्तस्थुः=उठ खड़े हुए; आरात्=दूर से; सहसा=अकस्मात्; आसनः=आसन से; आशयात्=ध्यानावस्था

से; साकम्=साथ; व्रतैः=व्रतों से; व्रीडित=लज्जित; लोचनः=नेत्रों से; आननाः=ऐसे मुख कमलों द्वारा।

अनुवाद

भगवान् श्रीकृष्ण की महारानियाँ अपने पति को एक लम्बे समय के अनन्तर पधारे हुए देखकर मन मे अत्यन्त प्रसन्न हो उठी। तत्क्षण ही अपने आसन एव पति वियोगिनी नारियोचित व्रतों को त्यागकर अपने मुख कमल को लज्जा पूर्वक अवगुंठन से ढककर समीप आ गई तथा श्रद्धाजन्य संकोचवश अवनत मुख होकर उनका दर्शन करने लगी।

तात्पर्य

ऊपर वर्णित हुआ है कि भगवान् ने अपने राजमहलों में प्रवेश किया जो सोलह हजार एक सौ आठ रानियों से सुशोभित थे। इसका यह अर्थ होता है कि भगवान् ने तत्क्षण अपने रूप का विस्तार कर लिया। जितनी महारानियाँ थी, जितने राजमहल थे, उन सबमें उन्होने पृथक्-पृथक् रूप से प्रवेश किया। यहाँ अन्तरंगा शक्ति की एक नई क्रीडा दृष्टिगोचर होती है। वे स्वयं को अपनी इच्छानुसार अनेकानेक दिव्य विग्रहों में दिव्यावतारों मे तत्क्षण ही विस्तृत कर लेते है। यद्यपि वे अद्वितीय कहे गये हैं। एक कहे गये हैं। दो उनमे नही है। श्रुतिमंत्र के द्वारा यही प्रतिपादित हुआ है। वे अद्वय हैं। तथापि ज्योंही उन्होने इच्छा की त्योही उनके अनेक स्वरूप प्रगट होकर विभिन्न रानियों के गृहों में जा उपस्थित हुए। यह उनकी विशिष्ट शक्ति का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार उन्होने स्वयं को सोलह हजार एक सौ आठ रूपों में एक ही साथ विस्तीर्ण कर लिया तथा उतने ही भवनो मे उन्होंने प्रवेश किया। इसे "वैभव" कहा जाता है। अर्थात् भगवान् की "अप्राकृत शक्ति" और चूंकि वे ऐसा कर सकते हैं अत-एव वे योगेश्वर कहे जाते हैं। सामान्यत एक योगी दस रूपों में अपना शरीर विस्तृत कर सकता है। परन्तु भगवान् हजारों अरबों एवं असंख्य रूपों मे अपने को विस्तीर्ण कर सकते हैं, अविश्वासी लोग आश्चर्यचकित होते हैं। कि भगवान् ने सोलह हजार नारियों से विवाह किया। वे विश्वास नही कर पाते। वे भगवान् श्रीकृष्ण को अपने मे से ही एक मानते है और अपने ही रूप गुणों से उनकी तुलना करते हैं उनकी सीमित योग्य-ताएं अत्यन्त अल्प है श्रीकृष्ण के समक्ष। यह जानना चाहिये कि भगवान्

कभी भी जीव के समान स्तर के नही है। सम्पूर्ण जीव उनकी तटस्था शक्ति का विलास है। उन भगवान् की शक्तियों की स्वयं उन्ही से कभी तुलना नही करनी चाहिए। शक्ति एव शक्तिमान् मे परिमाणात्मक अन्तर है ये रानियाँ उनकी अन्तरङ्गा शक्ति की विस्तार थी। और इस प्रकार शक्ति एवं शक्तिमान् के मध्य सतत निरन्तर दिव्य रसास्वादन का आदान प्रदान होता रहता था। यही भगवान् की लीला कही जाती है। अतएव किसी को भगवान् के केवल बहुत बड़ी सख्या में पत्नियों के साथ विवाह करने पर ही आश्चर्यचकित नही होना चाहिये। इसके विरुद्ध यदि वे १६ लाख नारियों से विवाह करते तो भी यह उनकी असीम अक्षय शक्तिके पूर्ण अभि-व्यक्तीकरण के लिए पर्याप्त न होता। उन्होने केवल १६ हजार पत्नियों से विवाह किया तथा उनमे से प्रत्येक के राजमहल में उन्होने पृथक्-पृथक् रूप धारण कर प्रवेश किया। इस घटना के द्वारा भगवान् ने मानव जाति के इतिहास में भलीभाँति यह अङ्कित कर दिया कि जीव एवं भगवान् मे पर्याप्त अन्तर है। जीव चाहे जितना भी शक्तिशाली क्यों न हो जाय वह कभी भगवान् के समकक्ष नही हो सकता। भगवान् सम्पूर्ण दिशाओं से सम्पूर्ण क्षेत्रों में सदा से महान् है तथा सदा महान् रहे आवेगे। "भगवान् महान् है" यह एक सार्वभौम नित्य सत्य है।

इसलिए जो महाभारत युद्ध के सञ्चालनार्थ लम्बी अवधि से दूर देश चले गये थे, उन अपने परम प्रिय प्राण स्वरूप प्रिय एवं आदरणीय पति को पधारते हुए ज्यो ही रानियो ने दूर से देखा त्यों ही वे अपने पति-वियोग काल में धारण किए जाने वाले व्रतों को त्यागकर उठ खड़ी हुई। और अपने जीवनधन का स्वागत करने के लिए आतुरतापूर्वक तत्पर हो गई। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार परदेश चले गये पति की पत्नी के पालनार्थ कुछ नियम है जैसे—

(१) सामाजिक उत्सवों में भाग न लेना।
(२) नही हँसना।
(३) शरीर को नही सजाना।
(४) किसी भी परिस्थिति मे सम्बन्धियो के गृह न जाना।

इसके साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि पत्नी को कभी भी पति के समक्ष अस्वच्छ, अपवित्र अवस्था मे नही जाना चाहिए। उसे अवश्य ही

अपनी देह अच्छे आभूषणों एवं वस्त्रों से सुसज्जित करनी चाहिए तथा पति के समक्ष स्वयं को प्रसन्न एवं प्रीतिभरी मुखमुद्रा में प्रस्तुत करना चाहिए। भगवान् की पत्नियाँ सब इसी मनोदशा मे थी,वे व्रतों में तथा अखण्ड श्रीकृष्ण स्मरण में सतत निरत थीं। भगवान् के भक्त स्वाभाविक ही उनके स्मरण के विना एक क्षण भी नहीं रह सकते, तब उनकी महाभागा पत्नियों का क्या कहना ? जो मानवी रूप धारणी साक्षात् भाग्यकी अधिदेवी श्रीलक्ष्मी ही थी जो भगवान् की द्वारका लीला में भाग लेने के लिए अवतीर्ण हुई थी वे कभी भी भगवान् से पृथक् नही हो सकती या तो उनकी उपस्थिति के द्वारा अन्यथा भावावेश के द्वारा उनसे नित्य जुडी ही रहेंगी। जब भगवान् गोचारणार्थ वन को चले जाते तब भी गोपियाँ उनके स्मरण के द्वारा निरन्तर उनसे संयुक्त ही बनी रहती थीं। जब बालक श्रीकृष्ण व्रज से वन को चले जाते तब वे यही चिन्ता करती दुखित होती रहती थी कि वन की भूमि कुश-कन्टक पूर्ण है तथा उनके चरण कमल की भाँति सुकुमार है। ऐसा सोचते हुये वे कभी-कभी मूर्च्छित सी हो जाती थी। भगवान् के पवित्र संसर्ग की यही स्थिति है। वे सदा भावावेश में रहतीं। द्वारका की रानियाँ भी भगवान् के वियोग मे उन्मनी बनी रहती तथा अब जब दूर से उन्होंने भगवान् को पधारते देखा तब तत्क्षण ही सारे व्रतों की व्यस्तताओं को भूलकर वे सम्मुख आयी। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार उक्त अवसर पर एक नियमित मानसिक प्रतिक्रिया हुई। सर्वप्रथम वे आसन से उठ खड़ी हुईं, यद्यपि वे अपने पतिका दर्शन करना चाहती थी तथापि वे स्त्रियोचित लज्जा-वश जडवत् स्तब्ध रह गईं। तीव्र आनन्दातिरेक से उनका अन्तस् पुलायमान हो उठा। परन्तु लज्जा बहुत दुर्बल सिद्ध हुई। क्योंकि शीघ्र ही वे भगवान् को आलिंगन करने की तीव्र उद्दाम लालसा से भर उठी। यह लालसा उन्हें समस्त परिस्थिति एव औपचारिकताओं से दूर हटा ले गई। वे भूल गयी सब कुछ। भक्ति में आनन्द का प्रथम चरण समस्त औपचारिकताओं एव सामाजिक नियमों को विस्मृत एवं परित्यक्त करा देता है। और इस प्रकार भगवत्सम्मिलन के समस्त व्यवधानों को दूर फेक देता है। यही अवस्था जीव की भगवान् श्रीकृष्ण से सम्मिलन का वास्तविक धरातल है।

[३२]

तमात्मजैर्दृष्टिभिरन्तरात्मना

दुरन्तभावाः परिरेभिरे पतिम्।

निरुद्ध मप्यास्रवदम्बु नेत्रयो-
विलज्जतीनां भृगुवर्य वैक्लवात् ॥

तम्=उनको; आत्मजैः=पुत्रों द्वारा, दृष्टिभिः=दृष्टि द्वारा, अन्तर-आत्मना:=हृदय के अन्तराल से; दुरन्त-भावा:=अपरसीम आनन्द के वेग से; परिरेभिरे=आलिङ्गन किया, पतिम्=पति को; निरुद्धम्=गद्‌गद हुए; अपि=बदले में; अश्रवत्=आँसुओं को; अम्बु=बिन्दु, नेत्रयो:=नेत्रों के; विलज्जतीनाम्=लज्जा करते हुए, भृगु-वर्य=हे भृगुवंशियों में श्रेष्ठ, वैक्लवात्=अनिच्छा पूर्वक, कष्टपूर्वक।

अनुवाद

रानियाँ तीव्र मिलनोत्कण्ठावश व्याकुल हो गईं पर लज्जावश वे दौडकर अपने प्रियतम पति से न मिल सकी अत: उन्होंने नेत्र बन्द कर लिये और अपने हृदय में भगवान् श्रीकृष्ण का मानसिक आलिगन करने लगी तदनन्तर उन्होंने भगवान् का दृष्टि से आलिङ्गन किया तथा उसके अनन्तर उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण के पास उन्हें आलिङ्गन करने के लिए अपने नन्हे पुत्रों को भेजा। भगवान् ने उन बच्चों का आलिङ्गन किया और उस आलिङ्गन को पत्नियों ने अनुभव किया। यद्यपि उन्होंने अपनी भावनाओं पर, प्रगाढ़ प्रेम पर बहुत संयम करना चाहा तथापि वह उनके नेत्रो से प्रबल प्रेमाश्रु के रूप मे बह चले।

तात्पर्य

नार्योचित लज्जावश भगवान् श्रीकृष्ण को आलिङ्गन करने मे महारानियों के समक्ष कई विघ्न थे अत: उन्होंने दृष्टि के द्वारा उनका आलिङ्गन किया। हृदय कमल मे उन्हें विराजमान कराकर आलिगन किया। और अपने पुत्रों को भेजकर भगवान् से आलिङ्गित कराकर पुन. उन्हे स्वयं आलिङ्गन किया, तथापि आलिङ्गन अवशिष्ट ही रहा। वह सम्पूर्ण न हो सका। और रोकने की अनेक कोशिश के बावजूद भी उनके कपोलो को भिगोते हुए उनके नेत्रों से अश्रुबिन्दु बह चले। पुत्र माता के देह का एक विकसित अग है। उसी से पृथक हुआ एक अंग ही है। अतएव उन्हें भेजकर

उनके द्वारा उन्होंने भगवान् का आलिङ्गन प्राप्त किया। यद्यपि यौन दृष्टि से पुत्र का आलिंगन पति के आलिगन की भाँति नही है। तथापि प्रेम की किसी भी दृष्टि से आलिङ्गन अत्यन्त तृप्तिदायक एवं सन्तुष्टि-जनक होता है। इसी प्रकार नेत्रों से आलिङ्गन माधुर्य सम्बन्ध में अधिक भावपूर्ण होता है। श्रीजीव गोस्वामी के अनुसार पति-पत्नी के इस प्रकार भावनाओं के आदान-प्रदान में कोई त्रुटि नही है कोई अनुचित नही है।

[३३]

यद्यप्यसौ पार्श्वगतो रहोगत-
स्तथापि तस्याङ्घ्रियुगं नवं नवम् ॥
पदे-पदे का विरमेत तत्पदा-
च्चलापि यच्छ्रीर्न जहाति कर्हिचित् ।

यदि=यद्यपि; अपि=निश्चित ही, असौ=वे (भगवान् श्रीकृष्ण); पार्श्व-गत:=समीप में विराजमान, रह -गत.=सर्वथा एकान्त में; तथापि= तथापि; तस्य=उनका; अङ्घ्र-युगम्=भगवान् श्रीकृष्ण के चरण-कमल; नव-नवम्=नित्य नवनवायमान, पदे=चरण, पदे=प्रत्येक चरण, का= कौन; विरमेत=उससे ऊबेगा; तत्-पदात्=उनके चरणों से; चलाऽपि= चलायमान होते हुए भी; यत्=जिनका; श्री:=भाग्य की अधिदेवी; न= कभी नहीं; जहाति=छोड़ती है; कर्हिचित्=कभी भी।

अनुवाद

यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण एकान्त में नित्य निरन्तर उनके साथ बने रहते तथापि उनके चरण नित्य नवनवायमान ही प्रतीत होते थे भाग्य की अधिदेवी लक्ष्मी इसीलिए स्वभावत. चंचल होते हुए भी उनके श्रीचरणो को नही छोड़ पातीं। अतएव सामान्य नारी ने एक वार यदि उनका आश्रय ग्रहण कर लिया तो पृथक् होने की कल्पना भी कैसे कर सकती है?

तात्पर्य

आश्रित जीव सदा भाग्य की अधिदेवी लक्ष्मी की ही प्राप्ति

कोशिश करते रहते है। यद्यपि स्वभावत: वह एक स्थान से दूसरे स्थान में निरन्तर गमन करती रहती है। अत: कोई कितना भी चतुर एवं गुणसम्पन्न क्यो न हो इस भौतिक जगत में कोई भी व्यक्ति स्थायी रूपसे सौभाग्यशाली नही होता। संसार के भिन्न-भिन्न भागों में अनेक बड़े-बड़े सम्राट् हुए वे बहुत सौभाग्यशाली व्यक्ति थे किन्तु उनके दिन अवश्य बदले, उनके भाग्य मे हेरफेर अवश्य आया। यही भौतिक जगत का स्वभाव है। परन्तु अप्राकृत दृष्टिकोण इससे पृथक् है। ब्रह्म संहिता के अनुसार भगवान् हजारों एव लाखो भाग्य की अधिदेवियों से सेवित होते रहते हैं। वे सदा एकान्त शान्त प्रदेश मे भगवान् से मिले रहते हैं तथापि भगवान् नित्य नवीन-नवीन प्रतीत होते रहते हैं और वे उन्हें क्षण भर के लिए छोड़ने मे समर्थ नही हो पाते। यद्यपि वे स्वभाव से ही अशान्त हैं. एक स्थान से दूसरे स्थान मे भटकती रहती है तथापि भगवान् के साथ सम्बन्ध की प्राप्ति इतनो जीवन प्रदायिनी एव सुमधुर है कि एक बार उसका आश्रय ग्रहण कर लेने के पश्चात् पुन. कही जाने की इच्छा नही कर पाता।

आश्रित जीवो का स्वभाव स्त्रियोचित है एकमात्र भगवान् का ही स्वभाव पुरुषोचित है। तथा उनकी विभिन्न शक्तियों की अभिव्यक्तियाँ भी स्त्री स्वभावानुसार हैं। भगवद्गीता में यह कहा गया है कि जीव परा प्रकृति अथवा सर्वोच्च शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं तथा भौतिक तत्व अपरा प्रकृति की अथवा निम्नतर शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं। ये शक्तियाँ सदा उपभोक्ता की सन्तुष्टि का कारण बनते है परन्तु परम उपभोक्ता साक्षात् स्वयं भगवान् ही है जैसे कि भगवद्गीता (५।२९) में दर्शाया गया है कि ये शक्तियाँ जब भगवान् की सेवा में प्रत्यक्ष संलग्न होती हैं तब अपने वास्तविक स्वरूप को उपलब्ध करती हैं। और तब शक्ति एव शक्तिमान् के सम्बन्ध मे कोई वियोग की सम्भावना नही रह जाती। सेवा में सलग्न व्यक्ति प्राय सरकार के नीचे कोई उच्चतम पद चाहता है जो कि राज्य का सर्वोच्च उपभोक्ता है। और चूंकि भगवान् भी अखिल विश्व के परम उपभोक्ता है, इस समग्र विश्व के समस्त पदार्थों के वे ही स्वामी हैं। अत. उनकी सेवा में सलग्न होना परम आनंद की बात है। एक बार उस सेवा में सलग्न हुआ कि कोई भी जीव दूसरे संलग्नताओ एवं व्यस्तताओं की अभिलाषा नही करेगा। तथा समस्त व्यस्तताओं से तत्क्षण ही मुक्त भी हो जायगा। मानव जीवन की सर्वोच्च पूर्णता यही है कि हम भगवान् की सेवा में उच्चता ढूंढ़ें और यही हमारे जीवन में तीव्र प्रेम एवं आनन्द का संवेग

लाने में समर्थ होगा। भगवत् सम्बन्ध के बिना भाग्य की चञ्चला अधिदेवी को खोजने का कोई सार्थक परिणाम न होगा,वह व्यर्थ श्रम ही होगा। भगवत् सम्बन्ध ही एकमात्र सार्थक तत्व है।

[३४]

एवं नृपाणां क्षिति भारजन्मना-
मक्षौहिणीभिः परिवृत्त तेजसाम् ।
विधाय वैरं श्वसनो यथानलं
मिथो वधेनोपरतो निरायुधः ॥

एवम्=इस प्रकार; नृपाणाम्=शासकों का; क्षिति-भार=पृथ्वी का भार, जन्मनाम्=उत्पन्न हुए; अक्षौहिणीभिः=घोड़ों, रथों, हाथियों एवं पैदल सेना से समृद्ध; परिवृत्त=सैन्य शक्ति से गर्विष्ट; तेजसाम्=शक्ति से; विधाय=निर्माण कर, वैरम्=वैर; श्वसनः=बाँसों के वन में वायु की प्रतिक्रिया, यथा=जैसे, अनलम्=अग्नि; मिथ.=परस्पर; वधेन=मारकर; उपरत.=उपरत हो गये; निरायुधः=स्वयम् उदासीन रहते हुए।

अनुवाद

भगवान् ने युद्धभूमि में उन समस्त योद्धाओं का संहार करा डाला। जो धरा के भार स्वरूप थे। तथा जो रथ, हाथी, घोड़े, पैदल, आदि प्रवल सैन्यशक्ति के गर्व से मतवाले हो रहे थे। यद्यपि उन्होंने स्वय उस युद्ध मे कोई भाग नही लिया, तथापि उन्होंने समस्त शक्तिशाली योद्धाओ के मध्य बैर की अग्नि को प्रज्वलित कर दिया और वे प्रवल क्रोध से अन्धे होकर लड़ पड़े जैसे वांसों के जंगल मे आग लग जाय और हवा चल पड़े तो सारे बांस समाप्त हो जाते है। इसी प्रकार पृथ्वी के समस्त राजन्य वर्ग उस महाभारत युद्ध मे लड़कर समाप्त हो गये।

तात्पर्य

जैसे कि उपरोक्त वर्णित हुआ है कि सामान्य जीव भगवत् सृष्ट

पदार्थों के उपभोक्ता नही हैं। भगवान् ही उनके वास्तविक उपभोक्ता है। इस समग्र सृष्टि के वे ही आनन्द लेने वाले हैं। दुर्भाग्यवश विमोहिका शक्ति के प्रभाव में आ जाने से जीव तीनों गुणों के अन्तर्गत अपने को मिथ्या ही उपभोक्ता मान बैठता है। तथा व्यर्थ ही अपने को भगवान् मानने लग जाता है। भौतिक शक्ति की प्रचुरता से उत्पन्न इस अभिमान को भगवान् चूर-चूर करते है जब यह अभिमान अधिक बढ जाता है। और अन्य लोगों को पीडित करने लगता है तो भगवान् अपने अवतार काल में ऐसे दुष्टो को अवश्य ही समाप्त कर देते है। ऐसे अत्याचारी जब अधिक सम्पन्न हो जाते है। सारी धरती में फैल जाते है तब यह पृथ्वी आवास के लिए अनुपयुक्त हो जाती है। तब ऐसी विश्व परिस्थिति धर्मग्लानि कहलाती है। इसका अर्थ होता है मानवीय शक्ति का दुरुपयोग। ऐसे शक्ति का दुरुपयोग जब सीमा पार करने लगता है। और निरीह जनता अत्याचारी शासकों के दुष्चक्र से उत्पन्न भयावह परिस्थिति से पीड़ित होने लगते हैं। अत्याचारी शासक पृथ्वी के भार स्वरूप होते हैं। और भगवान् अपनी अन्तरङ्गा शक्ति से अवतीर्ण होते है। जनता की रक्षा के लिए,मानवता की रक्षा के लिए,धरा का भार उतारने के लिए वे ससार के किसी भी भाग में अत्याचारी शासकों को जीवित नही छोडते है। यदि उनकी समाप्ति का कोई प्रत्यक्ष सूत्र न उपलब्ध हो तो वे अपनी प्रत्युत्पन्न मति से उनके मध्य कलह की अग्नि लगाकर उन्हें परस्पर एक दूसरे के द्वारा ही समाप्त कर देते है। जैसे वायु की तीव्र गति मे बाँसों के जंगल में अग्नि शीघ्र लग जाती है उसी प्रकार राजनीतिज्ञों के समूह में भगवान् की अदृश्य इच्छा से अग्नि स्वतः लग जाती है। और वह धू-धू करके जल उठती है। गर्व से भरे हुए अनाचारी, सैन्य शक्ति से मतवाले अपने समूह में ही परस्पर युद्ध करने लगते है। और यह युद्ध उनकी समस्त शक्तियों सहित उन्हें जलाकर राख कर देता है। संसार का इतिहास भगवान् की इन अद्भुत इच्छाओं को स्थूल रूप प्रदान करता रहता है और जब तक जीवों के द्वारा भगवान् की सेवा न स्वीकार की जायेगी, तब तक उन पर लागू रहेगा। गीता मे यह तथ्य भलीभाँति वर्णित हुआ है। गीता (७।१४-१५) यह कहा गया है कि मेरी विमोहिका शक्ति अर्थात् वहिरङ्गा शक्ति, माया शक्ति मेरी ही शक्ति है। और किसी भी आश्रित जीव के लिए उससे पार पाना वड़ा दुष्कर है। फिर भी गर्व का अवलम्वन करने वाला अपने को स्वतंत्र मानने वाला व्यक्ति इन तीनों गुणों के चक्र में पडने से बच नही सकता। परन्तु वे जो मेरी शरण आते हैं, इस संसार रूपी भौतिक

शक्ति के दुस्तर सागर को पार कर जाते है। इसका अर्थ यह है कि कोई भी व्यक्ति केवल कर्मकाण्ड एव कल्पना प्रधान दर्शन एवं कृत्रिम आदर्श-वादिता से सच्ची शान्ति एवं समृद्धि को उपलब्ध नही कर सकता है। केवल एक ही मार्ग है और वह है सर्वोच्च पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों मे आत्म समर्पण। केवल इसी मार्ग से जीव विमोहिका शक्ति के नाना भ्रम आवर्तो से स्वतंत्र हो सकता है। दुर्भाग्यवश ऐसे व्यक्ति जो हिसाबहुल, विध्वंसात्मक कर्मो मे प्रवृत्त है, भगवान् के चरणों की शरण ग्रहण करने की मनोवृत्ति से प्राय वञ्चित होते है। वे आध्यात्मिक दृष्टि से मूढ होते है। मानव जीवन के विकास की प्रक्रिया में उनकी अवस्थिति निम्नतम है। वे चाहे विश्वविद्यालय की उच्च शिक्षा से सम्पन्न ही क्यों न हों तथापि उनका ज्ञान एक धोखा है। वह अज्ञान है। और उनकी मनो अवस्था दैत्याकार होती है। प्राय· उनका व्यक्तित्व भगवान् के प्रनि चुनौती पूर्ण होता है। जो भौतिकवादी है वे सदा भौतिक शक्ति के प्रति सतृष्ण होते है निःसन्देह वे प्रथम कोटि के मूर्ख ही होते है क्योकि उन्हे उस वास्तव वस्तु परम चैतन्य का कोई ज्ञान नही है। जो जीवन का परम चैतन्य है उसका उन्हे कोई पता नही। उस सर्वोच्च अप्राकृत विज्ञान से अपरिचित रह कर ही वे भौतिक-विज्ञान मे संलग्न होते है जिसकी समाप्ति भौतिक शरीर की समाप्ति के साथ ही हो जाती है। वे चेतना के निम्नतम धरातल के जीव हैं क्योंकि मनुष्य जीवन सचमुच भगवान् के साथ अपने विस्मृत सम्बन्ध के अनुसन्धानार्थ उप-लब्ध हुआ है और वे इस अवसर को भौतिक कार्यकलापों में व्यस्त रहकर खो देते हैं। वे अपने ज्ञान से लुट गये लोग है क्योकि जीवन के विभिन्न पहलुओं पर लम्बे चिन्तन के बावजूद भी वे भगवत्तत्वविज्ञान तक पहुँच नहीं पाये, जो कि सम्पूर्ण तत्वो एवं ज्ञान का परम सार है। उस रहस्य को वे पहचान ही नही सके। ऐसे सभी शिक्षित मूर्ख राक्षसी सिद्धान्तों के अनु-यायी होते हैं। परिणामत· वे दुख पर दुख उठाते है जैसे रावण, हिरण्यक-शिपु, कस आदि भौतिकवादी अभिनेता, अपने अज्ञान के ही कारण दु·ख उठाते रहे तथा परम दुख में ही उनके जीवन का अन्त हुआ।

[३५]

स एष नरलोकेऽस्मिन्नवतीर्णः स्वमायया।
रेमे स्त्रीरत्नकूटस्थो भगवान् प्राकृतो यथा ॥

सः=वे भगवान्; एषः=ये सब; नरलोके=इस मृत्यु लोक में; अस्मिन्=यहाँ; अवतीर्णः=अवतीर्ण होकर, स्व=निजी अन्तरङ्ग; मायया =अहैतुकी कृपा से; रेमे=रमण किया; स्त्रीरत्न=स्त्रियों में रत्न के तुल्य; कूटस्थ=कूटस्थ; भगवान्=भगवान् श्रीकृष्ण; प्राकृतः=सामान्य; यथा=की भाँति ।

अनुवाद

भगवान् श्रीकृष्ण अपनी अहैतुकी कृपा से अपनी अन्तरङ्गा-शक्ति के द्वारा इस जगतीतल पर अवतीर्ण हुए तथा स्वयं अपने अनुरूप पत्नियों के साथ आनन्द लेते रहे । और विभिन्न सासारिक कार्यो में एक सामान्य व्यक्ति की भाँति व्यस्त रहते थे ।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण ने अन्य गृहस्थों की भाँति विवाह किया । निश्चित ही उनकी यह क्रीडा एक भौतिक कार्य की भाँति प्रतीत होती है किन्तु जब हमें यह अवगत होता है कि उन्होंने सोलह हजार एक सौ आठ पत्नियों से विवाह किया । और पृथक्-पृथक् प्रत्येक रानियो के राजमहलों में निवास कर उन्हें अतीव आनन्द प्रदान करते थे । तो निश्चित ही यह सांसारिक नही रह जाता । इसमें फिर भौतिकता की आशङ्का नही हो सकती । इस-लिये भगवान् सामान्य गृहस्थों की भाँति अपने अनुरूप पत्नियो के बीच रहते हुए भी सांसारिक भौतिक कदापि नही है । और अपनी पत्नियों के साथ उनका व्यवहार कभी भी सामान्य यौन सम्बन्ध नही समझा जाना चाहिये । उनकी पत्नियाँ निश्चित रूप से सामान्य स्त्रियाँ नही थी । क्योंकि भगवान् का दर्शन सान्निध्य प्राप्त करने के लिये भी हजारो वर्षो तक कठिन तपश्चर्या करनी पड़ती है, तब उन्हे अपने पति बनाने के लिये तो न जाने कितने करोड़ो वर्षों की तपस्या करनी पड़ी होगी ? जब भगवान् विभिन्न लोको मे प्रादुर्भूत होते हैं । इस अवनीतल पर प्रकट होते है तो अपनी ऐसी दिव्य लीलाएँ प्रकट करते है कि आश्रित जीव उनके प्रति आकर्षित होकर नित्यदास हो जायें, क्रीतदास हो जाये, मित्र हो जाये, माता-पिता हो जाएँ, प्रेममयी प्रेमिका हो जाएँ । जो कुछ भी बने केवल उनसे जुडजाये । और जब जीव किसी भी सम्बन्ध से भगवान् से जुड़ जाते है तब ससार के बन्धनों

से ऊपर उठ जाते हैं। फिर उनके जीवन में दुःख नहीं रह जाता। भगवान् की यह लीला उनकी अपरम्पार अहैतुकी अभूतपूर्व कृपा का ही प्रतीक है। भगवान् अपने प्रति अर्पित की गई समस्त सेवाओं का प्रतिदान देते है। उसके विनिमय में वे इतना कुछ देते है जिसका कोई हिसाब नही। भगवान् के प्रति की जाने वाली सेवा हमारी आत्मा का नित्य सहज स्वभाव है। हमारा वह वास्तविक स्वरूप है। लेकिन चूँकि हमे अपने स्वरूप का कोई पता नही, अतः हमारे इस विकृत भौतिक जीवन में वह दिव्य सेवा विकृत होकर प्रतिबिम्बित होती रही है। हम अपने जीवन में सदा किसी न किसी की सेवा करते हुए ही पाये जाते है। सेवा हमारा स्वरूप है। जब हम से भगवान् की सेवा नही होती तब पत्नी की सेवा, पुत्र की सेवा, समाज की सेवा होती रहती है। और ये समस्त सेवाएँ अन्त में एक विषादपूर्ण अनुभव मे पर्यवसित होती है। भौतिक प्रकृति के आश्रित, भ्रमित जीव कभी यह समझ नही पाते कि उनका यह सम्बन्ध अज्ञानाच्छन्न है अज्ञान के ही कारण है। और यह भौतिकजगत् क्षणभंगुर है और बहुत असुविधाओंसे, अपूर्णताओं से विषण्णताओं से आकीर्ण है। ऐसे सम्बन्ध कभी भी नित्यसुख की प्राप्ति में सहायक नही हो सकते। यदि यही सम्बन्ध भगवान् से जुड़ जावे तब हम दिव्य चिन्मय जगत् उपलब्ध कर सकते है और हम अपने मनोनीत सम्बन्ध से भगवान् से जुड सकते हैं। जिन राजकन्याओ के मध्य भगवान् पति के रूप मे विराजमान हुए थे वे सामान्य नारियाँ नही थी। वे भौतिक देह युक्त राजकन्याएं नही थी अपितु भगवान् के दिव्य धाम मे निवास करने वाली उनकी दिव्य अन्तरङ्गाशक्ति के विलास स्वरूपा थी। भगवान् की वे नित्यकान्ता थी। भगवान् के इस नित्यकान्ता सम्बन्ध को उन्होने लगातार बहुत वर्षो तक प्रेममयी सेवा अर्पण करते हुए सेवा की परिपाक अवस्था मे उपलब्ध किया था और यही उनकी रहस्यमयी योग्यता है। भगवान् "परम-ब्रह्म" कहे गये हैं अर्थात् "भगवत्ता के सर्वोच्च विग्रह" प्रत्येक आश्रित जीव नित्य-निरन्तर प्रत्येक स्थलों में नित्य सुख की खोज कर रहा है न केवल इसी लोक में वरन् समस्त अन्य लोक लोकान्तरों में भी उच्च एवं निम्न समस्त लोकों में भी सदा लगातार उस अप्राकृत स्फुलिङ्ग की खोज चल रही है। इस प्रकार खोज करते-करते वह इस भौतिक सृष्टि के किसी भी भाग में जन्म ले सकता है और वहाँ जन्म लेकर भी निरन्तर वह भटकता ही रहेगा उसका कोई ओर-छोर नही है। आश्रित जीव भौतिक-प्रकृति के तीनो गुणों से आबद्ध होकर, राकेट पर आरूढ होकर जिसकी खोज करने जाते हैं वह भी वही तत्व है उसी की खोज में वे उस ओर जा रहे है लेकिन

अपने गन्तव्य को न प्राप्त कर वे असफल हुए लौट आते हैं। गुरुत्वाकर्षण का नियम उन्हे ऐसे ही बाँधे हुए है जैसे एक कैदी को जंजीरे बाँधी हुई होती है। किन्ही अन्य उपायों से वे उच्चतर लोकों में पहुँच तो सकते हैं तथापि वहाँ वे नित्य सुख नही प्राप्त कर सकते, जिसे वे जन्म जन्मान्तर से निरन्तर खोज रहे हैं। जब वे मानव जीवन प्राप्त कर प्रज्ञा को उपलब्ध होते हैं तब ब्रह्मसुख को ही वास्तविक एवं नित्यसुख जानकर उसके अन्वेषण मे सलग्न हो पाते है। तथापि जिसे वे खोज रहे है वह भौतिक जगत् मे प्राप्त होने वाला नही, और निश्चित ही सर्वोच्च जीव 'परम ब्रह्म" अपना सुख इस भौतिक जगत् में नहीं खोजता और न ही उनकी सुख सामग्रियाँ ही इस भौतिक जगत् में पायी जाती है। वे निर्गुण निराकार नहीं हैं। वे सदा सर्वथा हमारे ही सदृश है। निश्चित ही वास्तव में वे हमारी ही भाँति हैं। तथा उनमें सामान्य जीवो के गुणों की परिपूर्णता का एकमात्र आदर्श परिलक्षित होता है। उन्होंने सर्वथा हमारी ही भाँति विवाह किया, परन्तु उनका विवाह न तो भौतिक है और न हमारी भाँति परतन्त्र-स्थिति के सीमित अनुभवों से आवद्ध है। इसलिये उनकी पत्नियाँ सामान्य नारियों की भाँति दिखाई तो पड़ती हैं परन्तु वे वास्तव में नित्य मुक्त दिव्य जीव है। वे अन्तरङ्गा शक्ति के प्राकट्य की पूर्ण अभिव्यक्तियाँ हैं।

[३६]

उद्दामभावपिशुनामलवल्गुहास-
व्रीडावलोकनिहितो मदनोऽपि यासाम् ।
सम्मुह्य चापमजहात्प्रमदोत्तमास्ता
यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकैर्नशेकुः ॥

उद्दाम=अत्यन्त भव्य; भाव=भाव; पिशुन=आश्चर्यकारक, अमल =मल रहित; वल्गुहास=मधुर मुस्कान्; व्रीडा=लज्जा; अवलोक=अवलोकन्; निहित=जीत लिया गया है, मदन.=कामदेव; अपि=भी; यासाम् =जिसके द्वारा; सम्मुह्य=विमोहित, आक्रान्त होकर; चापम्=धनुष; अजहात्=त्याग दिया; प्रमदा=सुन्दर नारी; उत्तमाः=उच्च स्तर का; ता= सब, यस्य=जिसका; इन्द्रियम्=इन्द्रियाँ; विमथितुम्=विचलित; कुहकै.=

आश्चर्य जनक क्रीडाओं द्वारा, नः=कभी नही; शेकुः=समर्थ हुए।

अनुवाद

यद्यपि महारानियों की अत्यन्त मधुर मुस्कान एव तिरछी चितवन परमनिष्कलङ्क एवं परम पवित्र थीं तथापि वे इतनी उत्तेजक थी कि सौन्दर्य के अधिदेवता साक्षात् कामदेव भी उन नेत्र-कटाक्षों से आहत हो जाता, उसके अङ्ग शिथिल हो जाते तथा उसका वह धनुष हाथों से गिर पड़ता, जिससे उसने भगवान् शिव को भी विचलित विमथित कर दिया था। परन्तु इन सब चमत्कार पूर्ण सौन्दर्य एव उत्तेजक हाव-भावो से भी वे महारानियाँ भगवान् श्रीकृष्ण की इन्द्रियो मे तनिक भी विकार न उत्पन्न कर सकी, न उत्पन्न कर सकी।

तात्पर्य

कैवल्य अथवा भगवत् धाम की प्राप्ति का मार्ग प्रारम्भ से नारियो के संसर्ग का निषेध करता रहा है। सनातन धर्म अथवा वर्णाश्रम धर्म नारी-मिलन की उत्सुकताओं पर एक प्रबल नियन्त्रण एक कठोर अनुशासन लागू करता है। तव कैसे कोई नारी साक्षात् भगवान् के द्वारा स्वीकृत हो सकती है? तथापि भगवान् श्रीकृष्ण सोलह हजार पत्नियो से सम्बन्धित है? यह प्रश्न उन जिज्ञासुओ के मन में उठ सकता है, जो सचमुच भगवान् की सर्वोच्चता एवं दिव्यता को जानने को जिज्ञासु है। और नैमिषारण्य के ऋषियों के मध्य भगवान् के दिव्य चरित्र के रहस्य से सम्बन्धित प्रश्न का स्पष्टोकरण इस श्लोक मे हुआ है। यह स्पष्ट है कि नारियों की परम आकर्षक भाव-भङ्गिमा जो कामदेव को भी जीत लेने वाली है, यहाँ तक कि सर्वोच्च सहनशील भगवान् शिव को भी जीत लेने वाली है वे उन्मादक नेत्र-कटाक्ष एव उत्तेजक भाव भङ्गिमाएँ भगवान् श्रीकृष्ण की इन्द्रियों को तनिक भी विचलित नही कर पाती। कामदेव का एकमात्र यही कार्य है कि प्राणियो मे वह भौतिक आकर्षण का उन्मेष करता है। वह कामवासना जगाता है। और सम्पूर्ण विश्व काम के बाण के प्रहारों से ही चञ्चल एवं विक्षिप्त हो रहा है। ससार का कार्य वास्तव मे स्त्री और पुरुष के आकर्षण से ही गतिशील हो रहा है। पुरुष अपने अनुरूप किसी पत्नी की खोज कर रहा है। नारी अपने अनुरूप किसी पुरुष की खोज कर रही है। और यही भौतिक जगत् के गतिशील होने का, सक्रिय होने का सूत्र है। ज्योंही पुरुष नारी से

सम्बन्धित होता है त्योंही भौतिक बन्धन जीव को यौन आकर्षणों से बाँध देता है। परिणाम यह होता है कि नर-नारी दोनों सुन्दर गृह, मातृ भूमि, शारीरिकसुख सुविधाएँ, समाज, मित्र-मण्डल, धन परिग्रह और भौतिक आडम्बरों में पड़ जाते है। ये क्षणिक सुखों के मिथ्या प्रलोभन अन्ततोगत्वा दुख में ही पर्यवसित होते है। जो मोक्ष मार्ग में आरूढ हो गये हैं, भगवद्धाम प्राप्ति में तत्पर होगये है, धर्म शास्त्रों ने उनके लिये यह विशिष्ट आज्ञा प्रसारित की है कि वे भौतिक आकर्षणों से बचे। उनसे दूर रहें। और यह तभी सम्भव है जब भगवान् के भक्तों का सत्सङ्ग प्राप्त हो। केवल तभी भौतिक आकर्षणों से व्यक्ति बचा रह सकता है। कामदेव इसलिये जीवों को अपने बाणों का निशाना बनाता है कि वह विरोधी लिङ्ग की ओर आकृष्ट होकर पागल हो सके। प्रतियोगी चाहे सुन्दर हो या कुरूप कामदेव के बाणों का प्रभाव वहाँ भी पाया जाता है। जहाँ बर्बर वृत्ति के लोग रहते है, तथा समाज जहाँ सर्वथा कुरूप लोगों से भरा पडा है। वहाँ भी काम के बाणों का प्रभाव देखा जाता है। वे भी कामोन्माद से विक्षिप्त दृष्टिगोचर हो रहे है। तब जो सुन्दर हैं बहुत सौन्दर्यशाली है, उनके विषय मे क्या कहना? भगवान् शिव जो अत्यन्त सहिष्णु माने जाते है, जो सब सह लेते है वे भी काम के बाणों से व्यथित हो गये थे क्योंकि वे भी भगवान् के नारी अवतार मोहिनी के कटाक्ष विलासों से आकृष्ट हो गये थे और उन्होने स्वीकार किया था कि वे पराजित हो गये। जिस कामदेव का ऐसा प्रताप है, वह भाग्य की अधिदेवी के उन्मादकारी उत्तेजक हाव-भावों से पराजित हो गया तथा उनके सौन्दर्य की चमक चाँदनी से मुग्ध होकर विक्षिप्त हो गया और उसके हाथों से धनुष-बाण छूट गिरा था। ऐसा ही महान् आश्चर्यमय श्रीकृष्ण की महारानियों का सौन्दर्य था तथापि सम्पूर्ण शक्ति लगाकर भी वे भगवान् की इन्द्रियो में स्पन्दन नही उत्पन्न कर पाती थी। कोई चञ्चलता, कोई आकर्षण, कोई पागलपन बिल्कुल नही उत्पन्न कर सकी थीं। इसका कारण यह था कि भगवान् सदा परिपूर्ण है, आत्माराम है, नित्य तृप्त है, निष्काम है, उन्हें व्यक्तिगत सन्तोष के लिए, व्यक्तिगत सुख शान्ति के लिए किसी अन्य की सहायता की आवश्यकता नही पड़ती। इसलिए रानियाँ भगवान् को अपनी नारियोचित हाव-भाव एवं आकर्षण युक्त तीव्र नेत्र कटाक्षों से तनिक भी प्रभावित न कर पायीं। भगवान् को यदि उन्होंने सन्तुष्ट एव प्रसन्न किया है तो एकमात्र केवल प्रेममयी सेवा के द्वारा। ससार में केवल अहैतुकी सेवा ही भगवान् को सन्तुष्ट कर सकती है, उन्हें आकृष्ट कर सकती है। भगवान्

उनसे प्रसन्न हुए थे उनसे अपनी पत्नी की भाँति व्यवहार किये थे यह उनकी अविरल विशुद्ध अनन्य निष्काम प्रेममयी सेवा का ही फल था। इस प्रकार भगवान् अपने प्रति अहैतुकी सेवा से ही सन्तुष्ट होते है और वह सेवा पति-पत्नी के भावों से भी अर्पित हो सकती है अन्यथा उन्हें इतनी सारी पत्नियों के पति होने की कोई आवश्यकता न थी। वे प्रत्येक जीवधारी के स्वामी है वे प्राणीमात्र के पति है परन्तु जो उन्हें उस रूप मे भजते है उन्हें दर्शन देकर वे पत्नी रूप में स्वीकार करते है। भगवान् के प्रति यह अहैतुकी अनन्य मधुर प्रेम कभी किसी सासारिक कामजन्य व्यवहार अथवा सामान्य नायक-नायिका के व्यवहारों से अथवा सम्बन्धों से तुलना नही की जानी चाहिये। और द्वारका की महारानियो ने अत्यन्त तीव्र उत्तेजक, उन्मादक व्यवहार जो भगवान् के प्रति अपने सरल सहज स्वाभाविक लज्जा सुलभ कोमल भावनाओं के माध्यम से प्रकट किया। वे सब दिव्य थे अप्राकृत थे, चिन्मय थे, उनमें कोई सांसारिकता नही थी, क्योकि उनके हाव-भाव दिव्य सच्चिदानन्दमय अनुभूतियों की दिव्य तरङ्गों मे अभिव्यक्त हुए थे। यह पहिले ही समझाया जा चुका है कि भगवान् सामान्य पति की भाँति प्रतीत होते है, परन्तु वास्तव में अपनी पत्नियों के साथ उनके समस्त सम्बन्ध दिव्य है, विशुद्ध है और है भौतिक प्रकृति के तीनों गुणो एव वृत्तियों से सर्वथा परे-उन्मुक्त।

[३७]

तमयं मन्यते लोको ह्यसंगमपि सङ्गिनम्।
आत्मौपम्येन मनुजं व्यापृण्वानं यतोऽबुधः॥

तम्=उनको (भगवान् श्रीकृष्ण को); अयम्=ये सब (सामान्य जीव), मन्यते=मानते है; लोकः=आश्रित जीव, हि=निश्चित ही, अस-ङ्गम्=अनासक्त, अपि=के बदले मे; सङ्गिनम्=प्रभावित या आसक्त; आत्मा=स्वयं, औपम्येन=अपनी तुलना द्वारा, मनुजम्=सामान्य मनुष्य; व्यापृण्वानम्=संलग्न, यत =क्योकि, अबुधः=मूर्ख मनुष्य।

अनुवाद

सामान्य भौतिकवादी आश्रित जीव अनुमान करते है कि भगवान् भी

उनमें से ही एक है। अज्ञान के कारण ही वे ऐसा सोचते हैं, कि भगवान् भी पदार्थो से प्रभावित होते है, जब कि वास्तव मे वे अनासक्त असम्पृक्त एवं त्रिगुणातीत है।

तात्पर्य

"अबुधः" शब्द यहाँ महत्वपूर्ण है। केवल अज्ञान के कारण केवल मूर्खता के ही कारण भौतिकवादी भगवान् को समझने मे चूक जाते है। और अपनी मूर्खतापूर्ण कल्पनाओं के विज्ञापन से सरल, निर्दोष एवं भोले भाले व्यक्तियों की बुद्धि भी भ्रमित करते है, कलुषित करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण वास्तव मे भगवत्ता के सर्वोच्च मौलिक विग्रह है, और जब वे व्यक्तिगत रूप से जन-सामान्य के नेत्रों के समक्ष उपस्थित थे तब उन्होने जीवन के प्रत्येक क्षेत्रों मे अपनी दिव्य शक्ति का चमत्कार प्रदर्शित किया था। हम भी श्रीमद्-भागवत के प्रथम श्लोक मे वर्णन कर आये है कि वे अपने सम्पूर्ण कार्यो मे सर्वथा स्वतन्त्र है। स्वराट् है। वे इच्छानुसार कार्य करने मे सदा समर्थ है, तथापि उनके समस्त कार्य-कलाप आनन्द, ज्ञान एव नित्यत्व से परिपूर्ण है। केवल भौतिकवादी ही उनके उस नित्य ज्ञान-आनन्दमय रूप को समझने से चूक जाते है। जो भगवद्गीता एवं उपनिषदों में वर्णित हुआ है उनकी विभिन्न शक्तियाँ प्रकृति के साथ पूर्ण लयबद्धता में सक्रिय होती हैं। प्रकृति की विभिन्न शक्तियों के माध्यम से जगत् का भलीभाँति सञ्चालन करते हुए भी वे नित्य निरन्तर अपनी परम उन्मुक्तता में अपनी परम स्वतन्त्रता मे नित्य अवस्थित रहते है। जब वे भौतिक जगत् में अपनी अहैतुकी कृपा से आविर्भूत होते है तो वे अपनी निजी अन्तरङ्गा शक्ति के द्वारा ही आविर्भूत होते है और जब तक वे यहाँ विराजमान रहते है तब तक भौतिक प्रकृति की किन्ही भी वृत्तियों से सश्लिष्ट नही होते। वे जैसे है, जो उनका मौलिक विग्रह, मौलिक स्वरूप है, वैसे ही वे यथावत् अवतीर्ण होते हैं। उसमें तनिक भी अन्तर नही आता, तनिक भी परिवर्तन नही होता वे ज्यों के त्यों अवतरित होते है। बुद्धिजीवी तर्क प्रधान व्यक्ति अपने अनर्गल तर्कों से उन्हें केवल एक महापुरुष ही सिद्ध कर पाते है तथा उनके अव्यक्त, अबोध्य, अव्याख्य ब्रह्म स्वरूप को ही परमगति आत्यन्तिक सिद्धि मान बैठते है। ऐसी धारणा वास्तव में परतन्त्र जीवन का ही परिणाम है क्योंकि वे अपनी व्यक्तिगत योग्यता के परे अनुभव करने में समर्थ होते हैं। इसलिये जो अपनी सीमित योग्यता के कारण भगवान् को अपने समान धरा-

तल पर सोचने के अभ्यस्त है वे अति सामान्य बुद्धि के व्यक्ति है। ऐसे व्यक्ति भगवान् के त्रिगुणातीत स्वरूप का प्रकृति के गुणो एवं प्रवृत्तियों से सर्वथा अनासक्त त्रिगुणातीत स्वरूप पर कभी विश्वास नही कर पाते जो सर्वथा सूर्य की भाँति है। सूर्य संक्रामक पदार्थो से सर्वदा-सर्वथा अछूता रहा आता है। शुष्क तर्क प्रधान व्यक्ति प्रत्येक विषय को अपने भौतिक दृष्टि-कोण से ही सोचते है और जब भगवान् इस धराधाम पर अवतीर्ण होते है और सामान्य व्यक्ति की भाँति, भौतिक बन्धनों में बँधे हुए की भाँति क्रीडा करते हुए पाये जाते है, तो शुष्क तार्किक सोचते है कि भगवान् भी उन्हीं की भाँति आश्रित जीवों मे से ही एक है और वे भी साधना से सिद्ध होने वाले है उनकी अल्प बुद्धिमत्ता उन्हें भगवान् को केवल एक महापुरुष मानने को विवश करती है। अल्प बुद्धिमत्ता के कारण शुष्कतार्किक चिन्तन के द्वारा यह नही समझ सकते कि भगवान् श्रीकृष्ण एक ही साथ सोलह हजार कन्याओ से कैसे विवाह कर सके? अल्पज्ञता उन्हें निरन्तर एक ही पक्ष पर विचार कराती है तथा दूसरा पक्ष अविश्वस्त एवं चिन्तन से अछूता रह जाता है। इसका अर्थ यह है कि उनके अज्ञान ने उन्हें एक जाल मे आबद्ध कर साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण को अपने जैसा ही, अपने ही मे से एक मानने को बाध्य कर दिया है। इसलिये उनके निर्णयो से सत्य का कोई लेना देना नही है। वह उनकी सङ्कीर्णताओं का ही प्रतिफलन है। और इस-लिये वे समस्त शुष्क-चिन्तन पूर्ण दार्शनिक गुत्थियाँ प्रामाणिक आचार्यों के स्वस्थ दृष्टिकोण से अनर्गल एवं अप्रमाणिक हैं।

[३८]

एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः।
न युज्यते सदाऽऽत्मस्थैर्यथा बुद्धिस्तदाश्रया ॥

एतत्=यह; ईशनम्=दिव्यता; ईशस्य=भगवान् का; प्रकृतिस्थः=भौतिक प्रकृति के सम्पर्क में; अपि=बदले में, तत्-गुणैः=उन गुणों द्वारा; न=कभी नहीं, युज्यते=प्रभावित होता है; सदा-आत्मस्थै.=निरन्तर आत्मा की नित्यता में अवस्थित; यथा=जैसे; बुद्धिः=बुद्धिमान् व्यक्ति; तत्=उन भगवान् को; आश्रया=आश्रय ग्रहण कर।

अनुवाद

भगवान् श्रीकृष्ण के स्वभाव की अद्भुत विशिष्टता यह है कि वे निरन्तर सम्पर्क मे रहते हुए भी कभी भौतिक प्रकृति के त्रिगुण-संक्रम से प्रभावित नही होते। ठीक इसी प्रकार वे भक्त जिन्होंने अपनी बुद्धि उन्हें समर्पित करदी है। वे भी भौतिक प्रकृति की वृत्तियों के बन्धन कारक प्रभावों से लिपायमान नही होते।

तात्पर्य

वेदों एवं वैदिक वाङ्मय (श्रुति-स्मृति) में यह भली भाँति प्रतिपादित हुआ है कि भगवान् की दिव्यता मे भौतिकता का लेशमात्र भी समावेश नहीं है। वे अप्राकृत (निर्गुण) हैं, परम ज्ञानगम्य ज्ञानस्वरूप श्री हरि हैं। वे भगवत्ता के सर्वोच्च विग्रह हैं उनका परम दिव्य व्यक्तित्व-प्राकृत. सांसारिक प्रेम सम्बन्धों से सर्वथा परे है। उसमें तनिक भी भौतिकता का, त्रिगुणसक्रम का लेश भी नही है। यह तथ्य महान् निर्गुणोपासक आचार्य शकर द्वारा भी स्वीकृत हुआ है। कोई तर्क कर सकता है कि उनका सम्बन्ध भाग्य की अधिदेवी लक्ष्मी से अप्राकृत हो सकता है किन्तु यदुवंश से उनका सम्बन्ध कैसे अप्राकृत त्रिगुणातीत हो सकेगा ? उस परिवार में जन्म लेना तथा पारिवारिक सदस्यों से सम्बन्धित होना तथा भौतिक प्रकृति की निम्नतम प्रवृत्तियों में निरन्तर लीन रहने वाले जरासन्ध आदि विभिन्न असुरों का संहार कैसे दिव्य हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि भगवान् की दिव्यता का कभी किसी भी परिस्थिति में भौतिक प्रकृति की वृत्तियों से सम्बन्ध कदापि नही होता, परन्तु चूंकि वे ही समस्त विश्व ब्रह्माण्डों के समग्र अस्तित्व के चरम उत्स हैं, मूल उद्गम हैं, अत: वे ही सर्वत्र प्रतिभात हो रहे है। और वे ही इन गुणो से संश्लिष्ट एव सम्पृक्त से प्रतीत हो रहे हैं। इन सब पदार्थो, कर्मों, गुणों, एवं वृत्तियों में सर्वत्र रमे हुए होकर भी उससे अतीत होने के कारण वे "योगेश्वर" कहे जाते हैं। "योगेश्वर" का अर्थ है सम्पूर्ण रहस्यमयी शक्तियों के सञ्चालक। दूसरे शब्दों मे सर्वशक्तिमान्। भगवान् की वात तो दूर उनके भक्त भी भौतिक प्रकृति के प्रभावों से प्रभावित नही होते। वृन्दावन के षड् गोस्वामी महान् कुलीन एवं समृद्ध परिवार से आये थे। किन्तु जव उन्होंने वृन्दावन धाम में परिव्राजक जीवन स्वीकार किया, तो वाह्य दृष्टि से वे यद्यपि दीन हीनवत् प्रतीत होते थे पर

आध्यात्मिक दृष्टि से अत्यन्त वैभव सम्पन्न थे। उनके पास आध्यात्मिक सम्पदा का प्रचुर सञ्चय था। ऐसे महाभागवत अथवा प्रथम दर्जे के भक्त यद्यपि सामान्य व्यक्तियों के मध्य सञ्चरण करते रहते है तथापि मान एव अपमान से, क्षुधा एव तृप्ति से, निद्रा एव जागृति से जो कि भौतिक गुणों की वृत्तियाँ है कभी प्रभावित नही होते। कभी भी इनसे बाधित नही होते है। इसी भाँति उनमें से कोई जब सासारिक व्यवहार मे संलग्न होते है तो भी सर्वथा अनासक्त एवं अप्रभावित रहे आते है। जब तक जीवन की नकारात्मकताएँ उपस्थित रहती है तब तक कोई व्यक्ति अप्राकृत तत्व मे प्रतिष्ठित नही कहा जा सकता। दिव्यता के मूर्त्तरूप भगवान् उनके पार्षद दोनों एक ही चिन्मय धरातल मे नित्य अवस्थित रहते है। और उनकी महिमाएँ सदा योगमाया अथवा भगवान् की अन्तरङ्गा शक्ति के द्वारा परिपूरित होती रहती है। भगवान् के भक्त सदा दिव्य है और यद्यपि वे कभी-कभी अपने स्वभाव से च्युत होते हुए, अपने सच्चे स्वरूप से पतित होते हुए देखे जाते है, तथापि वे दिव्य ही है। भगवद्गीता ६।२० में भगवान् दृढ़तापूर्वक घोषित करते है—"मेरा अनन्य भक्त अपने पूर्व सस्कारों वश चाहे पतित ही क्यो न हो जाय तथापि वह पूर्ण दिव्य ही स्वीकार किया जाने योग्य है। क्योकि उसने अपने जीवन मे कभी कोई क्षण सम्पूर्ण हृदय से मेरी प्रेममयी सेवा में समर्पित किया था।" भगवान् उसकी सम्पूर्ण स्थितियों को अपनी प्रेममयी सेवा के अन्तर्गत मान लेते है तथा यथावसर आवश्यकतानुसार उनकी रक्षा अवश्य करते है। उनकी पतितावस्था क्षणिक एव सांयोगिक होती है। वे शीघ्र ही समाप्त हो जाने वाले होते है।

[३६]

तं मेनिरेऽबला मूढाः स्त्रैणं चानुव्रतं रहः।
अप्रमाणविदो भर्तुरीश्वरं मतयो यथा॥

तम्=उन भगवान् श्रीकृष्ण को; मेनिरे=मानते हैं; अबलाः=सुकोमल, मूढाः=मूढ़ लोग; स्त्रैणम्=स्त्री आसक्त; च=भी; अनुव्रतम्=सदा अनुगमन करने वाला; रहः=एकान्त स्थल; अप्रमाणः विदः=उनकी महिमा-गरिमा से अपरिचित; भर्तुः=अपने पति का; ईश्वरम्=परम नियन्त्रक को; मतयः=निबन्ध, यथा=जैसे।

अनुवाद

वे अत्यन्त कोमल भावनाओं वाली भोली राजकन्याएँ भगवान् श्रीकृष्ण के विषय में यह सोचती कि ये हमारे प्रियतम पतिदेव हमारे हाथों के क्रीडामृग की भाँति है, हमारे अनुचर की भाँति है, जो सदा ही उनकी अभिलाषाओ की पूर्ति मे सलग्न रहते है। वे बेचारी पति रूप धारी भगवान् की महिमाओं से वैसे ही अनवगत थी, अनजान थी, जैसे एक नास्तिक भगवान् के सर्वोच्च ईश्वरत्व से अपरिचित होता है।

तात्पर्य

भगवान् की सोलह हजार अप्राकृत पत्नियाँ भगवान् की अगाध महिमा से अपरिचित बनी रही। तथापि उनका यह अज्ञान सांमारिक नही है, क्योंकि वहाँ निरन्तर अन्तरङ्गा शक्ति ही सक्रिय हो रही है जो भगवान् एव उनके दिव्य नित्य पार्षदों के मध्य रसपूर्ण मृदुल भावनाओं का, भक्ति प्रेम के विभिन्न गूढ गहन स्तरों में अनुरागरस तरङ्गों का परस्पर आदान प्रदान कराती रहती है। और यह आदान प्रदान तभी सम्भव होता है जब ऐश्वर्य का पूर्ण रूपेग विस्मरण हो जाय। भगवान् अपने दिव्य सम्बन्धों का आदान प्रदान पाँच विभिन्न रूपो मे करते है। समग्र अस्तित्व-व्यापी ईश्वर भाव से, स्वामी भाव से, मित्र भाव से, पुत्र भाव से एवं प्रेमी भ.व से तथा इनमें से प्रत्येक रूप मे वे योगमाया के द्वारा अद्भुत विचित्र आनन्द रस एव अनुराग रङ्ग की होली खेलते हुए क्रीडाएँ करते है। वे सर्वथा उन्ही के तुल्य एक सामान्य किन्तु परम रसमय आकर्षक गोप बालक बन जाते है और क्रीड़ा करते है। अर्जुन से जब मिलते है तो वे उन्ही की भाँति एक सामान्य मधुर मनोहर राजकुमार प्रतीत होते है। अर्जुन को वे सर्वथा अपने अनुरूप एक घनिष्ठ मित्र ही दृष्टिगोचर होते हैं। वे माँ यशोदा के समीप सर्वथा एक सामान्य अत्यन्त भोले-भाले, नवनीत मृदुल, परम-सुकुमार शिशु की भाँति क्रीडिष्यमाण दृष्टिगोचर होते है। और जब वे व्रजाङ्गनाओं के दृष्टिपथ से उनके हृदय प्राङ्गण के अतिथि बनते हैं, तो तत्क्षण जन्मजन्मान्तर के चिरपरिचित प्रेमिल प्रियतम की भाँति चेतना मे प्रवेश कर समग्र जीवन मे अभिभूत हो जाते हैं। सर्वत्र फैल जाते है वे महाप्रभु। और जब वे द्वारका पधारते हैं तो अपनी महारानियों से

वैसे ही प्रगाढ़ प्रेम भरे हृदय से व्यवहार करते हैं जैसे कि एक परम प्रियतम पति अपनी प्यारी पत्नी से कभी कर सकता है। भगवान् के साथ उपरोक्त पाँच भावों में विभोर रहने वाला भक्त कभी भी उन्हें सर्वोच्च ईश्वर मानने की चिन्ता में नही पड़ता। वल्कि इसके विपरीत वे उन्हें सर्वथा एक सामान्य मित्र, स्नेहमय पुत्र अथवा अत्यन्त तीव्र पत्नीप्रेमी-पति अथवा अत्यन्त मधुर प्राणोपम प्रियतम ही प्रतीत होते हैं। तथा उनके प्राण, उनकी आत्मा इसी में संतृप्त होते हैं। यही भगवान् एवं उनके प्यारे भक्तों का परम दिव्य, चिन्मय मधुर लोकातीत सम्बन्ध है। वे परव्योम में नित्य-निरन्तर अपने पार्षदों के साथ दिव्य क्रीड़ाएँ करते रहते हैं उनकी यह क्रीड़ा अनादि काल से अनन्त काल के लिए अखण्ड एवं अबाध गति से सतत चलती रहती है। जव भगवान् अपने पार्षदों के साथ इस धरती तल पर अवतीर्ण होते है, तो उनके उस दिव्य अप्राकृत जगत् का भी इस जगतीतल में आविर्भाव होता है। सब मिलकर इस भूलोक में अप्राकृत धाम का एक मनोहर चित्र प्रस्तुत करते हैं। उसमें भौतिकता का लेश मात्र भी समावेश नही होता।यद्यपि यह भौतिक जगत् में ही प्रतिबिम्बित होता है तथापि त्रिगुण उस पर अपना स्वामित्व किसी भी प्रकार प्रदर्शित नही कर पाता। भगवान् के साथ क्रीड़ा में भाग लेने वाले भक्त प्रायः सभी मुक्तजीव होते हैं। ये बहिरङ्गा शक्ति के प्रभाव से सर्वथा रिक्त, तटस्था एवं अन्तरङ्गा शक्ति के यथार्थ प्रस्तुतिकरण के एकमात्र आदर्श होते है। भगवान् श्रीकृष्ण की पत्नियों के हृदय से उनकी अनन्त महिमा का विस्मरण उनकी अन्तरङ्गा शक्ति के द्वारा दिव्य-भावों के आदान प्रदान के अविच्छिन्न प्रवाह में सुविधा प्रदान करने के लिए हुआ था। इसलिये वे उनके समस्त ऐश्वर्यादि भगवत्ताओं को सर्वथा विस्मृत कर उन्हे अपना भार्या-शासित पति मान बैठी तथा सदा यही मानती रही और भगवान् भी सदा एकान्त शान्त, नीरव स्थलो में उनका अनुगमन-सा करते रहते थे। दूसरे शब्दों मे जब भगवान् के अन्तरङ्ग पार्षद भी उन्हे भलीभाँति नही जान पाते, तव ये निवन्ध लेखक तथा तार्किक, अनुमान प्रधान व्यक्ति भगवान् की दिव्य गरिमा को कैसे जान सकते हैं? तार्किक अपनी तर्क शक्ति का समुचित प्रयोग कर अधिक से अधिक सृष्टि के कार्य कारण आदि उपादान कारणों के अन्तिम तत्व के रूप में उन्हे जान सकते है। परन्तु यह सव भगवान् के परम अन्तरङ्ग गूढ ज्ञान का एक वाह्य नगण्य, क्षुद्र अश मात्र है। वास्तव में ये उतने ही अज्ञानी हैं जितने सामान्य व्यक्ति। तत्त्वत. भगवान् केवल उनकी कृपा

से ही जाने जा सकते हैं, और कोई उपाय नहीं है। परन्तु जहाँ तक भगवान् की अपनी पत्नियों के साथ व्यवहार का सम्बन्ध है वह सदा सर्वदा दिव्य-विशुद्ध चिन्मय प्रेम पर ही समाधारित है। और इस प्रकार भगवान् की पत्नियाँ भी साँसारिक मोह आसक्ति से रहित सर्वथा नित्य, दिव्य अप्राकृत धरातल में भगवत् पार्षद है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत प्रथम स्कन्ध एकादश अध्याय शीर्षक "भगवान् श्रीकृष्ण का द्वारका प्रवेश" पर भक्तिवेदान्त टीका समाप्त हुई।

द्वादश अध्याय

सम्राट् परीक्षित का जन्म

[१]

शौनक उवाच

अश्वत्थाम्नोपसृष्टेन ब्रह्मशीर्ष्णोरुतेजसा ।
उत्तराया हतो गर्भ ईशेना जीवितः पुनः ।।

श्री शौनक उवाच=श्रीशौनक जी बोले; अश्वत्थाम्ना=अश्वत्थामा का; उपसृष्टेन=निक्षिप्त, ब्रह्म-शीर्ष्ण=अजेय ब्रह्मास्त्र, उरु-तेजसा=भीषण ताप वाला; उत्तराया=महाराज परीक्षित की माता उत्तरा का, हत.=नष्ट हुआ, गर्भ=गर्भ, ईशेन=भगवान् के द्वारा,आजीवित.=जीवित किया गया, पुनः=फिर से ।

अनुवाद

श्री शौनक जी बोले—महाराज परीक्षित अपनी माता उत्तरा देवी के गर्भ मे अश्वत्थामा के द्वारा निक्षिप्त भयङ्कर एवं अजेय ब्रह्मास्त्र द्वारा नष्ट ही हो गये थे, परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा से वे सुरक्षित वच गये ।

तात्पर्य

नैमिषारण्य के वन में एकत्रित हुए ऋषियों ने श्रीसूत गोस्वामी से महाराज परीक्षित के जन्म के विषय में प्रश्न किया परन्तु वर्णनानुक्र

अनेक बातों का वर्णन करना पड़ा, जैसे द्रोणपुत्र के द्वारा ब्रह्मास्त्र का निक्षेप तथा अर्जुन के द्वारा उसका प्रतीकार कर दण्डित किया जाना, रानी कुन्ती की श्रीकृष्ण प्रार्थना तथा पाण्डवों का भीष्मदेव के दर्शन एवं उनकी श्रीकृष्ण प्रार्थना तत्पश्चात् भगवान् का द्वारका के लिए प्रस्थान। इन सब विषयों पर विस्तृत चर्चा हुई, यह सब मूल विषय के स्पष्टीकरण के संदर्भ में हो था। भगवान् का द्वारका पहुँचना तथा वहाँ पर सोलह हजार रानियो के मध्य निवास करना अत्यन्त सुन्दरतापूर्वक वर्णित हुआ है। वे इन सब कथाओं के श्रवण मे तन्मय हो गये थे, परन्तु अब उन्होंने चाहा कि हम अब मूल विषय पर आवे। और इस प्रकार श्रीशौनक ऋषि ने जिज्ञासा की तब अश्वत्थामा के द्वारा निक्षिप्त ब्रह्मास्त्र की प्रतिक्रिया का पुनः वर्णन प्रारम्भ हुआ।

[२]

तस्य जन्म महाबुद्धेः कर्माणि च महात्मनः।
निधनं च यथैवासीत्स प्रेत्यगतवान् यथा॥

तस्य=उसका, (महाराज परीक्षित का); जन्म=जन्म; महा-बुद्धे.= महा बुद्धिमान का; कर्माणि=कार्यकलाप; च=भी; महा-आत्मनः=महान् भक्त का, निधनम्=मृत्यु, च=भी; यथा=जैसे; इव=सचमुच, आसीत्= हुआ था; सः=वह, प्रेत्य=मृत्यु के अनन्तर; गतवान्=प्राप्त किया, यथा =जैसे।

अनुवाद

जो अपने जन्मकाल से ही महा बुद्धिमान एव महान् भगवद्भक्त थे, उन सम्राट् परीक्षित की मृत्यु किस प्रकार घटित हुई तथा उन्होने कौन सी गति को प्राप्त किया।

तात्पर्य

हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर अभिषिक्त राजा संसार के सम्राट्

होते थे महाराज परीक्षित अपनी माता के गर्भ में भगवान् के द्वारा रक्षित हुए थे, अतएव वे ब्राह्मणों के शाप से प्राप्त हुई अकाल मृत्यु से भी निश्चित ही बच सकते थे। चूंकि महाराज परीक्षित के अधिकार प्राप्त करने के पश्चात् तुरन्त ही कलियुग प्रारम्भ हो गया, अतः उसका प्रथम लक्षण महा बुद्धिमान् एवं भक्त राजा परीक्षित जैसे पुण्य पुरुष को शाप देने में अभिव्यक्त हुआ। राजा अनाथ नागरिकों को आश्रय देता है, संरक्षण प्रदान करता है तथा उनके कल्याण, शान्ति एवं समृद्धि का विकास सर्वथा उसी पर अवलम्बित है। दुर्भाग्यवश कलियुगी प्रवृत्तियों से एक ब्राह्मण के पुत्र ने किञ्चिद् अपराध पर महाराज परीक्षित को भयङ्कर शाप दे डाला। और इसलिए राजा परीक्षित को सात दिनों के अनन्तर मृत्यु का स्वागत करने के लिए तैयार होना पड़ा, महाराज परीक्षित भगवान् विष्णु की प्रत्यक्ष कृपा प्राप्ति के प्रसङ्ग में विशिष्ट रूप से प्रसिद्ध है। और जब वे ब्राह्मण पुत्र से अभिशप्त हुए थे, उस समय वे भगवान् से अपनी रक्षार्थ प्रार्थना कर सकते थे, परन्तु उन्होंने ऐसा नही चाहा। क्योंकि एक सच्चा भक्त कभी भगवान् से किसी अवांछित विषय पर सामान्य बात पर कृपा करने के लिए प्रार्थना नही करता। महाराज परीक्षित जानते थे कि ब्राह्मण पुत्र का शाप न्यायोचित न था तथापि उन्होंने उसका प्रतीकार करना उचित नहीं समझा क्योकि वे जानते थे कि कलियुग प्रारम्भ हो चुका है। और इसका प्रथम लक्षण है विशिष्ट प्रतिभा-सम्पन्न ब्राह्मण समाज का पतन। इसलिये वे तत्कालीन वस्तुस्थिति में कोई परिवर्तन नही करना चाहते थे। इसके विपरीत वे स्वयं को मृत्यु के अभिनन्दनार्थ प्रस्तुत कर सकते है। बड़े सुख पूर्वक बड़ी शान्ति पूर्वक वे अपने को तैयार कर लेते है। वे बड़े भाग्यशाली थे क्योंकि उन्होंने सात दिनों का अवकाश भी प्राप्त कर लिया ताकि मृत्यु मिलन के लिये वे स्वयं को तैयार कर सकें और इस प्रकार उन्होंने उक्त समय का सदुपयोग गुरुदेव गोस्वामी के सान्निध्य मे उनके श्री चरणो की छत्रछाया मे किया, जो कि एक महान् सन्त एव भगवान् के अनन्य भक्त थे।

[३]

तदिदं श्रोतुमिच्छामो गदितुं यदि मन्यसे।
ब्रूहि नः श्रद्धधानानां यस्य ज्ञानमदाच्छुकः॥

तद्=सब; इदम्=यह; श्रोतुम्=सुनने को; इच्छामः=इच्छा करते हैं; गदितम्=वर्णन करने को; यदि=यदि; मन्यसे=मानते है; ब्रूहि= कृपया कहिए, नः=हमको; श्रद्धधानानाम्=अत्यन्त श्रद्धा से भरे हुए हृदय वाले को; यस्य=जिसका; ज्ञानम्=दिव्य ज्ञान; अदात्=प्रदान किया; शुकः =श्री शुकदेव गोस्वामी।

अनुवाद

हम समस्त अत्यन्त सम्मानपूर्वक महाराज परीक्षित के विषय में श्रवण करना चाहते है, जिन्हे श्रीशुकदेव गोस्वामी ने भगवत्तत्व का दिव्य ज्ञान प्रदान किया। कृपया हमें उक्त विषय से अवगत कराने की कृपा करे।

तात्पर्य

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने परीक्षित को उनके जीवन के अन्तिम सात दिनों में दिव्य भगवत्तत्व-विज्ञान का उपदेश किया। तथा महाराज परीक्षित अत्यन्त सावधानी पूर्वक उनकी भक्तिमयी कथा का रसास्वादन करते रहे। ठीक उसी प्रकार जैसे एक अत्यन्त गम्भीर विद्यार्थी अत्यन्त गम्भीर विषय का अध्ययन करता है। और इस प्रकार श्रीमद्भागवत् ग्रन्थ के प्रामाणिक श्रवण एवं प्रामाणिक कीर्तन का परिणाम तत्क्षण श्रोता एवं वक्ता दोनों पर पड़ा, वे दोनों ही लाभान्वित हुए। जो श्रीमद्भागवत् वर्णित प्रेममयी सेवा के दिव्य अङ्गों में से एक का भी जीवन में अभ्यास करता है उसके लिए वह अवश्यमेव सर्वोच्च लाभ प्रदान करती है। महाराज परीक्षित एवं श्रीशुकदेव गोस्वामी दोनों ही प्रथम दो अङ्गों के सफल भक्त थे महाराज परीक्षित तथा श्रीशुकदेव गोस्वामी दोनों ने मिलकर प्रथम दो अङ्गो के द्वारा भगवान् की सेवा की। जिनके नाम श्रवण एवं कीर्तन है। और इसलिए वे दोनों ही अपने प्रशसनीय प्रयासों मे अत्यन्त सफल रहे आये, दिव्यता की उपलब्धि ऐसे प्रामाणिक एवं गम्भीर श्रवण कीर्तन के द्वारा ही होती है। इस कलिकाल मे गुरु एवं शिष्य सम्बन्धी एक विशेष प्रकार का विज्ञापन चल रहा है यह कहा जाता है कि गुरु शिष्य पर विद्युत निक्षेप की भाँति शक्तिपात करता है और शिष्य उस धक्के को अनुभव करता है वह अचेत हो जाता है। और गुरु अपने तथाकथित आध्यात्मिक धन के क्षीण हो जाने

पर रोता है। ऐसे व्यर्थ विज्ञापन आये दिन नित्य प्रति होते ही रहते हैं और सामान्य व्यक्ति ऐसे विज्ञापनों के शिकार होते रहते है। हम श्रीशुकदेव गोस्वामी एवं महाराज परीक्षित के संदर्भ में ऐसी दन्तकथा का उल्लेख नही पाते हैं, उन महान् पुरुष ने श्रीमद्भागवत् शास्त्र का परम श्रद्धा एवं भक्ति पूर्ण हृदय से स्वाध्याय किया। और महाराज ने इसे उसी श्रद्धा एव भक्तिपूर्वक श्रवण किया। राजा ने अपने गुरु से किसी प्रकार विद्युत् शक्ति का धक्का अनुभव नहीं किया और न ही वे अचेत हुए। अतएव किसी भी व्यक्ति को इन अप्रामाणिक लोगों के निःसार विज्ञापन का शिकार नही होना चाहिए। नैमिषारण्य के ऋषि महाराज परीक्षित के विषय में श्रवण करने को अति उत्सुक थे। क्योकि उन्होंने श्रीशुकदेव गोस्वामी से अत्यन्त विनम्र एवं गम्भीर शिष्य की भाँति इस परम ज्ञान को श्रवण-भक्ति के द्वारा ग्रहण किया था। प्रामाणिक गुरु से अत्यन्त शान्ति पूर्वक गम्भीर श्रवण ही परम ज्ञान की प्राप्ति का एकमात्र मार्ग है। और इसलिए इसके लिये न तो किसी प्रकार के वैद्यकीय औपचारिकताओं की, और न रहस्यमय तिलस्मी प्रभाव एवं परिणामों की ही आवश्यकता है। इसकी प्रक्रिया अति सरल है। परन्तु निष्कपट एवं भाव पूर्ण व्यक्तित्व ही उक्त अभीष्ट परिणाम को उपलब्ध कर सकते है।

[४]

अपीपलद्धर्मराजः पितृवद् रञ्जयन् प्रजाः।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यः कृष्णपादानुसेवया॥

श्रीसूतः उवाच=श्रीसूत गोस्वामी बोले; अपीपलत्=अत्यन्त उदारता पूर्वक शासन किया; धर्मराज=राजा युधिष्ठिर ने, पितृवत्=पिता की भाँति; रञ्जयन्=प्रसन्न करते हुए; प्रजाः=जीव मात्र का, प्राणी मात्र का; निःस्पृहः=बिना किसी कामना के; सर्व=सब; कामेभ्यः=इन्द्रियों के विषयों के लिये; कृष्ण-पाद=भगवान् श्रीकृष्ण के चरण कमल; अनुसेवया=निरन्तर सेवा अर्पित करते हुए।

अनुवाद

श्रीसूत गोस्वामी बोले—सम्राट् युधिष्ठिर अपने शासन काल में प्रजा

पर अत्यन्त दयालुतापूर्ण शासन करते थे जैसे एक पिता अपने पुत्रों पर शासन करता है। उनकी कोई निजी आकाँक्षा नहीं थी। वे सब प्रकार के इन्द्रिय भोगो से विरक्त थे। इन सब गुणों का एकमात्र कारण यही था कि भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों के प्रति उनके हृदय मे अविरल प्रीति बनी रहती थी।

तात्पर्य

जैसे कि भूमिका में वर्णित हुआ है कि मानव समाज को श्रीकृष्ण विज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता है, जो वर्तमान कालीन संसार के अशान्त एव दुखी जनता को एक समाधान प्रदान कर सके। इसलिये हम प्रत्येक देश के नेताओं से निवेदन करते है, कि श्रीकृष्ण विज्ञान, अपने स्वय की, अपने समाज की तथा सम्पूर्ण विश्व की जनता के लिये, कल्याण के लिये स्वीकार करे। यह वक्तव्य यहाँ उपर्युक्त श्लोक से समर्थित होता है महाराज युधिष्ठिर ही इसके उदाहरण है और वे कल्याणमय मङ्गलमय शुभ गुणों के मानों साक्षात् अवतार ही है। भारतवर्ष में जनता रामराज्य के लिये व्याकुल हो रही है क्योंकि भगवान् श्रीराम एक आदर्श राजा थे और अन्य समस्त राजाओ एवं सम्राटों ने पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाली समस्त जनता के परम अभ्युदय का सञ्चालन किया। यहाँ "प्रजा" शब्द अति महत्वपूर्ण है शब्द का व्युत्पत्ति विषयक अर्थ है—जो जन्म लिया है। पृथ्वी पर जीवों की वहुत सी योनियाँ है। जल मे उत्पन्न होने वाले जीवों से लेकर पूर्ण मनुष्य पर्यन्त यह सब प्रजा कहे जाते है। इस ससार के सृजनकर्ता ब्रह्मा इसीलिए प्रजापति कहे जाते है क्योंकि प्राणिमात्र जिन्होंने भी संसार में जन्म लिया है उनके वे ही प्रपितामह हैं। इस प्रकार "प्रजा" शब्द प्राचीन काल मे आजकल लिये जाने वाले अर्थ से अधिक व्यापक अर्थ रूप में प्रयोग किया जाता था। राजा सम्पूर्ण जनता का प्रतिनिधि होता था जल में उत्पन्न होने वाले पौधे, वृक्ष, उद्भिज जरायुज, पक्षी-प्राणी एवं मनुष्य इनमें से प्रत्येक भगवान् के अंश एवं अशांश हैं। जैसे कि भगवद्गीता (१४।४) में निर्दशित हुआ है। राजा भगवान् के प्रतिनिधि होते है अत: वे प्रत्येक जीव को सुरक्षा प्रदान करने के कर्तव्य वन्धन से वँधे हुये हैं किन्तु आजकल के राष्ट्रपति एवं तानाशाह इस शासन-अधिनियम को नही मानते उनके शासन में निम्न प्राणियो को सुरक्षा नही मिलती। केवल उच्च प्राणी ही तथाकथित ढंग से सुरक्षा

प्राप्त करते है किन्तु यह एक महान् विज्ञान है, जिसकी प्राप्ति उसी से हो सकती है जो श्रीकृष्ण विज्ञान का परम ज्ञाता हो, श्रीकृष्ण विज्ञान को जान कर मनुष्य संसार में सर्वतः पूर्ण व्यक्तित्व धारण कर सकता है और जब तक इस विज्ञान की अनुभूति नही हुई तब तक विश्वविद्यालयों से उपलब्ध समस्त शिक्षाएँ डाक्टरेट इत्यादि की डिग्रीज सब व्यर्थ है, भार रूप है। महाराज युधिष्ठिर इस कृष्ण विज्ञान को भलीभाँति जानते थे इसलिये यहाँ कहा है कि वे श्रीकृष्ण विज्ञान के निरन्तर अनुशीलन से अपने शासन की सुव्यवस्था सुचारू रूप से बनाये रखते थे। निश्चित ही उसका एकमात्र कारण भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति उनकी प्रेममयी सेवा का अखण्ड अर्पण ही है और इसी से उन्होंने शासन की सर्वोच्च प्रतिभा एवं गुणों को सहज रूप से प्राप्त कर लिया। पिता कभी-कभी पुत्र के प्रति निष्ठुर सा प्रतीत होता है। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नही होता कि पिता ने अपने पितृत्व का, वात्सल्य का गुण खो दिया हो। एक पिता सदा पिता है क्योंकि उसने अपने पुत्र के हित का भाव सदा सर्वदा के लिये अपने हृदय में ओतप्रोत कर रखा है। पिता चाहता है कि उसका पुत्र उससे भी श्रेष्ठ व्यक्ति बने। जो राजा महाराज युधिष्ठिर की भाँति कल्याण के मूर्त रूप ही है वे सदा चाहते है कि उनके शासन के अन्तर्गत रहने वाला प्रत्येक प्राणी विशेषकर मानव जाति जिन्हें विकसित-चेतना उपलब्ध है उनके जीवन मे भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति का द्वार उन्मुक्त हो। उनमें से प्रत्येक का हृदय श्रीकृष्ण प्रेम के आनन्द से स्पन्दित हो उठे। ताकि वे भौतिक अस्तित्व के भँवर जाल से मुक्त हो सके। उनका उद्देश्य उनके शासन का उद्देश्य नागरिक का परम-कल्याण था चूँकि वे अजातशत्रु एव कल्याणावतार ही थे उन्होने पूर्ण रूपेण यह तथ्य हृदयङ्गम कर लिया था कि उनके लिये सर्वोपरि कल्याणप्रद पथ श्रीकृष्ण विज्ञान का है। उन्होने उसी सिद्धान्त के आधार पर शासन सूत्र का सञ्चालन किया। वे इन्द्रिय-तृप्ति के राक्षसी सिद्धान्त से सदा निवृत्त रहे। एक आदर्श राजा की भाँति उनकी कोई निजी महत्वाकाँक्षा नही थी। इन्द्रिय तृप्ति के लिये भी उनके दैनिक जीवन मे कोई अवकाश न था क्योकि उनकी सभी इन्द्रियाँ तथा उनके सभी क्षण भगवान् श्रीकृष्ण की प्रेममयी सेवा मे सतत समर्पित रहते थे जो उन्ही भगवान् के विभिन्न अंश स्वरूप जनता की सेवा भी अपने अन्तर्गत संजोये हुये थी। इस प्रकार भगवान् एवं असंख्य प्रजा अर्थात् अंशी अपने असख्य अंशों के साथ नित्य सेवित होते थे। और यही सेवा की परिपूर्णता है जो अशी को त्याग कर केवल अंश की सेवा

में संलग्न रहते है वे व्यर्थ अपना समय एवं शक्ति नष्ट करते है। यह घटना ठीक उसी भाँति है जैसे कोई व्यक्ति वृक्ष के मूल को छोड़ कर पत्ते एवं फूलों को जल से सीचता रहे। यदि जल वृक्ष के मूल पर डाला जाय तो पत्ते स्वयमेव सुन्दर हरे-भरे होते है परन्तु यदि यह जल केवल पत्तो और फूलों पर ही डाला जाय तब केवल शक्ति एव समय का ही अपव्यय होगा, इसलिये महाराज युधिष्ठिर सदा भगवान् की सेवा में संलग्न रहते थे और इस प्रकार भगवान् के अश एवं अङ्ग स्वरूप प्रजा उनके अत्यन्त जागरूक शासन प्रबन्ध मे निवास करती हुई आध्यात्मिक विकासमय जीवन व्यतीत करती थी। वे वर्तमान जीवन की सुख सुविधाओ का पूर्ण उपयोग तो करते थे परन्तु उनका वह उपयोग नवीन जीवन अर्थात् जीवन के पश्चात् आने वाले जीवन की सुव्यवस्था एवं उन्नति पर आधारित होता था और यही शासन की सुव्यवस्था का एकमात्र सुगम मार्ग है।

[५]

सम्पदः क्रतवो लोका महिषी भ्रातरो मही।
जम्बूद्वीपाधिपत्यं च यशश्च त्रिदिवं गतम्॥

सम्पदः=ऐश्वर्य; क्रतवः=यज्ञ; लोकः=पुण्यार्जित उच्च लोक, महिषी=रानियाँ, भ्रातरः=भ्रातृगण, मही=पृथ्वी; जम्बूद्वीप=जम्बूद्वीप, अधिपत्यम्=सार्वभौम अधिकार; च=भी; यशः=यश; च=और, त्रिदिवम्=तीनो लोको में; गतम्=व्याप्त हो गया।

अनुवाद

महाराज युधिष्ठिर की महान् भौतिक उपलब्धियो, उनके द्वारा विशाल पैमाने पर सम्पन्न किये गये यज्ञ-यागादिको तथा उनकी अनन्य सेविका महारानियों, उनके सगे वीर भ्राताओं, समग्र भूमण्डल मे विस्तीर्ण साम्राज्य एवं निर्मल यश का समाचार सुदूर स्वर्गादि लोकों तक व्याप्त हो गया।

तात्पर्य

केवल धनी एवं महापुरुष का ही नाम एवं यश सम्पूर्ण विश्व में

व्याप्त होता है। तथा महाराज युधिष्ठिर का नाम एव यश समस्त अन्यान्य लोक लोकान्तरों पर्यन्त व्याप्त हो गया क्योकि उनका शासन इतना सुदृढ एव इतना न्याययुक्त एव लोकप्रिय था। उनकी भौतिक उपलब्धियाँ उनकी महिमामयी पत्नी द्रौपदी का पातिव्रत्य तथा उनके लघुभ्राता भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव के शौर्यवीर्य पराक्रम की गौरव गाथा एव समग्र जम्बूद्वीप मे सार्वभौम एकछत्र साम्राज्य का समाचार तीनो लोको में व्याप्त हो गया। यहाँ "लोक" शब्द महत्वपूर्ण है अन्तरिक्ष मे चारो ओर अनेक लोक अवस्थित है। वे दो प्रकार के लोक है भौतिक एव अभौतिक तथा वर्तमान जीवन मे शुभकर्मो की शक्ति प्राप्त करके कोई भी व्यक्ति वहाँ जा सकता है। जैसे कि भगवद् गीता (९।२५) मे प्रतिपादित हुआ है। कोई भी व्यक्ति बलपूर्वक वहाँ प्रवेश नही कर सकता भौतिक वैज्ञानिक तथा इन्जीनियर जिन्होने वायुयान इत्यादि यात्रा के कतिपय द्रुत वाहन ढूढ निकाले है। वे जो हजारो मील प्रतिमिनट की गति से ही अन्तरिक्ष मे क्यो न दौडे, किन्तु वे वहाँ प्रवेश नही कर सकते। क्योंकि यह उन लोकों मे प्रवेश की पद्धति नही है अवश्य ही वहाँ प्रवेश के लिए स्वय को पहले परिष्कृत करना होगा। उत्तम गुणों से सम्पन्न करना पडेगा और यही उन लोको में प्रवेश का मार्ग होगा। अवश्य ही जैसे जल एवं अन्तरिक्ष मे यात्रा करने के लिए हमे विभिन्न प्रकार के वस्त्रो एवं शारीरिक योग्यताओं की आवश्यकता पडती है। उसी भाँति उन उच्चातिउच्च दिव्य लोको मे प्रवेश के लिए हमें यज्ञ एवं सेवा की अपेक्षा होती है। जो पापी व्यक्ति है जिन्होने अपना जीवन पशुवत् व्यतीत किया है जो सदा दुख ही दुख उठा रहे है, भौतिक अस्तित्व मे जिनका जीवन कदर्य है वे उन लोको मे चरण भी नही रख सकते और श्रीमद्भगवद्गीता (१६।१९) में यही प्रतिपादित हुआ है वहाँ भगवान् ने इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। महाराज युधिष्ठिर के शुभ गुण एवं यज्ञ-यागादि शुभकर्म ऐसे अद्भुत थे, योग्यताएँ एव व्यवहार ऐसे हृदय की विशालता के द्योतक थे कि उच्चातिउच्च लोकों के निवासी भी उन्हे अपने धाम मे लिवा ले जाने के लिये आतुर हो रहे थे।

[६]

किं ते कामाः सुरस्पार्हा मुकुन्दमनसो द्विजाः।
अधिजह्रुर्मुदं राज्ञः क्षुधितस्य यथेतरे ॥

किम्=किसलिए; ते=वे सब, कामा:=इन्द्रिय सुख; सुर=देवताओं के, स्पार्हा.=स्पृहणीय, मुकुन्द-मनस.=भगवच्चेतना की सर्वोच्च स्थिति मे अवस्थित, द्विजा:=हे ब्राह्मणो, अधिजह्र ·=सन्तुष्ट कर सके; मुदम्=मुख प्रसन्नता, राज्ञस्य=राजा का; क्षुधितस्य=क्षुधित व्यक्ति को, यथा=जैसे; इतरे=अन्य वस्तुओं की प्राप्ति से।

अनुवाद

हे ब्राह्मणो, महाराज का वैभव ऐसा आश्चर्यजनक था कि स्वर्ग के देवता भी उसे देखकर चकित रह जाते थे परन्तु चूँकि वे भगवान् की प्रेममयी सेवा मे संलग्न थे अत: भगवान् की सेवा के अतिरिक्त उनके हृदय तथा मन को कोई भी वस्तु सन्तुष्ट नही कर सकती थी।

तात्पर्य

समार में दो प्रकार के पदार्थ है जो जीव को सन्तुष्टि प्रदान कर सकते है जब कोई भौतिक पदार्थो मे आसक्त होता है तब वह केवल इन्द्रिय तृप्ति से मन्तुष्ट हुआ करता है परन्तु जब कोई भौतिक गुणों के आश्रय से मुक्त होता है इन्द्रियों की वृत्तियों से उन्मुक्त होता है तब वह केवल भगवान् की प्रेममयी सेवा से ही सन्तुष्ट हो पाता है। इसका भाव यह है कि जीव तत्त्वत. अपने स्वाभाविक रूप में एक दास है।और इसलिए सेवा करना उसका स्वभाव है न कि सेवा लेना। बहिरङ्गाशक्ति क भ्रामक प्रभावों के आश्रय के कारण ही वह स्वय को सेवा लेने योग्य मान बैठा है। किन्तु वास्तव में वह सेवा लेने योग्य नही है।वह सेवा देने योग्य है।और इसलिये जब तक वह भगवान् के प्रति निष्कपट भाव से निर्मल सेवा अर्पित नही कर रहा है, उनके चरणों में अनुगत होकर उनका नि शुल्क दास नही बन गया है तब तक वह काम वासना के क्रोध, ईर्ष्या, दर्प, पागलपन, असहिष्णुता एव हिंसा आदि सांसारिक विचारों द्वारा इन्द्रियों की सेवा कर रहा है।जब इन्द्रियाँ विशुद्ध ज्ञान के द्वारा परिशोधित होती है केवल तभी वह अनुभव कर पाता है कि वह भौतिक जगत् में स्वामी नही अपितु इन्द्रियों का दासमात्र है। उसी क्षण वह भगवान् की दिव्य अद्भुत सेवा की याचना करता है भगवान् के चरणो में प्रार्थना करता है।और तब वह सुखी होता

है तब उस अवस्था में तथाकथित भौतिक सुख उपस्थित हो या न हो उसका सुख कभी विचलित नही होता। उसका सुख नित्यनिरन्तर अभिवर्धित होता रहता है। महाराज युधिष्ठिर मुक्त जीवों में से एक थे। और इसलिए वे सार्वभौम राज्य मे, सुन्दर पत्नी में, अनुगामी भ्राताओं मे, सदा प्रशसा एवं प्रेम करने वाली प्रजाओं में तथा समृद्ध राज्य में कोई सुखानुभूति नही करते थे। इन दुर्लभ पदार्थों की उपलब्धियां एक विशुद्ध भक्त का अनुगमन स्वयमेव किया करती हैं। यहाँ तक कि भक्त उन्हें चाहता ही नही भक्त उनका त्याग ही करता है। तथापि यह उनसे स्वतः जुड़ जाती है। जैसे व्यक्ति से उसकी छाया निरन्तर संयुक्त रहती है ठीक उसी प्रकार भक्त से ऐश्वर्य संयुक्त रहता है। यहाँ जो उदाहरण प्रस्तुत किया गया है वह अति उपयुक्त है। जैसे क्षुधित व्यक्ति की क्षुधा भोजन के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ से तृप्त नही होता है। सम्पूर्ण विश्व की क्षुधित जीवों से आकीर्ण यह क्षुधा सुन्दर भोजन सुन्दर, आवास या इन्द्रिय तृप्ति के लिए नहीं है। यह क्षुधा अप्राकृत वातावरण के लिए है। अज्ञान के कारण जीव सोचते है कि जगत् मे जन-जन के अन्तस् में व्याप्त अतृप्ति असन्तोष का कारण पर्याप्त भोजन आश्रय सुरक्षा एव इन्द्रिय तृप्ति के पदार्थो का अभाव है ऐसी धारणा ही भ्रम है ऐसा सोचना ही एकमात्र मूर्खता है। स्वभावतः जब जीव अप्राकृत तत्त्व की क्षुधा से क्षुधित होता है तो वह भौतिक क्षुधा के द्वारा जीवों के समक्ष विकृत रूप मे प्रस्तुत किया जाता है। परन्तु मूर्ख नेता यह भी नही देखते कि जनता जब प्रचुर भौतिक उपकरणों से समृद्ध है तथापि वह अशान्त है वह क्षुधित है। उसे कुछ चाहिए और जो उसे तत्त्वतः चाहिए वह भोजन नही, स्त्री नही, मान नहीं, तो क्या है वह जिसके लिए वह सतृष्ण है ? क्या है वह जिसके लिये वह गरीब है ? वास्तव में यह क्षुधा अप्राकृत भोजन के लिए है, अप्राकृत आश्रय के लिये है, अप्राकृत सुरक्षा एवं अप्राकृत इन्द्रियों की तृप्ति के लिए है और निश्चित ही यह भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य सान्निध्य मे ही उपलब्ध हो सकता है। और इसलिए जिन्हे वह अप्राकृत तत्त्व उपलब्ध है वे कभी भी तथाकथित भोजन, आश्रय, सुरक्षा एवं भौतिक जगत् के इन्द्रिय तृप्ति के पदार्थों की ओर आकृष्ट नही होते यद्यपि ये पदार्थ स्वर्गीय लोको के देवों द्वारा भी उपभुक्त होते है तथापि भक्त इन उपभोग सामग्रियो से भी सुखानुभव नही करते श्रीमद्भगवद्गीता (८।१६) मे भगवान् ने कहा है कि भौतिक जगत् में सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मलोक मे भी जहाँ जीवन की अवधि अरबों सौर वर्षो में लम्बायमान है वहाँ भी जीव अपनी क्षुधा तृप्ति नही कर सकता, यह क्षुधा केवल तभी तृप्त हो सकती है जब जीव

अमरत्व में अवस्थित हो जो वास्तव में अप्राकृत चिन्मय आकाश में ही पर-व्योम में ही उपलब्ध हो सकता है, जो कि ब्रह्मलोक के भी ऊपर ब्रह्माण्डा-वरण के भी ऊपर अवस्थित है। वहाँ भगवान् श्रीमुकुन्द के दिव्य सामीप्य सान्निध्य में ही जीव की नित्य सँतृप्ति चिरन्तन सन्तुष्टि अठखेलियाँ करती रहती हैं अतः जीव की चिर बुभुक्षा वही शान्त हो सकती है। भगवान् ही अपने प्यारे भक्तों को मुक्ति का अनन्त सुख प्रदान करते हैं।

[७]

मातुर्गर्भगतो वीरः स तदा भृगुनन्दन।
ददर्श पुरुषं कञ्चिद्दह्यमानोऽस्त्रतेजसा॥

मातुः=माता के; गर्भ=गर्भ मे; गतः=अवस्थित; वीरः=महापुरुष सः=वह; तदा=उस समय; भृगु-नन्दन=हे भृगु के पुत्र; ददर्श=देख सकते हैं; पुरुषम्=सर्वोच्च भगवान्; कञ्चित्=जैसे कोई; दह्यमानः=जलते हुए को; अस्त्र=ब्रह्मास्त्र; तेजसा=तेज के द्वारा।

अनुवाद

हे भृगुनन्दन शौनक! जब महान् योद्धा परीक्षित अपनी माता उत्तरा के गर्भ में थे तथा अश्वत्थामा द्वारा निक्षिप्त ब्रह्मास्त्र की प्रखर ज्वाला से दग्ध हो रहे थे उस समय उन्होंने अपनी ओर आते हुए परम करुणामय भगवान् को देखा था।

तात्पर्य

जन्म लेने के तीन मास पूर्व से सात मास पर्यन्त प्रायः जीव अचेत रहता है। वह अपने कार्यों के अनुसार माता के गर्भ में पिता के वीर्य को माध्यम बनाकर प्रवेश करने के लिये प्रकृति द्वारा प्रेरित होता है और इस प्रकार वह अपना अभीष्ट देह प्राप्तकर क्रमशः विकसित होता जाता है। यही जन्म का नियम है जिसका आधार पूर्वोपार्जित कर्म होता है। जब वह अचेतावस्था में जाग्रत होता है तब वह गर्भावस्था की असुविधाओं एवं कष्टों को अनुभव करता है तथा शीघ्र बाहर आने की इच्छा करता है।

कभी-कभी सौभाग्यवश वह स्वयं भगवान् से अपनी मुक्ति के लिये प्रार्थना करता है। महाराज परीक्षित जब अपनी माता के गर्भ मे थे जब अश्वत्थामा द्वारा निक्षिप्त ब्रह्मास्त्र से आक्रान्त हुए वे एक तीक्ष्ण प्रखर ताप से झुलसने लगे। चूँकि वे भगवान् के भक्त थे अत. भगवान् ने तत्काल उन्हे अपनी अचिन्त्य शक्ति से गर्भ में ही प्रकट होकर सुरक्षित कर लिया उस समय बालक ने देखा कि कोई अत्यन्त मधुर ज्योतिर्मय पुरुष उनकी रक्षा के लिए आया हुआ है। बालक परीक्षित की उस समय असहाय अवस्था थी तथापि उनमें जन्मजात क्षत्रियोचित वीरता सन्निहित थी, छिपी हुई थी उन्होने उस असह्य उग्रताप को धैर्यपूर्वक, प्रसन्नता पूर्वक सहन कर लिया इसलिए यहाँ "वीर" शब्द का प्रयोग हुआ है।

[८]

अङ्गुष्ठमात्रममलं स्फुरत्पुरटमौलिनम्।
अपीव्यदर्शनं श्यामं तडिद्वाससमच्युतम्॥

अङ्गुष्ठमात्रम्=केवल अङ्गुष्ठ परिमाण आकृति द्वारा, अमलम्=निष्कलङ्क दिव्य, स्फुरत्=देदीप्यमान, पुरट=स्वर्ण, मौलिनम्=हार धारण किये हुए; अपीव्य=अत्यन्त सौन्दर्यमय, दर्शनम्=दर्शन, श्यामम्=श्यामवर्ण, तडित्=विद्युत् की भाँति; वाससम्=वस्त्र, अच्युतम्=अच्युत भगवान् श्रीकृष्ण।

अनुवाद

वे अंगुष्ठमात्र आकार युक्त थे तथापि वे चिन्मय थे, दिव्य थे, अत्यन्त सौन्दर्यमय थे, श्यामवर्ण था उनका, अच्युत शरीर था उनका तथा उन्होंने देदीप्यमान स्वर्णवर्ण पीताम्बर धारण कर रखा था। तथा गले में चमकते हुए स्वर्णिम हार सुशोभित हो रहे थे। बालक परीक्षित ने भगवान् का दर्शन किया।

[९]

श्रीमद्दीर्घचतुर्बाहुं तप्तकाञ्चनकुण्डलम्।
क्षतजाक्षं गदापाणिमात्मनः सर्वतोदिशम्॥
परिभ्रमन्तमुल्काभां भ्रामयन्तं गदां मुहुः।

श्रीमन्=सुषमायुक्त, समृद्ध, दीर्घ=लम्बे; चतु.र्बाहुम्=चार भुजाएँ तप्त-काञ्चन=तपाये हुए स्वर्ण, कुण्डलम्=कुण्डल, क्षतज-अक्षम्=लालिमा युक्त नेत्रों द्वारा, गदापाणि=हाथों में गदा धारण किये हुए, आत्मन:= अपनी; सर्वत =सब तरफ से, दिशम्=दिशाविदिशाओं से; परिभ्रमन्तम्= घूमते हुए, उल्काभाम्=उलका की भाँति, भ्रामयन्तम्=चक्कर काटते हुए; गदाम्=गदा, मुहु.=निरन्तर।

अनुवाद

भगवान् का श्रीविग्रह चार भुजाओ से शोभायमान था उनके कर्ण-युगल मे स्वर्णिम कुण्डल डोलायमान हो रहे थे, उनके नेत्र कोपवश कुछ अरु-णिम हो चले थे वे अपनी गदा चालन करते हुए निरन्तर बालक परीक्षित के चतुर्दिक उल्का की भाँति परिभ्रमण कर रहे थे।

तात्पर्य

ब्रह्मसहिता अध्याय पाँच मे यह कहा गया है कि सर्वोच्च भगवान् गोविन्द अपने अश रूप से इस विश्वाकाश में प्रवेश करते हैं तथा स्वय को ही अन्तर्यामी परमात्मा के रूप मे अभिव्यक्त करते है। वे न केवल प्रत्येक प्राणियों के हृदय मे अपितु प्रत्येक भौतिक तत्वों के, प्रत्येक परमाणुओ के अन्तराल में भी प्रवेश कर जाते हैं। इसप्रकार भगवान् अपनी अचिन्त्य शक्ति से सर्वव्यापी है और इस अवसर पर वे उत्तरा देवी के गर्भ में प्रवेश कर गये है ताकि अपने भक्त महाराज परीक्षित की रक्षा कर सकें। भगवद्गीता (९।३१) में भगवान् अपने सम्पूर्ण भक्तो के विषय मे यह घोषणा करते हैं कि उनके भक्त कभी नष्ट नही हो सकते। कोई भी उन्हें मार नही सकता है। क्योंकि भगवान् स्वय उनके रक्षक हैं। जिसे भगवान् मारना चाहते है। उस व्यक्ति को कोई बचा नही सकता। और जिसकी वे रक्षा करना चाहते है। उसे कोई मार नही सकता। भगवान् सर्वशक्तिमान् है। इसलिए उनकी इच्छा ही सर्वव्यापी रूप में परिणत हो रही है। वे अपने परम भक्त महाराज परीक्षित के दृष्टिगोचर हुए। गर्भ की उस दु:खमय अवस्था मे भी भगवान् ने उन पर अनुग्रह किया तथा उनके अनुरूप परम दर्शनीय अत्यन्त लघु रूप धारण कर लिया। भगवान् हजारों विश्व ब्रह्माण्डों से भी

बृहद् रूप धारण कर सकते हैं। तथा तत्काल अणु से भी अत्यन्त लघु परमाणु तुल्य रूप भी बना सकते है। दयालु है वे। इसलिए उनका प्यारा भक्त जिस आयतन में उनके रूप का दर्शन कर सके वैसा ही रूप वे धारण कर लेते हैं। वे असीम हैं अर्थात् वे काल-गणना या नाप-तौल की परिधि के बाहर हैं। वे जैसा सङ्कल्प करते हैं। उसी अनुपात में विस्तीर्ण हो जाते हैं। तथा जैसी वे इच्छा करते है उसी के अनुरूप लघुतम भी हो जाते है। किन्तु समस्त परिस्थितियों मे वे सर्वथा समान है। सर्वशक्तिमान् है। भगवान् के अङ्गुष्ठाकार विग्रह में तथा गर्भोदकशायी भगवान् विष्णु में कोई अन्तर नही है। वे अर्चा-विग्रह का रूप धारण कर लेते है। ताकि वह रूप उनके लघुकाय भक्तों के सेव्य हो सके। अर्चा-विग्रह की ही कृपा से अर्थात् भौतिक तत्व का रूप धारण किये हुए भगवान् की कृपा से ही भौतिक जगत् से आबद्ध भक्त सुगमतापूर्वक भगवान् को उपलब्ध हो पाते हैं, यद्यपि भगवान् भौतिक इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं है। अतः अर्चा-विग्रह सर्वथा अप्राकृत, दिव्य होते हुए भी भौतिक इन्द्रियों से युक्त भक्तों द्वारा ग्राह्य एव सेव्य हो जाते है। यद्यपि आश्रित जीवों की दृष्टि से पदार्थ एवं आत्मा के मध्य एक बड़ी गहरी खाई है, तथापि भगवान् की दृष्टि में इन दोनों में कोई अन्तर नही है, जहाँ तक भगवान् का सम्बन्ध है सर्वत्र सर्वथा एक अप्राकृत अस्तित्व है। वहाँ कोई ऐसी खाई नही है, कोई अवकाश नही है। और इसलिए विशुद्ध भक्त की दृष्टि में भी एक अप्राकृत सत्ता सर्वत्र व्याप्त है। एक भगवद्लोक का ही अनन्त अस्तित्व है। जहाँ भक्त एवं भगवान् का मधुरतम दिव्य सम्बन्ध है। नित्य-निरन्तर अखण्ड एवं अगाध अत्यन्त प्रेम से भरा हुआ सबंध का महासागर लहराता रहता है।

[१०]

अस्त्रतेजः स्वगदया नीहारमिव गोपतिः।
विधमन्तं संनिकर्षे पर्यैक्षत क इत्यसौ ॥

अस्त्र-तेजः=ब्रह्मास्त्र का विकीरण; स्वगदया=अपनी गदा द्वारा; नीहारम्=ओस कण; इव=सदृश; गोपतिः=सूर्य; विधमन्तम्=नष्ट कर दिया; संनिकर्षे=निकट; पर्यैक्षत=देखकर; कः=कौन; इत्यसौ=यह शरीर।

अनुवाद

इस प्रकार भगवान् ब्रह्मास्त्र की ज्वाला के प्रशमन में संलग्न थे जिस प्रकार सूर्य ओस कणों को वाष्पीभूत करने में संलग्न हुआ हो। इसी अवसर पर वे इस बालक के दृष्टिगोचर हुए जो यह सोचने मे तन्मय हो गया कि यह अद्भुत आगन्तुक कौन है।

[११]

विधूय तदमेयात्मा भगवान्धर्मगुब् विभुः ।
मिषतो दशमासस्य तत्रैवान्तर्दधे हरिः ॥

विधूय=सर्वथा धोकर, तत्=वह; अमेयात्मा=सर्वव्यापी अन्तर्यामी, भगवान्=भगवान्; धर्मगुप्=सदाचार के रक्षक, विभु=सर्वोच्च; मिषतः=निरीक्षण करते हुए, दशमासस्य=जिन्होंने सम्पूर्ण दिशाओं के वस्त्र धारण किये हैं; तत्र-इव=तुरन्त उसी स्थान पर; अन्तः=नेत्रों से ओझल, दधे=हो गये; हरिः=भगवान्।

अनुवाद

इस प्रकार जब वे बालक के दृष्टिगत हो रहे थे, वे सम्पूर्ण भूत प्राणियों के हृदय गुहा के निवासी अन्तर्यामी तथा सम्पूर्ण सदाचारों के रक्षक भगवान् जिनका विस्तार ही सम्पूर्ण दिशाओं के रूप में देखा जा रहा है। और जो समय एवं स्थान की सीमा के परे है वे सहसा अदृश्य हो गये, अन्तर्धान हो गये।

तात्पर्य

बालक परीक्षित किसी जीव विशेष को नहीं देख रहे थे जो समय और अवकाश से सीमित हो। भगवान् एवं आश्रित जीवों मे बडा अन्तर है। एक बड़ी गहरी खाई है। भगवान् यहाँ सर्वोच्च जीव के रूप में समय एवं अवकाश के पार अवस्थित है। प्रत्येक जीव समय एवं अवकाश की सीमाओं एवं परतन्त्रताओं के बन्धन से ग्रस्त है। यद्यपि जीव गुणात्मक रूप से भग-

वान् से अभिन्न है, एक है, तथापि परिमाणात्मक रूप से बड़ा अन्तर है। भगवद्गीता में भगवान् एवं जीव दोनों सर्वव्यापी कहे गये है(येन सर्वम् इदम् ततम्) तथापि इन दोनों प्रकार की व्यापकताओं में अन्तर है। जीव अपने इस सीमित देह में ही व्यापक हो सकता है परन्तु भगवान् दसों दिशाओं एवं तीनों कालों में अखण्ड एवं अबाध रूप से व्याप्त है। एक सामान्य जीव अपना प्रभाव अपनी व्यापकता के द्वारा दूसरे व्यक्ति तक संवेदित अथवा प्रसारित नहीं कर सकता परन्तु भगवान् ऐसा कर सकते हैं। भगवान् अपना प्रभाव इस समस्त विश्व मे किसी भी स्थल पर किसी भी समय में प्रसारित, सवेदित एवं संचारित कर सकते है। और चूंकि वे सर्वव्यापी हैं। सीमातीत हैं। अतः समय एवं अवकाश का कोई व्यवधान उनके लिए बाधा उपस्थित नहीं करता। वे किसी भी समय किसी भी स्थल पर अथवा सर्वत्र स्वयं को प्रगट कर सकते हैं। इसीलिए वे परीक्षित जी की माता के गर्भ में ही प्रगट हो गये। वे यहाँ धर्मात्माओं के रक्षक के रूप में वर्णित हुए है। जो कोई भी व्यक्ति उन्हे समर्पित होता है वह धर्मात्मा कहा जाता है और वही भगवान् के द्वारा सम्पूर्ण परिस्थितियों में एवं परिवेशों में रक्षित होता है। वास्तव में भगवान् अधर्मिओं के भी रक्षक है किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से क्योंकि वे अपनी बहिरङ्गा शक्ति के द्वारा उनके पापों का निवारण करते रहते है। उनके पापों को दुखों एवं विपत्तियों के द्वारा स्वच्छ करते रहते हैं। भगवान् यहाँ "दशमासस्य" के रूप में वर्णित हुए हैं। जिसका अर्थ होता है—उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम, ईशान, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य एवं ऊपर नीचे दसों दिशाओं के वस्त्रों द्वारा सुसज्जित। अर्थात् ये दिशाएँ ही उनके वस्त्र हैं। वे सर्वत्र उपस्थित है। तथा कही भी प्रकट एव कहीं से भी अन्तर्धान हो सकते हैं। उनकी इच्छा ही सर्वोपरि नियम है। वे सर्वज्ञ हैं। बालक परीक्षित के समक्ष अन्तर्धान हो जाने का यह अर्थ नही है कि वे उस स्थल से अनुपस्थित हो गये, कही चले गये। नहीं, चले नही गये, वे हैं वही। वे अन्तर्धान होने के पश्चात् भी वहीं है। केवल वे बालक परीक्षित के नेत्रों से ओझल हो गये। विस्तीर्ण आकाश का भौतिक आवरण भी प्रायः भौतिक प्रकृति के गर्भ के तुल्य है। तथा हम सब इस गर्भ में भगवान् के द्वारा रखे गये हैं। जो सम्पूर्ण जीवों के पिता हैं। वे सर्वत्र प्रत्यक्ष है, उपस्थित हैं। यहाँ तक कि वे हमारे सम्मुख हैं। लेकिन उन्हे ही वे दर्शन देते हैं जो उनके मिलन की लालसा से भर उठते हैं। तीव्र लालसा, उद्दीप्त उत्कण्ठा, प्रचण्ड अभीप्सा यही उनके दर्शनार्थ एकमात्र योग्यता है।

[१२]

ततः सर्वगुणोदर्के सानुकूलग्रहोदये।
जज्ञे वंशधरः पाण्डोर्भूयः पाण्डुरिवौजसा॥

ततः=तत्पश्चात्, सर्व=सब; गुण=शुभ लक्षण; उदर्कः=क्रमशः विकसित हुए; सानुकूल=सब ओर से अनुकूल; ग्रहोदये=ग्रहों के उदय होने पर; जज्ञे=जन्म लिया; वंशधरः=उत्तराधिकारी; पाण्डोः=महाराज पाण्डु का; भूयः=पुनः; पाण्डुः इव=महाराज पाण्डु की तरह; ओजसा= तेजस्वी।

अनुवाद

तदनन्तर जब सम्पूर्ण राशि एवं ग्रहों ने मिलकर अत्यन्त शुभ स्थिति की सूचना दी तब उस समय पाण्डु के पवित्र वंश में जैसे उनका साक्षात् तेज जन्म ग्रहण कर रहा है। इस भाँति उनके उत्तराधिकारी महाराज परीक्षित ने जन्म ग्रहण किया।

तात्पर्य

आश्रित जीवों पर ग्रह एवं तारा सम्बन्धी प्रभावों की ज्योतिषीय गणना कोई आनुमानिक मान्यता नही वरन् तथ्य है। और यह श्रीमद्भागवत मे प्रतिपादित हुआ है प्रत्येक जीव प्रकृति के नियमों द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म रूप से नियन्त्रित हो रहा है जैसे प्रत्येक नागरिक राज्य के नियमों एव प्रभावो से नियन्त्रित हो रहा है। राज्य के नियम स्थूल रूप से जाने जा सकते है। परन्तु भौतिक प्रकृति के नियम जब हमारी बुद्धि सूक्ष्म होगी जब विवेक जाग्रत होगा, तभी समझ में आ सकते है वे स्थूल बुद्धि द्वारा समझ मे आने योग्य नही हैं। और यह भगवद्गीता (३।९) मे वर्णित हुआ है जो हम पर एक बन्धन कारक प्रभाव उत्पन्न करता है और केवल वे जो यज्ञ के निमित्त कार्य करते हैं अर्थात् विष्णु के निमित्त कार्य करते है वे उन प्रतिक्रियाओं से, उन बन्धनों से नही बँधते।हमारे कार्य-कलापों के शुभाशुभ फल उच्च प्रामाणिकताओं, प्रकृति, उच्चाधिकारियों एवं भगवान् के

प्रतिनिधियों द्वारा सुनीर्णीत होते है। और इस प्रकार हम अपने पूर्वकृत कर्मो के अनुसार विभिन्न देशों की प्राप्ति करते है। प्रकृति के नियम इतने सूक्ष्म हैं कि हमारे शरीर का प्रत्येक भाग विभिन्न ताराओं एवं ग्रहों की गतिविधियों से प्रभावित होता रहता है और इस प्रकार तारा एवं ग्रहों के प्रभाव-समूहों से निर्मित कैद खाने में रहने के लिये हम मजबूर हो रहे है। इसलिये मनुष्य का भाग्य उद्देश्य उसके जन्म समय में अन्तरिक्ष में एकत्रित तारा समूहों की स्थिति विशेष पर निर्भर करता है तथा इसका वास्तविक परिचय तब प्राप्त होता है। जब जन्म कूण्डली निर्मित होकर सम्मुख आती है। इस प्रकार ज्योतिष एक महान् विज्ञान है तथापि एक महान् विज्ञान का दुरुपयोग उसे कदापि व्यर्थ नही बना सकता। महाराज परीक्षित अथवा साक्षात् भगवान् भी इन शुभ ग्रहो के उच्चतम स्थितियो के क्षणो मे अवतार ग्रहण करते है। क्षण अत्यंत महिमामय, अत्यत मङ्गलमय होता है तथा यह सब प्रभाव घनीभूत केन्द्रीभूत होकर जन्म लेने वाले के शरीर पर पड़ता है और उसका परिचय समस्त तारागण एक साथ मिल कर घोषित करते है। परम मङ्गलमय तारों की व्यवस्था उस दिन होती है जब भगवान् इस जगतीतल पर पदार्पण करते है, जन्म ग्रहण करते हैं और इसलिये विशिष्ट पर्व जयन्ती मनाई जाती है। और यह इनका कोई अन्य प्रयोजन नही, मात्र भगवान् के जन्म काल में तारागणों एवं ग्रहों ने मिलकर जो प्रभाव स्पन्दित किये थे, जो ऊर्जा विकसित की थी, उन ऊर्जाओं का सङ्कलन कर उन्हें सुसंगठित कर उससे अपनी चेतना को स्पन्दित करने का, उद्बुद्ध करने का एक सूक्ष्म उपाय है। महाराज परीक्षित न केवल एक श्रेष्ठ क्षत्रिय सम्राट् थे वरन् वे एक महान् भगवद्भक्त भी थे अतः उनका किसी अमङ्गलमय काल में जन्म नही कराया जा सकता था उसके लिये अति-अति पवित्र-काल, स्थल एवं आदरणीय वंश परम्परा अपेक्षित थी। जो भगवान् के प्रति प्रेममयी सेवा का अर्पण युगानुयुग से करता चला आरहा हो ऐसे वंश में उनका जन्म भगवान् की भक्ति का द्वार उन्मुक्त करने वाले क्षणों मे हो निश्चित ही ऐसे तारागणों के स्पन्दनों से युक्त स्थिति में ही उनका जन्म सम्भव था। इस प्रकार उनके जन्म के अवसर पर ही श्रीमद्भागवत् के भूतल पर प्रादुर्भाव एवं उसके प्रमुख श्रोता का निर्धारण सम्पन्न होगया। समय की तात्कालिक उपयुक्त व्यवस्था का ज्योतिषीय प्रभाव मनुष्य की इच्छा से नही होता, वरन् ये सारी व्यवस्थाएं भगवान् के संकेतानुसार प्रकृति की उच्चतर शक्तियाँ ही करती हैं। सचमुच ही यह व्यवस्था जीव के पूर्वकृत

एवं बुरे कर्मों पर ही आधारित है तथापि जब कोई भगवद्भक्त जन्म लेता है, तो समस्त मङ्गलमयी स्थितियाँ भगवान् के संकेत से स्वयमेव आ उपस्थित होती हैं। यहाँ भी वही अवसर है जहाँ जन्म लेने वाले जीव के पूर्व पुण्यों का अनुमान लगाया जा सकता है उसके पूर्वकृत कर्मों की रूप रेखा प्रस्तुत की जा सकती है। पूर्वकृत कर्मों के आधार पर व्यक्ति प्रचुर सम्पत्ति, उच्च शिक्षा एवं शारीरिक सौन्दर्य का स्वामी हो सकता है संस्कार सनातन धर्म की संस्कार प्रक्रिया एक उच्च व्यवस्था है जिसमें तारागणों के शुभ प्रभावों का वास्तविक लाभ पूरा-पूरा उठाया जा सकता है। सनातन धर्म के अनुसार कर्म करने से व्यक्ति ताराओं एवं ग्रहो की चरम शुभ अवस्था में जन्म ग्रहण करने में समर्थ हो सकता है इसलिये गर्भाधान संस्कार या प्रथम बीजारोपण प्रक्रिया, द्विजों के लिये सर्वथा संस्तुत की गई है और यही शुभकर्मों का श्रीगणेश है पवित्र, उच्च एवं बुद्धिजीवी वर्ग के समाज के व्यक्ति इस प्रथम संस्कार से लेकर षोडश संस्कार पर्यन्त पूर्ण विधियों का यथावत् पालन करके ही अभिजात्य स्थिति को उपलब्ध कर सकता है। संसार में शान्ति एवं समृद्धि केवल सदाचारी एवं कुलीन शुद्ध सन्तानों की जनसंख्या से ही सम्भव है अन्यथा वहाँ केवल नर्क एवं विघ्न बहुल कबीलों की ही बहुतायत हो सकती है। यौन अव्यवस्था से केवल अपवित्र सन्तान उत्पन्न होती है और अपवित्र सन्तानों के द्वारा केवल नर्क ही निर्मित होते रहेंगे।

[१३]

तस्य प्रीतमना राजा विप्रैर्धौम्यकृपादिभिः।
जातकं कारयामास वाचयित्वा च मङ्गलम् ॥

तस्य=उसका; प्रीतमना=अत्यन्त सन्तुष्ट; राजा=राजा युधिष्ठिर; विप्रैः=विद्वान् ब्राह्मणों द्वारा; धौम्य=ऋषि धौम्य; कृप=कृपाचार्य; आदिभिः=अन्य ऋषिगणों सहित; जातकम्=जन्म सम्बन्धी संस्कार; कारयामास=सम्पन्न किया; वाचयित्वा=स्वाध्याय कर; च=भी; मङ्गलम्=परम मङ्गल।

अनुवाद

महाराज युधिष्ठिर महाराज परीक्षित के जन्म से अत्यन्त प्रसन्न

हुए, वे अत्यन्त प्रीति से भर उठे, एवं उनका जातकर्म-संस्कार कराया धौम्य एवं कृपाचार्य की प्रधानता में विद्वान ब्राह्मण मङ्गलमय वेदमन्त्रों का उच्चारण करने लगे।

तात्पर्य

सदाचारी एवं बुद्धिजीवी वर्ग के ब्राह्मणों की समाज में बड़ी आवश्यकता है ताकि वर्णाश्रम धर्म की विधि के अनुसार वे बालक के जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त षोडश शुद्धिकारक संस्कारों का कार्य भलीभाँति सम्पन्न करा सके। जब तक ऐसे संस्कार नहीं किये जाते तब तक पवित्र जनसख्या, सदाचारी जनता की कोई सम्भावना नहीं है और कलिकाल में सम्पूर्ण विश्व में शूद्र प्राय. गुणोचित निम्न प्रवृत्तियों वाले व्यक्ति जन्म ग्रहण करते हैं उसका एकमात्र कारण यही है कि वैदिक संस्कार पद्धति का अत्यन्त अभाव हो गया है। और यदि हमें समाज में पुनः सुख शान्ति का सृजन करना है तो इस वैदिक पद्धति का पुनरुद्धार अति आवश्यक होगा, किन्तु इस युग में वैदिक प्रक्रिया का पुनरुद्धार अति कठिन है क्यों कि उच्च प्रतिभाशाली ब्राह्मणों का अत्यन्त अभाव है लेकिन इस युग में उसके ही समकक्ष वैसे ही गुणों, योग्यताओं एवं शक्तियों से सम्पन्न पाञ्चरात्र विधि संस्तुत हुई है। पाञ्चरात्र विधि शूद्र वर्ग के व्यक्तियो पर द्रुत कार्य करती है और इसलिये कलियुग के लिए यह लाभदायी है और यही शास्त्र प्रतिपादित कलियुग के उपयुक्त संस्कार पद्धति है। इस कलिकाल के लिए ऐसे शुद्धि कारक संस्कार केवल आध्यात्मिक विकास के लिये आवश्यक होते हैं न कि किसी अन्य भौतिक प्रयोजन के लिए। आध्यात्मिक, अप्राकृत विकास कभी निम्न या उच्च माता-पिता पर निर्भर नहीं करता, गर्भाधान संस्कार के पश्चात् सीमन्तोन्नयन संस्कार एवं सदभक्षणम् संस्कार आदि के कार्यक्रम सम्पन्न किये जाते हैं यह बालक के गर्भावस्था के अवसर पर सम्पन्न होते हैं और जब बालक जन्म लेता है तब प्रथम संस्कार जातकर्म कहलाता है। यह महाराज युधिष्ठिर के राजपुरोहित धौम्य एवं कृपाचार्य आदि विद्वान् ब्राह्मणों के द्वारा सम्पन्न कराया गया। कृपाचार्य एक पुरोहित होते हुए एक महान् योद्धा भी थे। ये दोनों आत्मज्ञान सम्पन्न राजपुरोहित कतिपय अन्यान्य ब्राह्मणों से घिरकर महाराज युधिष्ठिर के उपरोक्त संस्कार कार्यक्रम में पधारे एवं उन्होंने सुचारुरूपेण संस्कार सम्पन्न कराया। सभी संस्कार केवल औपचारिक कार्यक्रम ही नहीं वरन् वे

उद्देश्यों की सर्वाङ्ग सम्पन्नता के गुह्य सूत्र है और इसलिए धौम्य एवं कृपाचार्य की भाँति महान् विद्वान् ब्राह्मणों ने इस कार्य को स्वीकार किया। ऐसे ब्राह्मण इस युग मे अनुपलब्ध हैं। और इसलिए आध्यात्मिक विकास का कार्यक्रम इस युग में समाप्त प्राय हो गया है। गोस्वामीगणों ने पाञ्चरात्रिक प्रक्रिया के अन्तर्गत वैदिक विधि-विधानों का संङ्कलन किया तथा इन प्रक्रियाओं से भी सर्वथा वही लाभ प्राप्त होता है जो वैदिक कर्म संस्कार पद्धतियों से होता है।

कृपाचार्य महर्षि शरभङ्ग के पुत्र थे, इनका जन्म सांयोगिक कहा जाता है महर्षि शरभङ्ग का जनपदी नामक एक प्रसिद्ध अप्सरा से मिलन हुआ तथा उनका बीज दो भागों में विभाजित होकर स्खलित हुआ, एक भाग के द्वारा तत्क्षण ही एक बालक उत्पन्न हुआ तथा दूसरे भाग के द्वारा एक बालिका उत्पन्न हुई, बालक का नाम कृप हुआ तथा बालिका का नाम कृपी हुआ। महाराज शान्तनु जब अपने राजकीय वनों के सरक्षण मे संलग्न थे तब उन्होंने दोनों (बालक बालिका) को घोर वन में अनाथ पाकर ग्रहण कर लिया तथा उनके ब्राह्मणोचित संस्कार कर अपना राज्य सभासद एवं गुरु बना लिया। श्रीकृपाचार्य कालान्तर में महान् योद्धा द्रोणाचार्य की भाँति अस्त्र शस्त्रों के विशारद एवं ब्राह्मणोचित गुणों एवं योग्यताओं से सम्पन्न राजपुरोहित बने। कृपाचार्य की बहिन कृपी का विवाह गुरु द्रोणाचार्य से हुआ। कालान्तर में कृपाचार्य कुरुक्षेत्र के मैदान मे दुर्योधन के पक्ष से महाभारत युद्ध में सम्मिलित हुए, उस अवसर पर कृपाचार्य महाराज परीक्षित के पिता अभिमन्यु को युद्धभूमि में वीरगति प्राप्त होने में कारण बने थे। परन्तु उन सब के होते हुये भी कृपाचार्य पाण्डवों के परिवार में सदा सम्मान्य रहे आये, क्योंकि वे द्रोणाचार्य की भाँति एक महान् विद्वान ब्राह्मण थे। जब पाण्डव जूए में अपना सब कुछ हार कर वन को चले गये तो धृतराष्ट्र ने कृपाचार्य को पाण्डवों का मार्ग दर्शक नियुक्त किया था। महाभारत युद्ध के अनन्तर कृपाचार्य पुनः युधिष्ठिर की राजसभा के सदस्य बन गये तथा जब महाराज परीक्षित का जन्म हुआ, तब वे मङ्गलमय वेदमन्त्रों का उच्चारण करने एवं राजवंश की अभिवृद्धि एवं बालक के जीवन की उन्नति के लिये आशीर्वाद प्रदान करने के लिये पधारे। महाराज युधिष्ठिर जब अपने राजमहल का परित्याग कर हिमालय की यात्रा में प्रस्थित हो रहे थे तब उन्होंने महाराज

परीक्षित के संरक्षक के रूप में कृपाचार्य जी को नियुक्त किया। कृपाचार्य ने उन्हें शिष्य रूप में ग्रहण किया, उसके पश्चात् धर्मराज सन्तुष्ट होकर हिमालय को चले गये। इस प्रकार प्राचीन काल में पृथ्वी के महान् राजा एवं सम्राट आदि सभी कृपाचार्य के सदृश विद्वान ब्राह्मणों के मार्ग दर्शन में राज्य शासन किया करते थे इसलिये सदा राज्य शान्ति एव समृद्धि से सम्पन्न रहता था।

[१४]

हिरण्यं गां महीं ग्रामान् हस्त्यश्वान्नृपतिर्वरान्।
प्रादात्स्वान्नं च विप्रेभ्यः प्रजातीर्थे स तीर्थवित्॥

हिरण्यम्=स्वर्ण; गाम्=गायें; महीम्=भूमि; ग्रामान्=ग्राम, हस्ति=हाथी; अश्वान्=घोड़े; नृपतिः=राजा; वरान्=वरदान; प्रादात्=दान में दिया; स्वन्नम्=उत्तम भोजन; च=और, विप्रेभ्य.=ब्राह्मणों के लिये, प्रजा-तीर्थे=पुत्र जन्म के शुभ अवसर पर; सः=वह; तीर्थ-वित्=जो दान देने के नियमों को जानता है।

अनुवाद

पौत्र जन्म पर राजा युधिष्ठिर जो यह भलीभाँति जानते थे कि दान कहाँ और कैसे कब दिया जाता है। स्वर्ण, भूमि, ग्राम, हाथी, घोड़े एवं अत्यन्त सुस्वादु अन्न ब्राह्मणों को समर्पित किया।

तात्पर्य

केवल ब्राह्मण एवं संन्यासी ही गृहस्थों के दान ग्रहण करने के प्रामाणिक अधिकारी है। संस्कार के सम्पूर्ण सुअवसरो पर विशिष्ट रूप से जन्म, विवाह एवं मृत्यु के अवसर पर ब्राह्मणों में धन वितरित किया जाता है क्योंकि ब्राह्मण अपनी सेवाओं द्वारा मानव जाति की उस प्रमुख आवश्यकता की पूर्ति करता था जो किसी अन्य द्वार से कभी उपलब्ध नहीं हो सकती थी। मानव जाति की इस आवश्यकता पूर्ति के लिए ही

उन्हें अपने जीविकोपार्जन का कार्य सम्पूर्णतया त्यागना पडता था। दूसरे शब्दो मे जीविकोपार्जन कार्य के परित्याग से तथा उनसे मिलने वाले समय के सदुपयोग से वे मानव जाति की उस गुह्य आवश्यकता पूर्ति की योग्यता से सम्पन्न हो सकते थे। अत: सम्पूर्ण समाज का उनकी पर्याप्त सुख सुविधाओं का ध्यान रखना आवश्यक होता था। दान—स्वर्ण, भूमि, ग्राम, घोड़े, हाथी एवं अन्न के रूप में देना प्रशस्त माना गया है। इस प्रकार ब्राह्मण कभी गरीब नहीं हुआ करते थे। इसके विरुद्ध चूँकि वे स्वर्ण, भूमि, ग्राम, घोड़े, हाथी तथा पर्याप्त अनाज समय-समय पर प्राप्त करते थे अत: उन्हे पृथक् व्यवसाय करने की कोई आवश्यकता नही होती थी। और इसलिए वे सारा समय सम्पूर्ण समाज के कल्याणार्थ सूक्ष्यतम अन्वेषण मे व्यतीत किया करते थे।

यहाँ "तीर्थवित्" शब्द अति महत्वपूर्ण है क्योंकि राजा भलीभाँति जानते थे कि दान कहाँ दिया जाना चाहिये। दान कभी भी वन्जर अथवा अमृजनात्मक एवं अन्धा नही होता, वरन् शीघ्र अति उर्वर, उत्पादक एव श्रेष्ठतम सृजनात्मक कार्य है। शास्त्रों मे दान ग्रहण करने का अधिकारी का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जो उत्तरोत्तर आध्यात्मिक विकास करता हुआ व्यक्ति हो उसे ही दान देना चाहिये। तथाकथित दरिद्रनारायण जो कि सर्वोच्च भगवान् की एक विकृत व्याख्या है, वे शास्त्रानुसार दान प्राप्ति के सर्वथा अनधिकारी व्यक्ति है। तथा अकर्मण्य, आलसी, गरीब व्यक्ति भी घोड़े, हाथी, भूमि एव ग्राम की विपुल सम्पदा प्राप्त करने का अधिकारी नही है। निष्कर्ष यह है कि चूँकि बुद्धिमान व्यक्ति अर्थात् ब्राह्मण विशिष्ट रूप से भगवान् की सेवा में सलग्न रहते है अत: वे शरीर की आवश्यक वस्तुओं के अभाव से पीड़ित अथवा चिन्तित न हों इसलिये राजा एव गृहस्थ प्रसन्नता पूर्वक उनकी सुख सुविधाओं का ध्यान रखा करते थे।

शास्त्रों में यह प्रतिपादित हुआ है कि जब तक वालक नाल के द्वारा अपनी माता से जुड़ा हुआ है तब तक वह माता से एक माना गया है परन्तु ज्योही नालोच्छेदन हुआ त्योंही वालक माता से पृथक् माना गया है और उसी समय जातकर्म संस्कार किया जाता है। शासकवर्गीय देवगण एव पितृगण आदि आदि परिवार के पूर्वज इस नवजात शिशु को देखने के लिये उक्त स्थल पर पधारते है। और ऐसे ही अवसर पर सृजनात्मक

दृष्टिकोण से शुभोत्पादक वृत्ति से उचित व्यक्ति को समाज के आध्यात्मिक कल्याणार्थ दान करने का विधान किया गया है।

[१५]

तमूचुर्ब्राह्मणास्तुष्टा राजानं प्रश्रयान्वितम् ।
एष ह्यस्मिन् प्रजातन्तौ पुरूणां पौरवर्षभ ।।

तम्=उनको; ऊचु:=बोले; ब्राह्मणा:=विद्वान् ब्राह्मणों को, तुष्टा=अत्यन्त सन्तुष्ट होकर, राजानम्=राजा को; प्रश्रयान्वितम्=अत्यन्त अनुगृहीत होकर, एष=यह, हि=निश्चित ही; अस्मिन्=इस कुल में; प्रजातन्तौ=परम्परा मे; पुरूणाम्=पौरवों का; पौरव-ऋषभ.=पुरुवंशियों मे श्रेष्ठ।

अनुवाद

राजा के उस महान् दान मान से सन्तुष्ट हुये वे समस्त बुद्धिमान ब्राह्मण राजा को सम्बोधित कर ऐसा बोले, हे राजन् ! यह आपका प्रपौत्र निश्चित ही पुरुवश में सर्वथा एक श्रेष्ठ पौरव के रूप में उत्पन्न हुआ है।

[१६]

दैवेनाप्रतिघातेन शुक्ले संस्थामुपेयुषि ।
रातो वोऽनुग्रहार्थाय विष्णुना प्रभविष्णुना ।।

दैवेन=अतिमानवीय शक्ति द्वारा, अप्रतिघातेन=अजेय द्वारा; शुक्ले=विशुद्ध को; संस्थाम्=विनाश को; उपयुषि=विवश किये जाने पर, रात:=संगृहीत; व:=तुम्हारे लिये, अनुग्रह-अर्थाय=अनुग्रह के लिये; विष्णुना=अन्तर्यामी भगवान् का, प्रभ-विष्णुना=सर्वशक्तिसम्पन्न श्रीविष्णु के द्वारा।

अनुवाद

वे श्रेष्ठ ब्राह्मण बोले यह आपका निष्पाप पुत्र साक्षात् सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् भगवान् विष्णु द्वारा आप पर कृपा प्रदर्शित करने के लिये ही रक्षित हुआ है। यह अपनी माता के गर्भ मे अजेय अतिमानवीय शक्ति सम्पन्न ब्रह्मास्त्र से नष्ट ही हो जाने वाला था।

तात्पर्य

बालक परीक्षित सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी भगवान् विष्णु (भगवान् कृष्ण) द्वारा दो कारणों से रक्षित हुए। प्रथम कारण यह है कि बालक अपनी माता के गर्भ मे अपने पूर्वजन्मोपार्जित विशुद्ध भगवद्भक्ति के कारण निष्पाप था द्वितीय कारण यह है कि यह बालक कुरुवंश के परम सदाचारी सम्राट महाराज युधिष्ठिर का एकमात्र अन्तिम उत्तराधिकारी सन्तान था। भगवान् चाहते है कि राजाओ का यह कुल बना रहे तथा सम्पूर्ण विश्व पर इनके शासन के रूप में सर्वशक्तिमान् भगवान् का प्रतिनिधित्व कायम रहे और इन्ही के माध्यम से संसार में प्राणियों का जीवन शान्ति पूर्ण एव समृद्ध बनावे। कुरुक्षेत्र के युद्ध के अनन्तर महाराज युधिष्ठिर से दूसरी पीढ़ी भी समाप्त हो चुकी थी उसके अनन्तर राजपरिवार में वंश की रक्षा करने वाली कोई सन्तान नही थी। महाराज परीक्षित अभिमन्यु के एक-मात्र पुत्र थे तथा उनके परिवार का भविष्य में अस्तित्व कायम रहना उन्ही पर निर्भर था। किन्तु दुर्भाग्यवश वे अश्वत्थामा के अजेय ब्रह्मास्त्र से नष्ट होने लगे थे। भगवान् श्रीकृष्ण ने उनकी रक्षा करली भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ विष्णु के रूप में वर्णित हुए है। और यह भी बहुत महत्वपूर्ण है कि भगवान् श्रीकृष्ण भगवत्ता के सर्वोच्च व्यक्तित्व है वे सृष्टि की रक्षा एवं नाश का कार्य नही करते क्योंकि ये समस्त कार्य श्रीविष्णु जो उन्ही की आंशिक अभिव्यक्ति किया करते हैं। सर्वव्यापक अवस्था में भगवान् के द्वारा जो कार्य किया जाना चाहिये वह सदा उनके विष्णु स्वरूप के द्वारा सम्पन्न होता है। बालक परीक्षित यहाँ निष्पाप वर्णित हुए है चूंकि वे भग-वान् के अनन्य अहैतुकी भक्त है ऐसे अहैतुकी भक्त इस धरातल पर भग-वान् के सन्देश के प्रसारार्थ प्रगट होते है। भगवान् चाहते हैं कि आश्रित जीव जो भौतिक जगत् में यत्र-तत्र भटक रहे हैं वे वापस भगवद्धाम गोलोक

वृन्दावन प्राप्त हों और इस प्रकार वे वेदादि दिव्य वाङ्मय निर्माण कर ऋषियो सन्यासियो के रूप में अपने प्रतिनिधियो द्वारा इस जगतीतल पर वैदिक धर्म का प्रसार करते है। ऐसे वैदिक वाङ्मय के प्रसारक अप्राकृत गुरु भगवान् के प्रतिनिधि है और वे निष्पाप है। उनका जीवन अमल धवल है विशुद्ध है क्योंकि भौतिक त्रिगुणों की कालिमा उनका तनिक भी स्पर्श नही कर पाती वे सदा भगवान् के द्वारा रक्षित होते हैं। तथा जब भी मूर्ख पीडादायक, भौतिकवादी उन्हें पीड़ित करते है तब भगवान् उनकी रक्षा स्वयं करते है। अश्वत्थामा के द्वारा बालक परीक्षित पर छोड़ा गया ब्रह्मास्त्र निश्चित ही अतिमानवीय शक्ति से सम्पन्न था। इस भौतिक जगत् में कोई भी मनुष्य इसके प्रबल वेग को रोकने में समर्थ न था परन्तु सर्व-शक्तिमान् भगवान् जो सर्वत्र विद्यमान है भीतर एवं बाहर सर्वत्र विराज रहे हैं वे अपनी सर्वशक्तिमत्ता से अपने अनन्य एवं प्रामाणिक भक्त की रक्षा के लिए निश्चित ही इसका प्रतीकार करने में संलग्न हुए। महाराज युधिष्ठिर हमेशा भगवान् की अहैतुकी कृपा का स्मरण कर अत्यन्त अनु-ग्रहीत हुआ करते थे उनका हृदय उनके नेत्र भर आया करते थे प्रेम एवं आनन्द के विचार प्रवाह से उनका जीवन स्पन्दित होकर पावनतम हो उठता था।

[१७]

तस्मान्नाम्ना विष्णुरात इति लोके भविष्यति।
महाभाग न संदेहो महाभागवतो महान्॥

तस्मात्=इसलिये; नाम्ना=नाम से; विष्णु-रातः=भगवान् विष्णु के द्वारा रक्षित; इति=ऐसा; लोके=सम्पूर्ण विश्व में; भविष्यति=प्रसिद्ध होगा; महाभाग=हे महा सौभाग्यशाली; न=नही; सन्देहः=सन्देह, महा-भागवतः=भगवान् के प्रथम कोटि का भक्त; महान्=सम्पूर्ण गुणों से युक्त।

अनुवाद

इस कारण यह बालक जगत् में विष्णुरात के नाम से प्रसिद्ध होगा। हे महाभाग्यशाली राजन्! इसमें कोई सन्देह नहीं कि बालक भविष्य में

राजोचित समस्त उत्तम गुणों से सम्पन्न भगवान् का महाभागवत भक्त होगा।

तात्पर्य

भगवान् सम्पूर्ण जीवों को सुरक्षा एवं आत्यन्तिक शरण प्रदान करते है क्योकि वे उनके सर्वोच्च नेता एवं स्वामी है। प्रेरणा के स्रोत है। वेद के मन्त्र यह प्रतिपादित करते है कि भगवान् समस्त भगवत्ता के सर्वोच्च मौलिक व्यक्तित्व है। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि भगवान् समस्त जीवों का अभीष्ट प्रदान करते रहते है उन्हे जान लेने पर व्यक्ति परम शान्ति को उपलब्ध होता है (कठोपनिषद्) ऐसी सुरक्षा विभिन्न स्तर के जीवों का भगवान् की विभिन्न शक्तियों के द्वारा प्राप्त होती है परन्तु जहाँ तक उनके अनन्य अहैतुकी भक्तों का सम्बन्ध है वे व्यक्तिगत रूप से उनकी रक्षा करते है। इसलिए महाराज परीक्षित का जीवन प्रारम्भ से ही, अर्थात् मातृ गर्भ में उनके दर्शन से लेकर जीवन के अन्त तक भगवान् की प्रत्यक्ष कृपानुभूति की घटनाओं से समृद्ध है। वे विशेष रूप से भगवान् के द्वारा सुरक्षित रहे आये। भगवान् की यह विशेष कृपा यह इङ्गित करती है कि बालक भविष्य में प्रथम कोटि का वैष्णव भक्त होगा तथा समस्त मङ्गल-मय गुणों को अपने व्यक्तित्व में धारण करेगा। भगवान् के तीन प्रकार के भक्त होते हैं महाभागवत, मध्यम अधिकारी एवं कनिष्ठ-अधिकारी जो भगवान् के मन्दिरों मे पूजा प्रार्थना तो करते हैं परन्तु सर्वश्रेष्ठ परा विज्ञान के पर्याप्त ज्ञान ग्रहण करने मे असमर्थ रहे आते है। और इसलिए भगवान् के गूढ रहस्यमय अनन्य भक्तों के चरणों में श्रद्धा एव प्रेम से रहित होते है, भक्तों के प्रति सवेदनशील नही होते, ऐसे भक्त भौतिक भक्त प्राकृत भक्त अथवा कनिष्ट अधिकारी कहे जाते है। द्वितीय कोटि के भक्त वे है जिन्होंने मानसिक धारणा से भगवान् के चरणों में वास्तविक भक्ति विक-सित कर ली है तथा उसी स्तर के भक्तों से निरन्तर सौहार्द एव मैत्री भाव बनाये रखते हैं। ये नवीन प्राकृत भक्तों के प्रति उदार होते है कृपाशील होते है, तथा नास्तिकों की सदा उपेक्षा करते हैं। भगवान् के ऐसे भक्त द्वितीय श्रेणी के भक्त कहलाते है। जो सदा सर्वत्र भगवान् का ही दर्शन करते हैं तथा प्रत्येक दृश्य पदार्थों को भगवान् के अन्तर्गत देखते हैं तथा प्रत्येक दृश्य पदार्थों को भगवान् के नित्य सम्बन्ध से युक्त देखते हैं जिनकी दृष्टि में अन्य कोई नही केवल सदा सर्वत्र भगवान् ही दृष्टिगोचर हो रहे

हैं। जिनकी दृष्टि में भगवान् की ही अभिनव अभिराम लीलाएँ सर्वत्र स्फुरित हो रही है ऐसा भक्त महाभागवत भक्त कहलाता है। प्रथम श्रेणी का भक्त कहलाता है। ऐसे प्रथम श्रेणी के भगवद् भक्त सम्पूर्ण क्षेत्रों मे, जीवन की सम्पूर्ण दिशाओं में सदा पूर्ण होते है। एक भक्त चाहे वह जो भी हो, किसी भी स्तर का क्यों न हो वह सहज स्वाभाविक रूप से धीरे-धीरे सम्पूर्ण गुणों से सम्पन्न होता जाता है। और इस प्रकार महा भागवत महाराज परीक्षित की भाँति भक्त निश्चित ही जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्रों मे परिपूर्ण होते है और चूँकि महाराज परीक्षित ने महाराज युधिष्ठिर के परिवार में जन्म लिया अतः वे यहाँ "महाभाग" गरिमामय सम्बोधन से सम्बोधित हुए है जिसका अर्थ होता है सौभाग्यशालियों में सर्वश्रेष्ठ परिवार मे यदि कोई महाभागवत जन्म ग्रहण करता है तो वह परिवार इस प्रथम कोटि के भक्त के जन्म से अत्यन्त सौभाग्यशाली हो जाता है तथा इस परिवार के सदस्य भूत, भविष्य एवं वर्तमान की सौ पीढियों पर्यन्त भगवत् कृपा से मुक्त हो जाते है। यह सब उनके प्रथम प्रिय भक्त के कारण हुआ, इसलिए इस जगत् मे परिवार का उच्चातिउच्च सर्वश्रेष्ठ लाभ यदि कोई होता है तो वह एकमात्र भगवान् के अहैतुकी अनन्य भक्त बन जाने से ही होता है।

[१८]

अप्येष वंश्यान् राजर्षीन् पुण्यश्लोकान् महात्मनः।
अनुवर्तिता स्विद्यशसा साधुवादेन सत्तमाः॥

श्रीराजा=मङ्गलमय राजा (महाराज परीक्षित); उवाच=बोले, अपि=भी, एषः=यह; वश्यान्=परिवार; पुण्य-श्लोकान्=अत्यन्त पुण्यात्माओ का; महा-आत्मनः=महान् पुरुषों का; अनुवर्तिता=अनुगमन करके; स्वित्=ऐसा होगा; यशसा=अपनी महान् उपलब्धियो की कीर्ति द्वारा; साधु-वादेन=महिमान्वित; सत्तमाः=महान् पुरुष।

अनुवाद

महाराज युधिष्ठिर ने पूछा हे महात्मन्! क्या यह बाल

वंश में उत्पन्न हुए पुण्यश्लोक महामहिम उज्ज्वल शुभ्रधवल यश से सम्पन्न राजर्षियों की श्रेणी में सदाचारी पवित्र राजर्षि होगा।

तात्पर्य

महाराज युधिष्ठिर के पूर्वज सभी राजर्षिजनोचित श्रेष्ठ सदाचार पूर्ण गुणों से सम्पन्न थे वे सदाचारी थे तथा अपना वैभव अपनी शक्ति एवं भगवद्भक्ति आदि उपलब्धियों से महामहिमान्वित हो चुके थे। वे सब राजा होते हुए भी ऋषि थे और इसलिए उस राज्य की समस्त प्रजा अत्यन्त सुखी तथा सदाचारी थी। उनका परस्पर व्यवहार अति मृदुल था, वे समृद्ध थे आध्यात्मिक दृष्टि से एवं आधिभौतिक दृष्टि से भी। ऐसे सदाचारी राजा कौमारावस्था से ही भलीभाँति दीक्षित किये जाते थे और परिणाम-स्वरूप राज्य का प्रत्येक उत्तराधिकारी ऋषियोचित गुणों से सम्पन्न होता था। और उसके प्रतिनिधित्व में उसके शासन में जो प्रजा निवास करती थी वह सुखी होती थी। वह अप्राकृत दिव्य भगवत्-सम्बन्ध से आलोकित जीवन को अपना लक्ष्य बनाती थी। महाराज युधिष्ठिर स्वयं अपने पूर्वजों के यथावत् प्रतिलिपि थे और उन्होंने अभिलाषा की, अपेक्षा की कि उनके पश्चात् होने वाला राजा भी पूर्व पुरुषों की भाँति गरिमामय हो। उन्होंने महान् विद्वान ब्राह्मणों की ज्योतिष गणना के द्वारा जब जाना कि यह बालक भगवान् का प्रथम कोटि का भक्त होगा, तब वे अत्यन्त प्रसन्न हो उठे तथा अत्यन्त विश्वास पूर्वक उन्होंने जानना चाहा कि यह बालक पूर्व पुरुषों की भाँति चक्रवर्ती सम्राट् के अनुरूप योग्यताओं एवं गुणों से सम्पन्न है? सदाचारी, शौर्यवान्, भगवान् का भक्त होते हुए भी क्या दुराचारियों, अधर्मियों के लिए यह साक्षात् भय का अवतार है? राजा युधिष्ठिर ने पूछा कि निष्पाप नागरिकों पर शासन करने योग्य पर्याप्त श्रेष्ठ गुण भी हैं अथवा नहीं? आधुनिक काल के लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था में शासक अपने शासकोचित गुणों से पतित हो गये हैं। वे शूद्रवत् जीवन व्यतीत करते हैं। और शासक अपने प्रतिनिधियों के ही द्वारा कार्य कर सकते हैं जो धर्मशास्त्रोक्त अनुशासन पद्धति से अपरिचित, अज्ञानी होते हैं और इस प्रकार से सम्पूर्ण वायुमण्डल कामना, ईर्ष्या, द्वेष आदि शूद्रोचित गुणों से विषाक्त हो उठता है ऐसे शासक आये दिन परस्पर कलह करते रहते हैं तथा संसद के सदस्य मूर्ख समूहों में परिणित हो जाते हैं। प्रत्येक नेता अथवा शासक अपनी मृत्यु पर्यन्त राज्य के उत्पादक स्थलों का

शोषण करने की अभिलाषा रखते है। और जब तक कोई प्रबलतम शक्ति प्रयोग के द्वारा उन्हें अपदेस्थ न करे, तब तक वे राजनैतिक जीवन से निवृत्त नहीं होते। ऐसे निम्न स्तर के व्यक्ति भला जनता पर कैसे शासन कर सकते है ? और यही कारण है कि इनके शासन का परिणाम दुर्व्यवहार दुराचार एवं पाखण्ड आदि अवैध व्यवहार के रूप में प्रतिफलित हो रहा है। उन्हें श्रीमद् भागवत से यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि शासन सत्ता पर प्रतिष्ठित होने के पूर्व उन्हे किन गुणों को, किन आदर्शो को अपने व्यक्तित्व में सँजो लेना आवश्यक है।

[१९]

ब्राह्मण ऊचुः

पार्थ प्रजाविता साक्षादिक्ष्वाकुरिव मानवः।
ब्रह्मण्यः सत्यसंधश्च रामो दाशरथिर्यथा॥

ब्राह्मणः=बुद्धिजीवी वर्ग अर्थात् ब्राह्मण वर्ण के लोग, ऊचु.=बोले; पार्थ=हे पृथा (कुन्ती) के पुत्र; प्रजा=उत्पन्न हुए, अविता=पालक, साक्षात्=साक्षात्; इक्ष्वाकुः इव=महाराज इक्ष्वाकु की भाँति; मानव=मनु के पुत्र, ब्रह्मण्यः=ब्राह्मणों के प्रति हृदय में श्रद्धा एवं प्रेम धारण करने वाले, सत्य-सन्ध.=दृढ़ प्रतिज्ञ; च=भी; रामः=भगवान् श्रीराम, दाशरथिः=महाराज दशरथ के पुत्र; यथा=के सदृश।

अनुवाद

विद्वान् ब्राह्मणों ने कहा—हे पार्थ आपका यह बालक चराचर सम्पूर्ण प्रजा के पालन में मनु पुत्र महाराज इक्ष्वाकु की भाँति होगा तथा ब्राह्मणोपदिष्ट धर्म सिद्धान्तों एवं अपनी की हुई प्रतिज्ञा के पालन में दशरथनन्दन साक्षात् भगवान् श्रीराम की भाँति दृढ़ प्रतिज्ञ होगा।

तात्पर्य

"प्रजा" का अर्थ होता है इस भौतिक जगत् में जन्म धारण किया

हुआ प्राणिमात्र। वास्तव मे जीव का न जन्म है और न मृत्यु परन्तु चूंकि भगवत्सेवा से पृथक् होकर भगवत्सेवा से पराङ्मुख होकर भौतिक प्रकृति के स्वामित्व की आकांक्षा ने ही उसे ऐसा देह प्रदान किया है जिससे वह अपनी भौतिक कामनाओं की पूर्ति तो कर सकता है किन्तु साथ ही साथ जन्म एवं मृत्यु भी उससे अनिवार्य रूपेण जुड़ जाता है। इस प्रकार जीव एक देह से दूसरे देह में संक्रमण करता हुआ लगातार जन्म मृत्यु के चक्र में ८४०००० योनियों मे भटकता रहता है। परन्तु चूकि वह भगवान् का अंश है। अतएव भगवान् उसे न केवल जीवनोपयोगी आवश्यक वस्तुएँ ही प्रदान करते है। अपितु अपने प्रतिनिधियों के द्वारा सम्पूर्ण सुरक्षा भी प्रदान करते हैं। ऐसे ही भगवत्प्रतिनिधि महाराज परीक्षित थे। वे एक वार अपने राज्य के निरीक्षणार्थ पर्यटन कर रहे थे तो एक स्थल पर उन्होंने एक दीन गाय को मूर्तिमान कलि के द्वारा प्रहार किये जाते हुए देखा। उन्होने तत्क्षण उस व्यक्ति को हत्यारे के समकक्ष माना। उन्होने उस व्यक्ति को कैद कर लिया। उन्होंने तत्काल उसका वध कर देना चाहा। इससे यह सिद्ध होता है कि राजा के द्वारा पशुओं को भी पूर्ण सुरक्षा प्रदान की जाती थी। यह केवल भावनात्मक आवेश मात्र नही था वरन् धर्म-शास्त्रोक्त सिद्धान्त समन्वित वर्ताव था। नियम यह है कि जिन्होंने भी इस पृथ्वी पर जन्म लिया है उन्हे जीने का अधिकार है इसलिये राजा के द्वारा जीवनाधिकार की सुरक्षा अति आवश्यक है। पूर्वकाल से लेकर अव तक जितने भी राजर्षि हो चुके है वे सव वैदिक वाङ्मय के प्रभावों से अत्यन्त प्रभावित थे यह वैदिक वाङ्मय उच्चतर लोकों मे भी अध्ययन कराये जाते है। इस सम्वन्ध में भगवद् गीता (४।७) मे प्रतिपादित हुआ है कि विव-स्वान् सूर्य ने इसे साक्षात् भगवान् से प्राप्त किया तथा उसके पश्चात् यह एक अखण्ड शिष्य परम्परा के द्वारा प्रवर्तित होता चला गया। सूर्यदेव से मनु को यह ज्ञान प्राप्त हुआ। मनु ने इसे महाराज इक्ष्वाकु को प्रदान किया और इस प्रकार चौदह मनुओं की लम्वी शृङ्खला ने इसे क्रमश: शिष्य परम्परा द्वारा ग्रहण किया। मनु से यहाँ अर्थ है सप्तम मनु जो सृष्टि के प्रसारक प्रजापतियों में से एक थे और सूर्यपुत्र थे। उनका नाम वैवस्वत मनु था। उनके दस पुत्र थे और महाराज इक्ष्वाकु उनमे से एक थे। महा-राज इक्ष्वाकु ने अपने पिता से भक्तियोग का उपदेश प्राप्त किया जिन्होंने वह रहस्य अपने पिता से प्राप्त किया था। तथा उन्होने इसे अपने पिता अर्थात् सूर्यदेव से प्राप्त किया था। कालान्तर में यह भगवद् गीता का ज्ञान शिष्य परम्परा द्वारा महाराज इक्ष्वाकु को प्राप्त हुआ परन्तु वहुत समय

व्यतीत हो जाने के पश्चात् यह परम्परा अनैतिक तत्वों द्वारा विच्छिन्न हो गयी। और इसलिये यह पुनः महाभारत युद्ध के प्रारम्भ में कुरुक्षेत्र के मैदान में भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा अर्जुन को प्रदान किया गया। अत. सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय सृष्टि के प्रारम्भ से अद्यावधि पर्यन्त नदी के जल प्रवाहवत् सतत प्रवाहित होता चला आ रहा है। यह वैदिक वाङ्मय अपौरुषेय कहलाता है। जिसका अर्थ होता है मनुष्य-कृत नही। यह वैदिक विज्ञान सर्वप्रथम साक्षात् भगवान् के श्रीमुख से निर्गत हुआ और श्रीब्रह्मा ने इसे ग्रहण किया जो विश्व के समस्त जीवधारियों मे सर्वप्रथम जीव है।

महाराज इक्ष्वाकु वैवस्वत मनु के सौ पुत्रों में से ज्येष्ठ पुत्र थे। उन्होंने मासाहार का वर्जन किया। उनके शशाद नामक पुत्र उनकी मृत्यु के पश्चात् राजा हुए।

मनु यहाँ इक्ष्वाकु के पिता के रूप में वर्णित हुए हैं वे सप्तम मनु है। वैवस्वत मनु इनका नाम है। ये साक्षात् सूर्यदेव विवस्वान् के पुत्र है जिन्हे भगवान् श्रीकृष्ण ने सृष्टि के उत्तरार्द्ध मे भगवद्गीता का ज्ञान प्रदान किया था। समस्त मानव जाति मनु के वशज है। वैवस्वत मनु के दस पुत्र थे जिनके नाम हैं—इक्ष्वाकु, नाभाग, धृष्ट, शर्याति, नरिष्यन्त, दिष्ट, करूष. पृषध्र एवं वसुमान्। भगवान् ने वैवस्वत मनु के काल में ही मत्स्यावतार धारण किया था तदनन्तर उन्होंने उन्ही से सृष्टि का प्रारम्भ कराया था। त्रेतायुग के प्रारम्भ में सूर्यदेव ने यह भक्तिमयी सेवा का विज्ञान महाराज मनु को प्रदान किया और मनु ने इसे इक्ष्वाकु को प्रदान किया। इस प्रकार संसार मे समस्त मानव समाज के कल्याणार्थ यह ज्ञान समग्र विश्व मे व्याप्त हो गया।

श्रीराम भगवान् श्रीराम अपने विशुद्ध भक्त महाराज दशरथ का पुत्रत्व स्वीकार कर इस धराधाम पर अवतीर्ण हुए। वे अयोध्या के महान् सम्राट् महाराजा हुए। भगवान् श्रीराम अपने अंशावतारों के साथ अवतीर्ण हुए जो उनके चार छोटे भाई बने। वे चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की नवमी तिथि को त्रेतायुग के अन्तिम चरण में उत्पन्न हुए। भगवान् श्रीराम धर्म के सिद्धान्तों की रक्षा एवं अनैतिक तत्वों के मूल कारण दानवो एव राक्षसो के विनाश के लिये अवतीर्ण हुए थे। जब वे अल्पवयस् बालक ही थे तभी उन्होंने महर्षि विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा करते हुए सुबाहु एवं मारीच

तथा राक्षसी ताड़का का संहार किया जो निरन्तर ऋषियों के दैनिक कर्त्तव्य यज्ञ यागादि में विघ्न उपस्थित किया करते थे। ब्राह्मण एवं क्षत्रिय मूर्तिमान बौद्धिक प्रतिभा एवं मूर्तिमान-कर्मशक्ति दोनों ही मिलकर सामान्य जनता के कल्याणार्थ निरन्तर प्रयत्नशील बने रहते थे। ब्राह्मण एवं ऋषि सम्पूर्ण जनता का मन-मानस विशुद्ध अप्राकृत ज्ञान के द्वारा आलोकित किया करते थे। तथा क्षत्रिय दैत्य दानवों के विपुल विघ्नों से उन्हें सुरक्षा प्रदान करते थे। भगवान् श्री रामचन्द्र एक आदर्श सम्राट् थे। जिन्होंने मानवता एवं वैदिक संस्कृति का अति उच्चतम उज्ज्वलतम स्वरूप प्रस्तुत किया। इसी लिये वे ब्रह्मण्यदेव कहे जाते हैं। भगवान् विशेष कर गौओं एवं ब्राह्मणों की रक्षा करते है। तथा इस प्रकार वे संसार के समस्त समृद्धियों की अभिवृद्धि का सूत्र प्रस्तुत करते है। महर्षि विश्वामित्र ने भगवान् श्रीराम को दानवों से देवताओं की रक्षा के लिए दिव्यास्त्र प्रदान किया। इसके अनन्तर वे उन्हें महाराज जनक की स्वयम्बर सभा में ले गये, जहाँ उन्होंने भगवान् शिव का अजेय धनुष क्रीड़ापूर्वक तोड़ डाला और उन्होंने जनकात्मजा सीता देवी से विवाह किया। विवाह के अनन्तर कुछ वर्षों तक वे अयोध्या में निवास करते रहे। उसके अनन्तर उन्होंने अपने पिता महाराज दशरथ की आज्ञा से चौदह वर्ष का वनवास स्वीकार किया और इस प्रकार उन्होंने देवताओं की रक्षा तथा सहस्रों राक्षसों का संहार करने के लिए एक सूत्र प्राप्त कर लिया। इसके पश्चात् खरदूषण वध के अनन्तर वदला चुकाने वाले दैत्यों के समूह के अधिपति लंकापति रावण ने उनकी पत्नी महारानी सीता का अपहरण कर लिया। भगवान् श्रीराम ने अपनी प्राणप्रिया पत्नी को ढूँढते हुए वन-वन विचरण करते हुए वानराधीश सुग्रीव से मित्रता की। उन्होंने अपने इन मित्र की प्रसन्नता के लिए उनका खोया हुआ राज्य प्राप्त कराने के लिए बालि का वध किया।

इस प्रकार सुग्रीव-भगवान् श्रीराम के करुणामय स्वभाव से प्रभावित होकर न केवल बानरों के राजा अपितु एक अनन्य प्रेमी विशुद्ध भक्त वन गये। और उन्होंने रावण पर आक्रमण करने के लिए हिन्द महासागर में एक तैरता हुआ पुल निर्मित कराया और इस प्रकार वे उस दुष्ट रावण की राजधानी लङ्का मे जा पहुँचे जिसने महारानी सीता का हरण किया था। [अल्प समय के उपरान्त वह रावण भगवान् श्रीराम के साथ भीषण युद्ध करता हुआ अपने समस्त भाइयों एवं सहायकों के साथ उनके वाणों से

बिधकर मरा हुआ रणभूमि में पड़ा हुआ पाया गया। रावण के लघु भ्राता विभीषण लङ्का के राजसिंहासन पर अभिषिक्त किये गये। विभीषण यद्यपि राक्षस थे तथापि वे भगवान् के अनन्य वैष्णव भक्त थे। और इसलिए भगवान् ने उन्हें अपने आशीर्वाद के द्वारा अमरत्व प्रदान किया। इस प्रकार चौदह वर्ष की वनवास की अवधि की समाप्ति के अनन्तर वे अपने लघु भ्राता लक्ष्मण एवं पत्नी जानकी के साथ पुष्पक विमान पर आरूढ होकर वापस अयोध्या पधारे। एकत्रित अयोध्या पुरी ने ही नहीं अपितु समस्त उत्तर भारत ने सम्मिलित होकर उनका हार्दिक स्वागत किया और अत्यन्त अपार स्नेह एवं प्रेम के साथ श्रीभरत एवं गुरु वशिष्ठ के द्वारा वे राजसिंहासन पर अभिषिक्त किये गये। इसके अनन्तर उन्होने दीर्घकालीन अनेक महान् यज्ञों का आयोजन किया। उसी मध्य उन्होंने श्रीशत्रुघ्न को सुरमानव विद्वेषी लवणासुर दैत्य पर आक्रमण करने के लिए मथुरापुरी को भेजा और भीषण संग्राम करते हुए वह दुष्ट दैत्य मारा गया। इसके पश्चात् भगवान् श्रीराम ने दस अश्वमेध यज्ञों का आयोजन किया। अपनी दिव्य लीला की समाप्ति का अवसर आ प्राप्त हुआ जानकर उन्होने सरयू नदी में गोता लगाया तथा उसी समय इस भू-लोक से अन्तर्धान हो गये। रामायण महाकाव्य भगवान् श्रीराम के अतिमानवीय विचित्र लीलाओं का वर्णन करता है। तथा प्रमाणिक रामायण की रचना महान् कवि श्रीवाल्मीकि ऋषि के द्वारा हुई है।

[२०]

एष दाता शरण्यश्च यथा ह्यौशीनरः शिबिः।
यशो वितनिता स्वानां दौष्यन्तिरिव यज्वनाम्॥

एष.=यह बालक; दाता=परम दानी, शरण्यः=शरणागतों के रक्षक; च=और; यथा=जैसे, हि=निश्चित ही; औशीनरः=उशीनर देशवासी; शिबि=महाराज शिबि, यश =यश, वितनिता=विस्तार करने वालों में; स्वानाम्=अपने सुहृदों का; दौष्यन्तिः इव=राजा दुष्यन्त के पुत्र राजा भरत की भाँति; यज्वनाम्=बहुसंख्यक यज्ञ करने वालों में।

अनुवाद

यह बालक दान देने में तथा शरणागतोंकी रक्षा करने में उशी देशके

सुप्रसिद्ध राजा शिबि की भाँति होगा। तथा अपने कुल के नाम एवं यश की गरिमा समस्त दिशाओं में व्याप्त कर देने में महाराज दुष्यन्त के वीर पुत्र महाराज भरत की भाँति होगा।

तात्पर्य

राजा अपने दान, यश एवं आश्रितों की सुरक्षा आदि उचित कर्तव्य पालन के द्वारा ही प्रसिद्ध हुआ करता है। क्षत्रिय राजा सदा अपने आश्रितों को शरण देने मे शालीनता का अनुभव करता है। राजा की यह मनोवृत्ति ईश्वर-भाव कहलाती है। उसे सदाचारी व्यक्तियों को सदाचार सम्बन्धी कारणों से विशेष सुरक्षा प्रदान करना चाहिए। भगवद्गीता मे भगवान् ने समस्त जीवों को आश्वासन प्रदान किया है कि जो उनकी शरण ग्रहण करेंगे, उन्हें वे सदा-सदा के लिए अभय एव सुरक्षित कर, देंगे। भगवान् सर्व शक्तिमान् है और उनके वक्तव्य परम सत्य है। इसलिए वे अपने विभिन्न भक्तों को आश्रय शरण एव सुरक्षा प्रदान करने मे कभी असफल नही होते राजा चूँकि उनके प्रतिनिधि है, अतएव उन्हें अवश्यमेव भगवान् के उक्त गुण एव मनोवृत्ति को अपने जीवन में समाविष्ट करना चाहिए और उन्हे किसी भी मूल्य पर शरण मे आये हुए प्राणियों की रक्षा करना अपना सर्वश्रेष्ठ उत्तरदायित्व समझना चाहिए। ऐसे ही उत्तर-दायित्वपूर्ण व्यक्ति थे, उशीनर नरेश महाराज शिबि। वे महाराज ययाति के इतने अन्तरङ्ग मित्र थे कि देहत्याग के अनन्तर वे दोनो साथ ही स्वर्ग-लोक पहुँचे। महाराज शिबि अपनी मृत्यु के अनन्तर प्राप्त होने वाली गति से भली-भाँति अवगत थे। यह अत्यन्त रोचक कथा महाभारत (आदि-पर्व ६६।६।६) मे विस्तृत रूप से वर्णित हुई है।

महाराज शिबि ऐसे दानदाता थे कि उन्होने अपने पुण्यों से अर्जित स्वर्गाधिकार महाराज ययाति को दान करना चाहा, परन्तु ययाति ने उसे स्वीकार नही किया। अतः वे अपने सुहृद् अष्टक आदि महान् ऋषियो से घिरकर स्वर्गलोक पधारे। स्वर्ग की यात्रा करते हुए ऋषियों की जिज्ञासा पर ययाति ने उन्हें महाराज शिबि के महान् पुण्यो का परिचय दिया। कालान्तर में वे धर्मराज की न्यायसभा के एक अधिकार पूर्ण सदस्य बने। जैसे कि भगवद्गीता के द्वारा प्रतिपादित हुआ है, 'देवताओं के पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते है।' 'यान्ति देवव्रता देवान्' इसी के अनुसार परम धर्मात्मा महाराज शिबि महान् वैष्णव महा भागवत धर्मराज के पार्षद बन

गये। जब वे भूतल पर वर्तमान थे। तब वे शरणार्थियों के परम रक्षक एवं परम दाता के रूप में सर्वत्र प्रसिद्ध थे। एक बार देवराज इन्द्र ने गृद्ध का रूप धारण किया तथा अग्नि ने पक्षी का। और गृद्ध ने आहारार्थ पक्षी पर आक्रमण किया। तब उसने भागकर महाराज शिबि की गोद का आश्रय ले लिया। और जब शिकारी गृद्ध ने राजा से उसे वापस प्राप्त करना चाहा, तब राजा ने उसे अन्य माँस ग्रहण करने के लिए निवेदन किया। परन्तु गृद्ध ने अस्वीकार किया। राजा की आग्रहपूर्ण प्रार्थना पर गृद्ध ने यह निर्णय किया कि वह किसी प्रकार का अन्य माँस नहीं अपितु पक्षी के वजन के तुल्य माँस स्वयं राजा के शरीर से जब दिया जावेगा तब वह उसे आहारार्थ ग्रहण करेगा। राजा ने तराजू के एक पलड़े पर पक्षी को रखकर दूसरे पलड़े पर अपने शरीर का माँस काट-काटकर रखना और तौलना प्रारम्भ कर दिया परन्तु वह रहस्यमय पक्षी सदा भारी ही बना रहा। सब अङ्ग काटने के पश्चात् जब राजा ने अपना मस्तक काटकर रखना चाहा त्यों ही वे दोनों देवता अत्यन्त सन्तुष्ट एवं प्रसन्न होकर प्रकट हो गये। तत्पश्चात् राजा उनके द्वारा अनुगृहीत हुआ। देवर्षि नारद ने भी राजा की इस महान् आध्यात्मिक उपलब्धि पर हर्षित होकर उनकी प्रशंसा की। महाराज शिबि ने अपनी राजधानी की प्रजा के कल्याणार्थ अपने पुत्र की बलि दे दी। और ऋषियों ने महाराज युधिष्ठिर को बतलाया कि आपका यह पौत्र परीक्षित दानशीलता एवं आश्रय प्रदान करने में द्वितीय राजा शिबि होगा।दौष्यन्त भरत भारत के इतिहास में अनेक भरत का वर्णन है। जिसमें भगवान् श्रीराम के छोटे भाई भरत, महाराज ऋषभ के पुत्र भरत तथा राजा दुष्यन्त के पुत्र भरत बहुत प्रसिद्ध है। और ये सब सम्पूर्ण विश्व के इतिहास में सुप्रसिद्ध हैं। कुछ विद्वानों के मत से यह पृथ्वी-मण्डल भारतवर्ष के रूप में दुष्यन्त-पुत्र महाराज भरत के शासन काल के समय से प्रसिद्ध हुआ माना जाता है। परन्तु हम इस देश को महाराज ऋषभ देव के पुत्र भरत के शासन काल से प्रसिद्ध हुआ भारत वर्ष मानते है। इसके पूर्व यह देश अजनाभ वर्ष के रूप में प्रसिद्ध था। श्रीऋषभ पुत्र भरत के पवित्र शासन काल के अनन्तर यह भारत वर्ष के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

लेकिन इन सब के बावजूद महाराज दुष्यन्त के पुत्र भरत अल्प महत्वपूर्ण नही हैं। वे अत्यन्त सौन्दर्यमयी देवी शकुन्तला के पुत्र थे। वन मे इस रूपमैयी को देखकर महाराज दुष्यन्त प्रेम में पड़ गये और श्रीभरत

का गर्भाधान वहीं हो गया। परन्तु मुनि के शापवश वे अपनी इस गान्धर्व विवाह से गृहीत पत्नी को भूल ही गये और भरत वन में अकेली माता की गोद में पालित पोषित हुए। अपनी बाल्यावस्था में ही राजा भरत इतने शक्तिशाली थे कि क्रीडा पूर्वक वे वन के सिंहों एवं हाथियों को पकड़ लेते, तथा उनसे क्रीड़ा करते और उनसे मल्लयुद्ध करते थे, ठीक वैसे ही जैसे सामान्य बालक कुत्ते एवं बिल्लियों से क्रीड़ा किया करते हैं। चूंकि वे अत्यन्त शक्ति शाली थे, आजकल के तथा-कथित अजेय टॉर्जन से भी अधिक शक्तिशाली थे अतएव वनवासी ऋषियों ने उस बालक का नाम 'सर्वदमन' रख दिया। महाराज भरत का विस्तृत वर्णन महाभारत के आदि पर्व में किया गया है। कुरुवंशी या पाण्डवगण 'भारत' के नाम से सम्बोधित किये गये हैं। क्योंकि उनका जन्म दुष्यन्त पुत्र महाराज भरत के कुल में हुआ था।

[२१]

धन्विनामग्रणीरेष तुल्यश्चार्जुनयोर्द्वयोः।
हुताश इव दुर्धर्षः समुद्र इव दुस्तरः॥

धन्विनाम्=धनुषधारियों में श्रेष्ठ; अग्रणीः=अगुआ; एषः=यह बालक; तुल्य=तुल्य; (समान) च=और; द्वयोः=दोनों; अर्जुनयोः=अर्जुनों का; (कार्तवीर्य अर्जुन एवं श्रीकृष्ण सखा अर्जुन) हुताशः=अग्नि; इव=सदृश; दुर्धर्षः=दुर्धर्ष; समुद्र=समुद्र; इव=सदृश; दुस्तरः=दुर्लघ्य।

अनुवाद

महान धनुर्धारियों में यह बालक सव्यसाची अर्जुन की भाँति धनुर्धर होगा। तेज में यह अग्नि देव की भाँति दुर्धर्ष एवं गम्भीरता में यह सागर की भाँति अथाह एवं अगाध एवं दुर्लंङ्घ्य होगा।

तात्पर्य

इतिहास मे दो अर्जुन है एक तो कार्तवीर्य अर्जुन जो हैहय वश मे उत्पन्न हुए थे। तथा दूसरे बालक परीक्षित के पितामह। दोनों ही अर्जुन सारे विश्व में अति प्रसिद्ध हुए। दोनों ही महान् धनुर्धारी थे। बालक परीक्षित के सम्बन्ध में यह भविष्य वाणी की जा रही है कि वे पूर्व

कालीन उन दोनों अर्जुन के तुल्य पराक्रमी होंगे । विशिष्ट रूप से युद्ध में पाण्डव अर्जुन का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है ।

पाण्डव अर्जुन भगवद्गीता के महान् जिज्ञासु चरित्रनायक श्री अर्जुन महाराज पाण्डु के क्षेत्रज पुत्र थे । महारानी कुन्ती ने विभिन्न देवताओं का आह्वान किया तथा इन्द्र के आशीर्वाद से अर्जुन की उत्पत्ति हुई । इसलिये अर्जुन देवराजइन्द्र के अंश स्वरूप है वे फाल्गुन मास(फरवरी-मार्च) में उत्पन्न हुये । तत्क्षण ही उनका समाचार वायवीय सन्देश के माध्यम से संसार के विभिन्न प्रान्तों में विशिष्ट प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियो के पास पहुँच चुका था । देव, गन्धर्व, आदित्य, रुद्र, वसु, नाग, विभिन्न ऋषि तथा अप्सरा आदि समस्त अति मानवीय प्राणि वर्ग यह समाचार अवगत होने पर जन्म समारोह मे सम्मिलिन होने के लिए शतशृङ्ग पर्वत पर पधारे थे । हर्षित होकर अप्सराओं ने वहाँ नृत्य किया । तथा गन्धर्वो ने अपने मधुर गायन से पर्वतमाला को गुञ्जायमान कर दिया । भगवान् श्रीकृष्ण के पिता श्री वसुदेव अर्जुन के मामा थे । उन्होंने कश्यप ऋषि को अपना प्रतिनिधि चुनकर अर्जुन का जन्म संस्कार करने के लिये वहाँ भेजा । शतशृङ्ग पर्वत के ऋषिगणो के साथ उन्होंने उनका नामकरण-संस्कार भी किया । भविष्य में युवावस्था आने पर अर्जुन के चार विवाह हुये द्रौपदी, सुभद्रा, चित्राङ्गदा एव उलूपी जिनसे उन्हें चार पुत्र प्राप्त हुयें, श्रुतकीर्ति, अभिमन्यु, वभ्रुवाहन, एव दूरवान् ।

अपना विद्यार्थी जीवन उन्होंने महान् आचार्य द्रोण के चरणों में अपने अन्यात्य पाण्डव एवं कौरव बन्धुओं के साथ शिक्षा प्राप्त करने में व्यतीत किया । अध्ययन के सन्दर्भ में वे अपने समस्त सहाध्यायियों में सर्वश्रेष्ठ एवं प्रत्युत्पन्नमति थे । अतएव गुरुदेव आचार्य द्रोण धनुर्विद्या की उच्चतम शिक्षाओ को प्रदान करने के लिये अपने इस परम प्रिय शिष्य अर्जुन की ओर अति उत्सुक हो उठे । समावर्तन सस्कार के अवसर पर गुरु द्रोण ने उन्हे प्रथम श्रेणी का धनुर्विद्या-विशारद माना । एव उन्मुक्त हृदय से उन्होने उन पर कृपा आशीर्वादो की वर्षा की । उन्होंने अर्जुन को समस्त सैन्य-विज्ञान के सूक्ष्म रहस्यों में पारङ्गत किया । धनुर्विद्या के सम्बन्ध में उनकी अध्ययन अभीप्सा इतनी सुदृढ़ एव प्रवल थी कि वे रात्रि मे भी उसका अभ्यास किया करते थे । अर्जुन के समस्त गुणों को देखकर आचार्य द्रोण की बुद्धि ने श्री अर्जुन को विश्व का एक महान् योद्धा घोषित

कर दिया। उन्होंने समावर्तन संस्कार के अवसर पर निशानेवाजी की कलामे आश्चर्यजनक सफलता का प्रदर्शन कर सम्पूर्ण दर्शक वृन्द को आश्चर्यचकित कर दिया। द्रोणाचार्य उनसे अत्यन्त प्रसन्न हुए। मणिपुर त्रिपुरा का राजवश अर्जुन-पुत्र बभ्रुवाहन के उत्तराधिकारी है। अर्जुन ने अपने अद्‌भुत अस्त्र ज्ञान द्वारा मगर के आक्रमण से गुरु द्रोणाचार्य की रक्षा की। और तव आचार्य उन पर अत्यन्त प्रसन्न हुये और उन्होंने उन्हे ब्रह्मास्त्र नामक एक अति उग्र आणविक अस्त्र प्रदान किया। एक अपमान जनक-प्राचीन प्रसङ्ग को लेकर महाराज द्रुपद एव द्रोणाचार्य में वैमनस्य आ गया था। आचार्य ने इसके प्रतिशोध के लिये अर्जुन को आज्ञा दी और एक भीषण युद्ध के अनन्तर अर्जुन ने राजा द्रुपद को कैद कर गुरुदेव को सौप दिया। तव गुरुदेव ने महाराज द्रुपद के अधीनस्थ समृद्धिशाली अहिक्षत्र नगर को ग्रहण कर उन्हें छोड़ दिया। ब्रह्मास्त्र नामक आणविक अस्त्र के गुप्त रहस्यो को द्रोणाचार्य ने अर्जुन को समझाया। और अर्जुन ने उन्हें वचन दिया कि अत्यन्त आवश्यकता पड़ने पर ही इस अस्त्र को वे किसी पर निक्षिप्त करेगे।

जव कौरव व्यक्तिगत रूप से अर्जुन के शत्रु हो गये। तव इस पर आचार्य ने कुरुक्षेत्र युद्ध की भविष्य वाणी की थी। जिसमें द्रोणाचार्य स्वयं प्रतिपक्ष में हो गये थे। द्रुपद द्रोणाचार्य के द्वारा अर्जुन के माध्यम से पराजित हो चुके थे तथापि वे अर्जुन के पराक्रम से अत्यन्त प्रभावित हो चुके थे उन्होने यह निर्णय किया था कि अपनी कन्या द्रौपदी का विवाह उसके अनुरूप शौर्य वीर्य शाली नवयुवक अर्जुन के साथ करेगे। किन्तु जव उन्होने यह मिथ्या समाचार सुना कि अर्जुन दुर्योधन के षड्‌यंत्रों से निर्मित लाक्षागृह में अग्नि लग जाने से अपने पाँचों भाइयों के साथ जल गए। अतः उन्होंने द्रौपदी के अनुरूप वर की प्राप्ति के लिये एक विशिष्ट व्यवस्था की। उन्होंने एक स्तम्भ पर घूमता हुआ एक चक्र रखा।उस घूमते हुए चक्र के ऊपर मत्स्य/ एवं विवाहेच्छु वीर को नीचे वैठकर उस मत्स्य के नेत्र में वाण वेधन करना था। अर्जुन ही यह कर सकते थे। वास्तव मे यह अर्जुन की खोज के लिए ही था। वे अपने प्रयत्न मे सफल हुए। अर्जुन आये उन्होने लक्ष्यवेध कर दिया। उसके उपरान्त उन्होने अपनी कन्या अर्जुन को विवाह दी। उनके भाई समस्त भ्रातृगण उस समय दुर्योधन की दृष्टि से वचकर छद्मवेश धारण कर विचरण कर रहे थे। इस कारण अर्जुन एव उनके भ्राताओं ने द्रौपदी स्वयम्वर में ब्राह्मणों के वेष में ही भाग लिया। उस

समय एकत्रित हुए क्षत्रिय राजाओं को आश्चर्य हुआ कि एक ब्राह्मण को द्रौपदी ने वरण कर लिया है। उस समय श्रीकृष्ण ने बलराम जी के सम्मुख पाण्डवों की वास्तविकता का अनावरण किया। वे हरिद्वार में देवी उलूपी से मिले-और इस नागलोक की कन्या के प्रति वे आकृष्ट हुए और विवाह हुआ और उससे कुमार इरवान का जन्म हुआ। इसी भाँति मणिपुर के महाराज की कन्या चित्राङ्गदा से कुमार बभ्रुवाहन का जन्म हुआ। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन की सहायता के लिए एक नवीन लीला की जिसमे उनकी बहिन सुभद्रा जिसकी अगाध प्रीति अर्जुन से हो चुकी थी, के हरण की योजना थी। क्योकि बलदेव उसे दुष्ट दुर्योधन को देना चाहते थे। युधिष्ठिर भी भगवान् श्रीकृष्ण से सहमत थे और इस प्रकार सुभद्रा अर्जुन के द्वारा बलपूर्वक अपहृत हुई। इस प्रकार उन दोनों का विवाह हुआ। देवी सुभद्रा से अभिमन्यु का जन्म हुआ जो परीक्षित महाराज के पिता हुये महाभारत युद्ध में पिता के वीरगति को प्राप्त करने के पश्चात् इस बालक का जन्म हुआ। अर्जुन ने अग्निदेव को तृप्त करने के लिए खाण्डव वन में अपने तीक्ष्ण बाणों से अग्नि लगा दी। उनके इस कार्य से सन्तुष्ट होकर अग्निदेव ने उन्हे दिव्यास्त्र प्रदान किया। इस पर इन्द्र बहुत क्रुद्ध हुए। जब खाण्डव वन मे आग लग गई तो उन्होने देवताओं को अर्जुन के विरुद्ध युद्ध करने के लिए प्रोत्साहित किया। सबने आकर अर्जुन को चुनौती दी और भीषण युद्ध के उपरान्त अर्जुन से वे सब पराजित हुये। निदान, निराश होकर वे अपने स्वर्गलोक को लौट गये। अर्जुन ने उस वन मे निवास करने वाले मयासुर को पूर्ण सुरक्षा दी जिससे प्रसन्न होकर उन्होंने पाण्डव सम्राट् के लिये एक अति सुन्दर राजसभा का निर्माण किया जिसमें जल स्थलवत् एवं स्थल जलवत् प्रतीत होता था। इसके अतिरिक्त उन्होंने अर्जुन को एक बहुमूल्य शङ्ख प्रदान किया जिसका नाम देवदत्त था। इसी प्रकार उन्होने इन्द्रदेव से भी बहुत से दिव्यास्त्र प्राप्त किये लेकिन तब जब वे उनकी समस्त वीरताओं को देखकर सन्तुष्ट हो गये।

जब महाराज युधिष्ठिर मगध के राजा जरासन्ध को पराजित करने के सन्दर्भ मे चिन्तित से हो गये थे तो अर्जुन ने उन्हे सब प्रकार आश्वासन प्रदान किया। इसके पश्चात् अर्जुन, भीम एव भगवान् श्रीकृष्ण ने सम्मिलित होकर जरासध के संहार के लिए मगध को प्रस्थान किया। जब उन्होने दिग्विजयार्थ प्रस्थान किया उस समय जैसे स्वाभाविक था एक सम्राट् के लिए यज्ञ के पूर्व सम्पूर्ण विश्व को पराजित करना। दिग्विजय

करना। उससे अर्थ संग्रह करना एवं उसका उपयोग यज्ञ मे करते हुये सब कुछ ब्राह्मणों (बुद्धिजीवियों) एव प्रजाओ मे वितरित कर देना। यथा योग्य अभावग्रस्त जनता में वितरित कर देना। यही कर्तव्य होता था राजाओं का यज्ञ के द्वारा। इसी सदर्भ में जब पाण्डव दिशा विदिशाओं में दिग्विजयार्थ प्रस्थित हुये तो उन्होने कलिन्द राज्य को पराजित किया। भगदत्त के द्वारा शासित प्रदेश को विजय करने के अनन्तर उन्होने अन्तागिरि, उलुकपूर, मोदपूर आदि शक्तिशाली राज्यों में यात्रा करते हुए उन समस्त देशो को पराजित किया तथा पाण्डव शासन के अधीन रहकर भगवद्भक्ति मे सलग्न जीवन व्यतीत करने को बाध्य किया।

कभी-कभी वे तीव्र तपश्चर्या मे संलग्न होते थे। कभी-कभी उनके शौर्य वीर्य से चकित इन्द्रदेव उन्हे पुरस्कृत करने आ पधारते। एक बार भगवान् शिव उनके शौर्य वीर्य के परीक्षार्थ किरात वेश धारणकर पधारे, और एक शूकर को लेकर अर्जुन एवं किरात वेषधारी शिव के मध्य एक महान् युद्ध हुआ। उस युद्ध से सन्तुष्ट होकर भगवान् शिव ने अन्त मे अपनी वास्तविकता प्रगट कर दी और तब अर्जुन अत्यन्त विनम्र होकर उनकी प्रार्थना करने लगे। प्रसन्न होकर भगवान् शिव ने अपना पाशुपतास्त्र नामक दिव्य अस्त्र उन्हे प्रदान किया। इस प्रकार अर्जुन ने अन्य विभिन्नदेवो से विभिन्न प्रकार से विभिन्न प्रकार के महत्वपूर्ण अस्त्र-शस्त्र प्राप्त किये। उन्होने यमराज से दण्डास्त्र प्राप्त किया, वरुण से पाशास्त्र प्राप्त किया, कुबेर से अन्तर्धान विद्या तथा स्वर्गीय समृद्धि प्राप्त की। देवराज इन्द्र चाहते थे कि वे—उनकी अमरावती नगरी मे पधारे जो स्वर्ग की राजधानी है यह लोक चन्द्रलोक के भी परे है। उस लोक मे अर्जुन समस्त स्थानीय देवगणो के द्वारा अभिनन्दित हुए। और इन्द्रदेव की राजसभा मे स्वर्गीय द्रव्यो द्वारा सुसत्कृत होकर इन्द्रदेव से मिले। इन्द्रदेव ने प्रसन्न होकर न केवल अपना अमोघ वज्रास्त्र ही प्रदान किया अपितु उन्होने सैन्य विज्ञान एव सङ्गीत विज्ञान के अत्यन्त गुप्त रहस्यों से भी उन्हे शिक्षित किया। इन्द्र अर्जुन के पिता थे। और इसलिये अप्रत्यक्ष रूप से वे अर्जुन की मनस्तृप्ति का उपाय सोचकर स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ रूपसी ऊर्वशी को आधी रात मे उनके पास भेजा। स्वर्गलोक की अप्सराएं प्राय. कामोत्तेजित रहती है। और उर्वशी अर्जुन से सम्पर्क करने के लिये अति उत्सुक थी। अर्जुन अत्यन्त शौर्य वीर्य शाली परम सुन्दर व्यक्तित्व थे। उर्वशी रात्रि मे उनके आवास पर पहुँची तथा उनके समक्ष उत्तेजक हाव-भाव प्रस्तुत किया। अर्जुन ने

नेत्र बन्द कर लिये और उन्होंने उर्वशी को "माता" शब्द से सम्बोधित किया। उन्होंने कहा कि आप महाराजा पुरूरवा की अर्द्धाङ्गिनी रह चुकी हैं अतएव कुरुवंश का इतिहास तथा उसकी उच्च गरिमा आप से सम्बद्ध है आप मेरे मातृ सदृश हैं। कुन्तीदेवी के समकक्ष है। आप माता माद्री एवं इन्द्राणी शची देवी के तुल्य मेरी आराध्या है, सम्मान्या हैं। यह सुनकर उर्वशी कुंपित हो उठी तत्क्षण उन्हें शाप दे दिया कि वे नपुसक हो जायँ। स्वर्गलोक में वे महान् तपस्वी एवं महान् प्रसिद्ध चिरजीवी लोमश ऋषि से मिले और उन महामहिम के चरणों में प्रणाम कर महाराज युधिष्ठिर की मङ्गलकामना के लिए प्रार्थना की।

एक बार पाण्डवों के हितैषी गन्धर्वो ने उनके विद्वेषी एवं ईर्ष्यालु भाई दुर्योधन को पकड़ लिया तथा उसका वध कर देना चाहा। परन्तु अर्जुन ने उन्हें छोड़ देने के लिए गन्धर्वो से प्रार्थना की। किन्तु गन्धर्वों ने अस्वीकार कर दिया और इस प्रकार उन दोनों में महान् युद्ध हुआ अन्त मे दुर्योधन छोड़ दिया गया। अपने अज्ञात वास के काल में उन समस्त वन्धुओं ने छद्मवेष धारण कर राजा विराट के महल का आश्रय लिया। उस समय अर्जुन ने नपुंसक का रूप धारणकर लिया और वे विराट कन्या उत्तरा को संगीत शिक्षा देने के लिये नियुक्त किये गये थे। वहाँ वे बृहन्नला के नाम से जाने जाते थे। बृहन्नला के रूप में उन्होंने विराट के पुत्र उत्तर को सहायता करते हुए कौरवों से घोर युद्ध किया। यह युद्ध अज्ञात रूप से था। उन्होंने अपने अस्त्र-शस्त्र गुप्त रूप से शमी वृक्ष पर रख दिये ताकि वह समय पर प्राप्त किये जा सके। अन्ततोगत्वा समस्त भाइयों के परिचय का अनावरण राजा विराट एवं कौरवों के मध्य हुये उस महान् युद्ध से हो गया। और अन्त में उन्हे अर्जुन की शक्ति का माप भी हो गया और अन्त में जब कुरुक्षेत्र का महाभारत युद्ध हुआ उस समय अर्जुन ने अनेक कर्ण सदृश महान् योद्धाओं का संहार किया। कुरुक्षेत्र के युद्ध के पश्चात् उन्होने अश्वत्थामा को दंडित किया जिसने द्रौपदी के पाँचों पुत्रों की हत्या की थी तत्पश्चात् समस्त बन्धु बान्धवों के साथ वे पितामह भीष्म के समीप गए।

इन्हीं अर्जुन के ही कारण विश्व का बहुमूल्यतम दार्शनिक उपदेश भगवद्गीता महाभारत युद्ध के प्रारम्भ में भगवान् के द्वारा निगदित हुआ। कुरुक्षेत्र के मैदान में उनके महान् साहसिक कार्य कलापों का वर्णन महा-

भारत ग्रन्थ में हुआ है। वीर पिता का पुत्र सर्वथा पिता के अनुरूप वीर होता है। इस प्रकार इन्ही अर्जुन का युद्ध जब अपने ही पुत्र बभ्रुवाहन से हुआ तब वे उस मणिपुर के युद्ध के मैदान में अचेत होकर गिर पड़े। तब उनकी पत्नी उलूपी के अथक प्रयत्नो के पश्चात् उन्हे चेतना प्राप्त हुई। भगवान् श्रीकृष्ण के तिरोधान लीला के पश्चात् इन्ही अर्जुन के द्वारा भगवान् के अन्तर्धान होने का वह पीड़ादायी समाचार महाराज युधिष्ठिर को प्राप्त हुआ। द्वारका की अवशिष्ट प्रजाएँ तथा भगवान् श्रीकृष्ण की १६००० पत्नियाँ जो अत्यन्त शोकार्त हो रही थी, अर्जुन के ही द्वारा इन्द्रप्रस्थ लाई जा रही थी, जो मार्ग में आभीर रूपधारी देवताओं से पराजित होकर लूट लिये गये। अन्त मे महर्षि व्यासदेव द्वारा उन समस्त भाइयों को महाप्रस्थान की तैयारी का आदेश प्राप्त हुआ। मार्ग में अपने अस्त्र-शस्त्रो को निरुपयोगी समझकर उन्होंने उन्हे सागर में प्रवाहित कर दिया।

[२२]

मृगेन्द्र इव विक्रान्तो निषेव्यो हिमवानिव।
तितिक्षुर्वसुधेवासौ सहिष्णुः पितराविव॥

मृगेन्द्र=सिह; इव=सदृश; विक्रान्तः=शक्तिमान, निषेव्य=आश्रय लेने योग्य, हिमवान्=हिमालय पर्वत की भाँति; इव=सदृश; तितिक्षुः=तितिक्षा में; वसुधा इव=पृथ्वी के समान, असौ=यह (बालक); सहिष्णु. सहिष्णुता मे, पितरौ=माता पिता, इव=सदृश।

अनुवाद

यह बालक सिह की भाँति पराक्रमी होगा। यह शरणागतों को आश्रय देने मे हिमालय पर्वत के सदृश विशाल हृदय का व्यक्तित्व होगा। तितिक्षा में यह पृथ्वी के तुल्य तितिक्षु होगा तथा सहिष्णुता में यह माता-पिता के तुल्य सहिष्णु होगा।

तात्पर्य

शत्रु को दण्ड देने में जब कोई व्यक्ति अत्यन्त उग्रतम शक्तिशाली सिद्ध होता है। तो उसकी तुलना सिंह से की जाती है। व्यक्ति को गृह में

मेमने के सदृश शान्ति सरल होना चाहिये तथा अनैतिक व्यक्तियों को दण्ड देने में सिह की भाँति उग्र होना चाहिए। सिह कभी तुच्छ प्राणियों को भक्षण करने मे असफल नही होता। उसी भाँति राज्य का सर्वेसर्वा शासक भगवद्विमुख शत्रुओ को दण्ड देने में सिह की भाँति उग्र पराक्रमी हो। तथा जैसे हिमालय समस्त समृद्धियों एवं बहुमूल्य धातुओ के अक्षय आगार के रूप में अवस्थित है। वहाँ पर जीवधारियों के निवास के लिये अति सुखद एव शान्त गुफाएं है। फलों से लदे हुये असंख्य वृक्ष है। कोई भी व्यक्ति उनका आहार कर सकता है। तथा बहुत सुन्दर मनोरम शीतल जल के झरने निरन्तर झरते रहते है। वहाँ अनेक औषधि-लता वृक्षों के रूप में प्राप्य है। अनेक धातु की खाने है। कोई भी व्यक्ति जो सांसारिक दृष्टि से अभावग्रस्त है। आर्थिक दृष्टि से समृद्ध नही है वह वहाँ जाकर आश्रय ग्रहण कर सकता है, वहाँ किन्ही पर्वतो मे निवास कर सकता है। तथा हिमालय की इन समस्त सम्पदाओ का उपभोग भी कर सकता है। भौतिकवादी एवं अध्यात्मवादी दोनों हिमालय मे आश्रय लाभ कर सकते है। भूपृष्ठ पर भूतलवासियों के द्वारा अनेक विघ्न उपस्थित किये जा रहे है जो शान्ति भङ्ग करने वाले हैं आधुनिक काल में वे अणु अस्त्रो का परीक्षण करने लगे है तथापि यह भूदेवी इन्हें क्षमा करती आ रही है। जैसे माता अपने छोटे बालको के अपराधों को क्षमा करती है। उसी भाँति माता-पिता बालको के सभी प्रकार की त्रुटियों एवं अपराधों को क्षमा करते है एक आदर्श राजा उपरोक्त समस्त गुणों से युक्त होता है। और बालक परीक्षित के विषय में भविष्य वाणी की जा रही है कि वे राजोचित व्यक्तित्व की पूर्णता के उपरोक्त समस्त गुणों से सम्पन्न है।

[२३]

पितामहसमः साम्ये प्रसादे गिरिशोपमः।
आश्रयः सर्वभूतानां यथा देवो रमाश्रयः॥

पितामह=पितामह अथवा ब्रह्मा; सम.=सदृश; साम्ये=समता में; प्रसादे=उदारता अथवा कोई वस्तु देने में; गिरिश=भगवान् शिव; उपमः =तुल्य, आश्रयः=आश्रय; सर्व=सब; भूतानाम्=प्राणियों में, यथा= जैसे, देव.=सर्वोच्च भगवान्; रमा-आश्रयः=सर्वोच्च भगवान्।

अनुवाद

यह बालक हृदय की गम्भीरता में अपने पितामह महाराज युधिष्ठिर अथवा श्रीब्रह्मा की भाँति होगा। तथा दानशीलता एवं आन्तरिक प्रसन्नता में कैलाशपति भगवान् शिव के सदृश होगा। तथा सम्पूर्ण आश्रयान्वेषियों के लिए यह भगवती लक्ष्मी के भी परम आश्रय भगवान् नारायण की भाँति शरणागतवत्सल होगा।

तात्पर्य

आश्रित जीवों में मानसिक समत्व की दृष्टि से महाराज युधिष्ठिर एवं पितामह ब्रह्मा दोनों की कोई तुलना नही है। श्रीधर स्वामी के अनुसार पितामह ब्रह्मा ही यहाँ निर्दिष्ट हुये है। परन्तु विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की दृष्टि से परीक्षित के पितामह स्वयं महाराज युधिष्ठिर इङ्गित हुये है दोनों ही समान रूप से श्रेष्ठ है एवं भगवान् के साक्षात् प्रतिनिधि ही माने गये है। और इस प्रकार वे दोनों समस्त जीवो के कल्याण कार्य मे संलग्न रहते हुये मानसिक समता की पराकाष्ठा पर आधारित जीवन यापन करते हैं। जो सर्वश्रेष्ठ पद पर आसीन है उसे अपने अन्तर्गत कार्यरत विभिन्न व्यक्तियो के विभिन्न उचित अनुचित कार्यो को क्षमा करना पड़ता है। भगवान् श्रीकृष्ण के विशुद्ध भक्तों में अत्युच्च स्थानीया श्रीगोपीजनों के द्वारा भी ब्रह्माजी आलोचनीय हुये। श्रीगोपीजन ब्रह्मा के कार्यो से कदापि सन्तुष्ट नही थी, क्योंकि सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने समस्त व्यक्तियों की आँखों में पलके बना दिये है और ये पलक श्रीगोपीजनों के भगवद्दर्शन मे सदा विघ्न उपस्थित करती थी। पलकों के उन्मीलन निमीलन मे श्रीकृष्ण-दर्शन बाधित होता है। गोपियाँ उसे सह नही सकती थी। प्रियतम श्रीकृष्ण से वियोग कराने वाली ये पलके उन्हें परम दुष्ट प्रतीत होती थी। अतः इनके रचयिता ब्रह्मा पर वे सदा कुपित होती थी। इस प्रकार जब ब्रह्मा की भी आलोचना हो गई तो फिर अन्य सामान्य व्यक्तियों का क्या कहना जो स्वाभाविक रूप से किसी भी उत्तरदायी व्यक्ति की आलोचना किया ही करते हैं। इसी प्रकार महाराज युधिष्ठिर को बहुत से महान् षड्यन्त्रकारियों द्वारा निर्मित विभिन्न बीहड़ परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। और उन्होने प्रमाणित कर दिया कि वे मनः संतुलन की अत्युच्च अवस्था निरन्तर बनाये रखते है। अनेक उथल पुथल मचा देने वाले घटना चक्रों के मध्य भी महाराज

युधिष्ठिर का मन प्रशान्त महासागर की भांति गम्भीर एव प्रशसनीय वना रहा। इसलिए इन दोनों पितामहों के मनः साम्य की उपमा अत्यन्त श्लाघनीय है सर्वथा उपयुक्त है।

भगवान् शिव याचना करने वालों को सब कुछ दे देने के क्षेत्र में अत्यन्त प्रसिद्ध देवता है। इसलिये उनका नाम आशुतोष है। आशुतोष का अर्थ होता है जो अति शीघ्र सुगमता पूर्वक प्रसन्न हो जाता हो। वे भूतनाथ भी कहे जाते है। वे सामान्य दन्त कथाओ के चरित्र-नायक है, उनका यह नाम उनके अद्भुत, अभूतपूर्व वरदानों की कथाओं से सम्बद्ध है। भगवान् शिव किसी भी भक्त पर जब प्रसन्न हो जाते हैं तो उसे वरदान देने में वह व्यक्ति वरदान का क्या उपयोग करेगा? पश्चात् परिणाम क्या होगा? इस पर कोई विचार नही करते। जिस पर प्रसन्न होते है उसे वे मुँहमांगी वस्तु प्रदान करते है उस पर कोई सोच विचार की आवश्यकता नही होती उन्हें। इसलिए रावण की भगवान् शिव की आराधना में रुचि हुई। और उसने उन्हें ही अपना इष्टदेव स्वीकार किया। उनसे वर प्राप्त कर वह इतना अधिक उग्रतम एव शक्तिशाली हो गया कि वह भगवान् श्रीराम की सत्ता को भी चुनौती देने लगा। निश्चित ही जब वह भगवान् राम से युद्ध कर रहा था उस समय भगवान् शिव ने उसे कोई सहायता नही दी। क्योंकि वह उनसे युद्ध कर रहा था जो भगवान् शिव के भी परम पूजनीय आराध्य हैं, इष्टदेव है। भगवान् शिव ने भौमासुर को भी उसका अभीष्ट वर दिया जो न केवल उसी के लिए हानिकारक था वरन् अन्यों के लिए भी भयावह था। भौमासुर अधिक शक्तिशाली हो उठा और वह केवल किसी के मस्तक पर हाथ रखने मात्र से किसी का भी वध कर सकता था। यद्यपि भगवान् शिव के द्वारा ही उसे यह वर प्राप्त हुआ था तथापि उसने इस शक्ति का प्रयोग स्वय भगवान् शिव के मस्तक पर हाथ रखकर ही करना चाहा और इस प्रकार भगवान् शिव ने भगवान् विष्णु की शरण ली ताकि वे इस महा विपत्ति से वच सकें। और भगवान् विष्णु तत्काल वहां छद्मवेश में पधार कर अपनी विमोहिका शक्ति से भौमासुर को मोहित करते हुए से पूछने लगे कि शिव तो पागल हैं अत. उनकी वातों का कोई महत्व नही। अच्छा हो यदि तुम यह प्रयोग स्वय अपने मस्तक पर हाथ रखकर कर सको क्योंकि तव इस वात की सत्यता भी प्रमाणित हो सकेगी। वह असुर उनकी वातों से भ्रमित हो गया। उसने अपने मस्तक पर हाथ रखा और तत्काल वही समाप्त हो ".

इस प्रकार संसार उन समस्त विघ्नों से मुक्त हो गया जो इस दुष्ट वर याचक के द्वारा होने वाला था। परन्तु इस घटना से विश्व मे भगवान् शिव की दयालुता एवं हृदय की महानता का एक ज्वलन्त उदाहरण भी प्रस्तुत हो गया। इसलिए वे अत्यन्त दयामय है।

रमा का अर्थ है भाग्य की अधिदेवी। और उनके परम आश्रय है भगवान् विष्णु। भगवान् विष्णु जीवों के परम रक्षक परम आश्रय एव पालक है। असख्य जीव है। न केवल इस पृथ्वी पर अपितु अन्य हजारों ग्रहों में भी जीव है। और वे सब आवश्यक जीवन तत्वों (पोषक तत्वों) की प्राप्ति तथा आध्यात्मिक प्रगति के आवश्यक तत्वों की प्राप्ति भगवान् विष्णु से करते है। जीवों के जीवन के विकास का पर्यवसान भगवत्प्राप्ति में होता है। परन्तु जब वे इन्द्रिय तृप्ति के पथ पर आरूढ़ हो जाते है तो माया के द्वारा नयी-नयी विभिन्न विपत्तियों में पड़ जाते हैं। भ्रामिका शक्ति के भँवर जाल में पड़कर जीव आर्थिक विकास की अन्यान्य विभिन्न योजनाओ में संलग्न हो जाता है। ऐसी आर्थिक आयोजनाएँ चूकि भ्रामिका शक्ति की प्रेरणाओं से हो रही है, अतएव कभी सफल होने वाली नही है। ऐसी योजनाओं में फँसे व्यक्ति हमेशा भाग्य की अधिदेवी लक्ष्मी (धन वैभव) की बाट जोहते रहते है परन्तु वे नही जानते कि भाग्य की अधिदेवी केवल भगवान् विष्णु के आश्रय में रहती है। भगवान् विष्णु के बिना लक्ष्मी अर्थात् धन सम्पत्ति ऐश्वर्य भ्रममात्र है, धोखा है। अतएव हमे सीधे भाग्य की अधिदेवी लक्ष्मी की शरण अन्वेषण में जो मूर्खतावश स्वामित्व की भाँति प्रतीत होता है, छोड़कर भगवान् विष्णु की सुरक्षा एव शरण प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। केवल भगवान् विष्णु ही अथवा भगवान् विष्णु के भक्त ही सम्पूर्ण प्राणिमात्र को सुरक्षा प्रदान कर सकते है। और चूकि महाराज परीक्षित स्वय भगवान् विष्णु के द्वारा संरक्षित हुए थे अतः उनके लिये यह सर्वथा सम्भव तथा सुगम था कि वे राज्य की बागडोर सम्हालते हुए न केवल सम्पूर्ण राष्ट्र को अपितु सम्पूर्ण विश्व के प्राणियों को पूर्ण सुरक्षा प्रदान कर सके।

[२४]

सर्वसद्गुणमाहात्म्ये एष कृष्णमनुव्रतः।
रन्तिदेव इवोदारो ययातिरिव धार्मिकः॥

सर्व-सद्-गुण माहात्म्ये=सज्जनोचित समस्त दैवीय गुणों की सम्पन्नता में, एषः=यह (बालक); कृष्णम्=भगवान् श्रीकृष्ण सदृश; अनुव्रतः =उनके पदचिह्नों का अनुगमन करने वाला, रन्तिदेव=राजा रन्तिदेव; इव=सदृश, उदारः=उदार; ययाति=महाराज ययाति; इव=सदृश; धार्मिकः=धर्म के क्षेत्र मे।

अनुवाद

सम्पूर्ण सद्गुणो के प्राचुर्य एवं पूर्वपुरुषों के अनुवर्तन में यह बालक प्रायः श्रीकृष्ण तुल्य होगा। उदारता में यह राजा रन्तिदेव की भाँति उदार तथा महाराजा ययाति के सदृश परम धार्मिक होगा।

तात्पर्य

भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण का अन्तिम उपदेश यह है कि व्यक्ति सब कुछ परित्याग कर दे, एवं भगवान् के पदचिन्हों का अनुसरण करे। अल्पबुद्धि मनुष्य भगवान् के इस महान् उपदेश को स्वीकार नही करते। यह उनका दुर्भाग्य है। किन्तु जो वास्तविक विवेकी है वे परम लाभदायक इस महान् उपदेश को शीघ्र जीवन में सञ्चारित करते है। मूर्ख व्यक्ति नही जानते कि संसर्ग ही गुण ग्रहण का एकमात्र उपाय है। अग्नि का ससर्ग किसी वस्तु को उत्तप्त कर देता है इसी प्रकार भगवान् का सम्पर्क किसी को भी भगवान् के सदृश ही गुणों एवं सौभाग्यों से समृद्ध कर देता है। हम पूर्व कह आये हैं कि कोई भी व्यक्ति भगवान् से अन्तरङ्ग सम्बन्ध स्थापित कर ७८ प्रतिशत भगवदीय गुणों का अपने जीवन में समावेश कर सकता है। भगवान् के निर्देशों का अनुगमन उनसे सम्बन्ध स्थापित करने का मूल सूत्र है। भगवान् कोई भौतिक प्राकृत विषय नही हैं जिनकी उपस्थिति अन्य वस्तु एवं व्यक्तियों की भाँति हो सके। भगवान् सर्वत्र उपस्थित हैं, सदा उपस्थित हैं। यह बिलकुल सम्भव है कि हम उनके निर्देशो का पालन करते हुये उनकी उपस्थिति एवं समागम का लाभ प्राप्त कर सकेंगे क्योंकि भगवान् एवं उनके निर्देश तथा उनके नाम उनसे अभिन्न हैं। उनके गुण, उनकी गरिमा उनके पार्षद सब उनसे एक है क्योंकि ये समस्त अद्वय ज्ञान की लीला वैचित्री के ही प्रतिरूप हैं। महाराज परीक्षित का सम्पर्क भगवान् से तब हुआ जब वे माता के गर्भ में थे तथा उस भगवद्दर्शन का ९ ९

उनके अमूल्य जीवन के अन्तिम क्षणों तक नित्य नूतन बना रहा और इस प्रकार उन्होंने भगवान् के समस्त गुणों को अधिक से अधिक मात्रा में उपलब्ध किया।

रन्तिदेव—महाभारत काल के पूर्व होने वाले महान् राजाओं में से एक महादयालु राजा थे। महाभारत के द्रोण पर्व ६७ अध्याय में श्रीनारद मुनि ने सञ्जय को उपदेश देते हुये इनका उद्धरण दिया था। वे उदारता एव क्षुधार्तों को भोजन वितरण मे अद्वितीय स्थान रखते है। भगवान् श्रीकृष्ण नें भी उनकी दया एवं दान के लिये भूरि-भूरि प्रशंसा की है। अत्यन्त तृषार्त वशिष्ठ मुनि को शीतल जल अर्पित करने के कारण वे उन पर अति प्रसन्न हुये और इस प्रकार उन्होंने स्वर्गीय लोकों में निवास प्राप्त किया। वे ऋषिगणों को फल, मूल एवं पत्ते समर्पित करते थे और इस प्रकार वे उनसे समस्त कामना पूर्ति के वर से अत्यन्त अनुगृहीत हुये। यद्यपि वे जन्म से क्षत्रिय थे तथापि उन्होंने अपने जीवन में कभी मांसाहार नही किया। विशिष्ट रूप से उन्होने वशिष्ठ ऋषि की कृपा प्राप्त की। और उन्ही की कृपा से उन्होंने उच्चातिउच्च लोकों का निवास प्राप्त किया। वे उन महा-भागवत राजाओं में से एक है, जिनका नाम सायं प्रात. मङ्गल के लिये स्मरण किया जाता है।

ययाति—संसार के एक महान् सम्राट् एवं समस्त आर्य एवं यूरेशियन-राष्ट्रों के राजाओं के पूर्वज पुरुष है। वे महाराज नहुष के पुत्र है वे अपने बड़े भ्राता के संन्यस्त हो जाने पर राजसिंहासन के स्वामी बने। उन्होने समस्त विश्व में कई हजार वर्षो तक राज्य शासन किया और बहुत से यज्ञ-समारोहों का उद्‌घाटन किया, अनेक सदाचारपूर्ण कार्य किये जो पुराणों एवं महाभारतादि इतिहास ग्रन्थो मे प्रसिद्ध है। यद्यपि उनका प्रारम्भिक जीवन ऐन्द्रियक सुखों में आबद्ध एवं यौन कथाओं से आकीर्ण है तथापि उनका पश्चात् जीवन विवेक एव तपस्यापूर्ण है। उनका दैत्यों के गुरु शुक्राचार्य की कन्या देवयानी से प्रेम हो गया। देवयानी ने उनसे विवाह करना चाहा। किन्तु पहले उन्होने उस कन्या के ब्राह्मण होने के कारण विवाह करने से अस्वीकार किया। धर्मशास्त्रों के अनुसार ब्राह्मण को ब्राह्मण की कन्या से ही विवाह करना चाहिये। वे वर्णाश्रम संस्कार की मर्यादाओं के प्रति अत्यन्त जागरूक थे। शुक्राचार्य ने विवाह के इस वर्जित नियम में परिवर्तन किया तथा सम्राट् को देवयानी से विवाह करने को

प्रेरित किया। देवयानी की एक सहेली थी जिसका नाम शर्मिष्ठा था। घटनाचक्रों की विचित्रताओं ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी जिसमे सम्राट् उसकी प्रीति में बँध गये। शुक्राचार्य ने सम्राट् के लिये उसे अपने शयन कक्ष मे प्रवेश निषेध का आदेश दिया था। किन्तु ययाति उक्त आदेश का पालन न कर सके। वे गुप्त रूप से उनसे सम्बन्धित हो गये तथा उनसे उन्हे ३ पुत्रों की प्राप्ति हुई। ज्यों ही यह समाचार देवयानी को अवगत हुआ त्यों ही वह अत्यन्त क्रुद्ध होकर अपने पिता के पास चली गई। तथा उनसे वह बात कह दी। ययाति देवयानी से अति आसक्त थे। अत: जब वे उनके पीछे उनके पिता के समक्ष पहुँचे तब शुक्राचार्य ने कुपित होकर उसे शाप दे दिया कि वह पौरुषहीन वृद्ध हो जाय। ययाति के क्षमा प्रार्थना पर शुक्राचार्य ने शाप को हल्का करते हुये उसे आदेश दिया कि वह अपने पुत्रों से यौवन की याचना करे। यदि वे स्वीकार करेगे तो वे वृद्ध हो जायेगे तथा बदले में तुम युवक हो जाओगे उनके पाँच पुत्र थे। देवयानी से दो एव शर्मिष्ठा से तीन उनके नाम है क्रमश—यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु एवं पुरु। इनसे पाँच प्रसिद्ध राजवंशों का प्रारम्भ हुआ।

यदुवंश, यवन (तुर्क) वंश, भोजवंश, म्लेच्छ (यूनानी) वंश एव पौरव वश। कालान्तर मे ये वंश इतने व्यापक स्तर पर विकसित हुये कि सारा विश्व इनसे व्याप्त हो गया। राजा ययाति अपने सत्कर्मों से स्वर्ग पहुँचे। किन्तु किन्ही कारणों से उन्होंने महापुरुषों की आलोचना एवं आत्म प्रशंसा की जिसके परिणाम स्वरूप उनका पतन हो गया। उनके पतन से दुखी होकर उनके पौत्रों एवं कन्याओं ने उन्हें पुनः अपना पुण्य समर्पित किया। अपने पौत्रों एवं मित्र राजा शिबि की सहायता से वे पुनः स्वर्गलोक को पहुँचे। अपने राजत्वकाल में इन्होंने सहस्राधिक यज्ञ किये, प्रचुर दान दिया तथा राजाओं के मध्य अत्यन्त सम्मानित माने जाते रहे। उनका प्रताप विश्व विख्यात था उनकी यौवन याचना जब चारों भाइयो द्वारा अस्वीकृत हो गई तब अन्तिम पुत्र पुरु ने उन्हें आदर पूर्वक अपना यौवन प्रदान किया था जिसके द्वारा वे एक हजार वर्षों तक पुनः सांसारिक सुख-भोग करते रहे। अन्ततोगत्वा वे सांसारिक जीवन से विरक्त हो गये, एवं वह यौवन उन्होंने पुनः पुरु को वापस कर दिया। और उस पर प्रसन्न होकर उन्होने पुरु को राज्याभिषिक्त किया एवं राज्य परिवार आदि का त्याग कर वानप्रस्थ आश्रम स्वीकार कर वन को चले गये।

[२५]

धृत्या बलिसमः कृष्णे प्रह्लाद इव सद्ग्रहः ।
आहर्तैषोऽश्वमेधानां वृद्धानां पर्युपासकः ॥

धृत्या=धैर्य; बलिसमः=महाराज बलि के सदृश, कृष्णेः=भगवान् श्रीकृष्ण में, प्रह्लाद=प्रह्लाद महाराज, इव=के सदृश, सद्ग्रह=गूढ़ प्रेम; आहर्ता=करने वालों में, एष=यह बालक; अश्वमेधानाम्=अश्वमेध यज्ञों का, वृद्धानाम्=अनुभवी वयोवृद्धो का, पर्युपासकः=अनुयायी ।

अनुवाद

यह बालक धैर्य में महाराज बलि की भाँति होगा । श्रीकृष्ण भक्ति में यह प्रह्लाद महाराज की भाँति अनन्य एवं दृढ़ होगा । यह बालक ज्ञान-वृद्धों एवं अनुभवियों का अनुगामी होगा तथा कई अश्वमेध यज्ञ करेगा ।

तात्पर्य

बलि महाराज— ये द्वादश महाभागवतों मे से एक है । बलि महाराज भक्ति पथ के एक महान् प्रामाणिक व्यक्तित्व है । क्योंकि उन्होने भगवान् की प्रसन्नतार्थ अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया, यहाँ तक कि भगवदर्पण के विरुद्ध सुझाव देने वाले अपने गुरु से भी उन्होंने सम्बन्ध विच्छेद कर लिया । धार्मिक जीवन की सर्वोपरि परिपूर्णता यही है कि हम चेतना के उस धरातल पर अवस्थित हो जायँ जहाँ अपने कर्म एवं चित्त की वृत्तियों से अविच्छिन्न भगवत्सेवा चलती रहे । तथा वह अकारण हो । अहैतुकी हो । एवं संसार का कोई भी उत्तरदायित्व उसमे व्यवधान उत्पन्न न कर सके । बलि महाराज ने अन्तिम निर्णय ले लिया था. कि वे सम्पूर्ण पदार्थ, भगवत्सन्तुष्टि के लिए न्यौछावर कर देंगे और उन्होने आने वाली अनेक बाधाओ की कोई चिन्ता न की । वे प्रह्लाद महाराज के पौत्र है, जो कि भगवान् के एक अन्यतम प्रामाणिक भक्त हैं । बलि महाराज एवं विष्णु वामनदेव के साथ हुई उनकी भेट वार्तालाप का इतिहास श्रीमद्भागवत (८।११-२४) में वर्णित हुआ है ।

प्रह्लाद महाराज— भगवान् श्रीकृष्ण (विष्णु) के एक पूर्ण भक्त हैं। जब उनकी उम्र केवल पाँच वर्ष की थी तब उनके पिता हिरण्यकशिपु ने उनकी विष्णु भक्ति के कारण उन्हें अनेक उग्र दण्ड दिये। उनकी माता का नाम कयाधू था। प्रह्लाद महाराज भक्ति के एक अत्यन्त प्रामाणिक व्यक्तित्व हैं क्योंकि भगवान् नृसिंहदेव के द्वारा उनके पिता का संहार हुआ। इससे संसार के समक्ष यह आदर्श प्रस्तुत हुआ कि यदि पिता भी भगवद्भक्ति के पथ पर बाधा उपस्थित करे तो वह भी भगवत्सेवा के मार्ग से हटाया जा सकता है। प्रह्लाद महाराज के चार पुत्र थे उनमें से प्रथम पुत्र का नाम विरोचन था जो बलि महाराज के पिता थे। प्रह्लाद महाराज के कार्य कलापो का इतिहास श्रीमद्भागवत (स्कन्ध ७) में वर्णित हुआ है।

[२६]

राजर्षीणां जनयिता शास्ता चोत्पथगामिनाम्।
निग्रहीता कलेरेष भुवो धर्मस्य कारणात्॥

राज-ऋषीणाम्=राज्य करते हुए भी ऋषिवत् व्यक्तित्व रखने वालों मे; जनयिता=उत्पन्न करने वाला, शास्ता=शासन करने वाला, च=और; उत्पथगामिनाम्=उपद्रव करने वालों को; निग्रहीता=दमन करने वाला, कलेः=उपद्रवकारी कलियुग; एषः=यह; भुवः=पृथ्वी का; धर्मस्य=धर्म का; कारणात्=कारण से।

अनुवाद

यह बालक सदाचारी राजाओं के मध्य उनके पितातुल्य होगा। तथा यह धर्म की रक्षा एवं विश्व शान्ति के लिए अनाचारियों एवं कलहकारियों को दण्डित करने में नितान्त उग्र स्वभाव वाला होगा।

तात्पर्य

संसार का सर्वश्रेष्ठ बुद्धिमान व्यक्ति वह है जिसने भगवान् की अनन्य भक्ति का व्रत ले रखा है। इसलिए ऋषि एवं संत बुद्धिमान हैं। समस्त बुद्धिमान लोगों को ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के आधार पर पांच

भागों मे वर्गीकृत किया जा सकता है। इसलिए जब तक राजा अथवा शासन सूत्र का संचालक परम बुद्धिमान व्यक्ति न हो तब तक वह राज्य के विभिन्न प्रकार के बुद्धिमान व्यक्तियों को नियन्त्रित नही कर सकता। महाराज युधिष्ठिर के पूर्व उनके राजवश में निरपवाद रूप से समस्त राजागण अपने समय के परम बुद्धिशाली व्यक्तित्व रहे आये। तथा यही भविष्यवाणी बालक परीक्षित के लिये भी की जा रही है। राजा जनमेजय भी इन्ही गुणों वाला होगा जिसका जन्म भविष्य में होने वाला है। ऐसे बुद्धिशाली राजागण कलियुगी दुर्गुणों के निराकरण एव कलियुग के उन्मूलन के लिए अत्यन्त दृढ होते है। यह बात भविष्य के अध्यायों मे स्पष्ट होगी कि महाराजा परीक्षित ने उस मूर्तरूप कलि को भी दण्डित किया जो उस गाय की हत्या करने का प्रयास कर रहा था जो शान्ति एवं धर्म का प्रतीक है। कलि के चार लक्षण है—

मदिरा, नारी, द्यूत तथा हिंसा। राज्य के बुद्धिमान शासकों को महाराजा परीक्षित से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि राष्ट्र मे शान्ति एव नैतिक भावनाओं की रक्षा के लिये मद्यपान, व्यभिचार, द्यूतक्रीड़ा एव मांसाहार में आसक्त मनुष्यों का दमन करे सर्वप्रथम उन पर नियन्त्रण स्थापित करे। इस कलियुग मे तो कलह के इन विभिन्न प्रसाधनों का उपयोग करने के लिए विशेष आदेश-पत्र क्रय किये जाते है। तब राज्य मे शान्ति एवं सुव्यवस्था कैसे स्थापित हो सकेगी? इन समस्त कारणों पर विचार करते हुए राष्ट्र पिताओं को अवश्यमेव भगवद्भक्ति के निगूढ़ भावों से अपनी मति को आप्यायित कर सुमतिवान अर्थात् बुद्धिमान बनना चाहिये। अनुशासन भङ्ग करने वाले को दण्डित करके कलह-प्रसाधनों का उन्मूलन करते हुए हम निश्चित ही अपनी चेतना में भगवद्भक्ति का आविर्भाव कर पाएंगे। यदि हम अग्नि प्रज्वलित करना चाहते हैं तो अवश्यमेव हमें शुष्क काष्ठ अपेक्षित है। अग्नि प्रज्वलन एवं भीगे ईंधन परस्पर विरुद्ध है। राष्ट्र में शान्ति एवं नैतिकता महाराज परीक्षित एवं उनके अनुयायियो के अनुगमन से समृद्ध हो सकती है अन्य कोई उपाय नही है।

[२७]

तक्षकादात्मनो मृत्यु द्विजपुत्रोपसर्जितात्।
प्रपत्स्यत उपश्रुत्य मुक्तसङ्गः पदं हरेः॥

तक्षकात्=सर्पराज तक्षक के द्वारा; आत्मनः=अपना; मृत्युम्=मृत्यु; द्विजपुत्र=ब्राह्मण पुत्र; उपसर्जितात्=भेजे गये; उपश्रुत्य=सुनकर; मुक्त-सङ्ग=समस्त आसक्तियों से मुक्त; प्रपत्स्यत=आश्रय ग्रहण करेगा; पदम्=स्थिति; हरेः=भगवान् का।

अनुवाद

ब्राह्मण पुत्र द्वारा प्रेषित तक्षक नाग के दंश से अपनी मृत्यु का समाचार श्रवण कर यह बालक समस्त प्राकृत आसक्तियों से स्वयं को मुक्त कर लेगा। एवं सर्वात्मभावेन भगवान् श्रीकृष्ण का आश्रय ग्रहण कर सर्वदा के लिए सर्वथा उन्ही को समर्पित हो जायगा।

तात्पर्य

भौतिक आसक्ति एव भगवच्चरणारविन्दों में सर्वस्व समर्पण परस्पर विरुद्ध हैं। भौतिक आसक्ति का अर्थ है भगवान् का आश्रय लेने पर प्राप्त होने वाले अद्भुत दिव्य सुख से अपरिचित रह जाना। भौतिक जगत् में निवास करते हुए भगवान् की प्रेममयी सेवा करना ही भगवान् के प्रति अपने दिव्य सम्वन्ध के आविष्कार करने का एकमात्र मार्ग है। जव यह परिपक्व हो जाना है तव व्यक्ति सम्पूर्ण आसक्तियों से छूट जाता है। एव भगवद्धाम की प्राप्ति करता है। महाराजा परीक्षित माता के गर्भ से ही विशिष्ट रूप से भगवान् से सम्बद्ध थे अत. वे सतत भगवान् के संरक्षण के अन्तर्गत थे और इसीलिये ब्राह्मण पुत्र द्वारा प्रेषित सात दिवस पश्चात् मृत्यु का शाप उनके लिए वरदान ही सिद्ध हुआ क्योंकि वे भगवद्धाम गमन की पूर्व तैयारी कर सके। चूंकि वे निरन्तर भगवान् के द्वारा रक्षित रहे आये थे वे भगवत्कृपा से सुगमतापूर्वक ऐसे शाप के प्रभाव को निष्फल कर सकते थे तथापि उन्होंने ऐसा नही किया क्योंकि इससे किसी भी आध्यात्मिक लाभ की सम्भावना न थी। उन्होने इस अभिशाप का भी सदुपयोग किया। सात दिनों तक लगातार उपयुक्त पात्र से श्रीमद्भागवत की कथा का श्रवण करते रहे। और इस प्रकार इस शाप को सुअवसर व [illegible] ोंने भगवच्चरणों का सदा-सदा के लिए आश्रय ग्रहण कर लिया।

[२८]

जिज्ञासितात्मयाथार्थ्यो मुनेर्व्याससुतादसौ ।
हित्वेदं नृप गङ्गायां यास्यत्यद्धाकुतोभयम् ॥

जिज्ञासिता=जिज्ञासा करते हुए; आत्म-याथार्थ्यः=आत्मा के यथार्थ ज्ञान का, मुनेः=मुनि से, व्यास-सुतात्=महर्षि-व्यास के पुत्र से, असौ=वे, हित्वा=त्याग कर; इदम्=इस (भौतिक आसक्ति) को; नृप=हे महाराज, गङ्गायाम्=गङ्गा के तट पर, यास्यति=जावेगा, अद्धा=प्रत्यक्ष रूपेण, अकुत.-भयम्=अभयपद को।

अनुवाद

यह बालक जीवन की सन्ध्या-वेला में व्यासदेव के महान् दार्शनिक पुत्र से आत्मज्ञान की जिज्ञासा करेगा। तत्पश्चात् सम्पूर्ण भौतिक आसक्तियों का परित्याग कर यह जीवन का अभयपद प्राप्त करेगा।

टीका

भौतिक ज्ञान का अर्थ है आत्मज्ञान से अनभिज्ञता। दर्शन का अर्थ है इस आत्मज्ञान रूपी सच्चे ज्ञान का अन्वेषण। बिना आत्मज्ञान, कोरा दर्शन नितान्त शुष्क तर्क वितर्क मात्र है और इस प्रकार उसमे सलग्न होना केवल समय एव शक्ति नष्ट करना है। श्रीमद्भागवत आत्मज्ञान का वास्तविक सूत्र प्रदान करता है और इसीलिए उसके श्रवण से कोई भी व्यक्ति भौतिक आसक्तियो से मुक्त होकर अभयपद को प्राप्त कर सकता है। यह भौतिक जगत् ही भयप्रद है, भयावह है। इसमे निवास करने वाले निरन्तर वैसे ही भयभीत बने रहते है जैसे कारागार मे कैदी। कारागार मे कोई भी कैदी वहाँ के नियमों की अवहेलना नही कर सकता। नियमो के उल्लङ्घन का अर्थ होगा कैदी जीवन का लम्बायमान रूप। इसी प्रकार हम भी इस भौतिक जगत् मे सदा भयभीत रहते है। जीवन के सभी प्रकारो एव सभी योनियों मे जीव नाना प्रकार की चिन्ताओ से ग्रस्त एव त्रस्त है। इसका कारण है प्रकृति के नियमो को तोडना, इस निरतर छाये हुए चिन्ता जाल से मुक्त होना ही मुक्ति है। यह केवल तभी सम्भव है जब चिन्ताएँ भगवान् की प्रेममयी सेवा मे परिवर्तित हो जाये। श्रीमद्भागवत पदार्थ से आत्मा मे चिन्ता के मूल्यो का परिवर्तन कर हमे आश्चर्यजनक परिवर्तन का सुअवसर प्रदान करता है। और यह

श्रीमद्भागवत पदार्थ से आत्मा में चिन्ता के मूल्यो का परिवर्तन कर हमें इस आश्चर्यजनक परिवर्तन का सुअवसर प्रदान करता है। और यह व्यासात्मज महान् दार्शनिक आत्मज्ञानी श्रीशुकदेव गोस्वामी के सान्निध्य मे ही घटित हो सकता है। महाराजा परीक्षित ने जब अपनी भावी मृत्यु का समाचार पाया तब शुकदेव गोस्वामी के सान्निध्य का सुअवसर प्राप्तकर अभीष्ट लाभ प्राप्त किया।

श्रीमद्भागवत श्रवण की इस घटना का आज भी अनुकरण किया जाता है। किन्तु व्यावसायिक होते है वक्ता। एवं मूर्ख होते है श्रोता। और वे सोचते है कि ऐसा करके वे भी भवजाल से मुक्त हो अभयपद प्राप्त कर लेगे। श्रीमद्भागवत श्रवण का ऐसा अनुकरण इस पवित्र ग्रन्थ का केवल उपहास करना है। इस प्रकार हास्यास्पद लोभी व्यक्तियों द्वारा भौतिक सुख साधनार्थ सम्पन्न होने वाले तथाकथित भागवत-सप्ताह से किसी भक्त को भ्रमित नही होना चाहिए।

[२९]

इति राज्ञ उपादिश्य विप्रा जातककोविदाः।
लब्धापचितयः सर्वे प्रतिजग्मुः स्वकान् गृहान् ॥

इति=ऐसा; राज्ञे=राजा को; उपादिश्य=उपदेश कर; विप्रा= वेदों के पारगामी विद्वानों ने; जातक-कोविदा.=ज्योतिष एव जात कर्म संस्कार कराने में कुशल ब्राह्मणगण; लब्धा-अपचितयः=पर्याप्त दक्षिणा प्राप्त कर , सर्वे=वे सब; प्रतिजग्मुः=वापस चले गये; स्वकान्=अपने, गृहान्=घरों को।

अनुवाद

इस प्रकार ज्योतिष शास्त्र एवं जात-कर्म संस्कार के विशेषज्ञ विद्वानों ने महाराज युधिष्ठिर को उनके नवजात पौत्र के भविष्य मे होने वाली घटनाओं की सूचना दी। इसके पश्चात् उन्होंने बहुमूल्य द्रव्यों का दान स्वीकार कर अपने-अपने गृहों को लौट गये।

तात्पर्य

वेद आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक दोनों प्रकार के ज्ञान के अक्षय

भण्डार है। दूसरे शब्दों मे वेद सभ्य मानव के सम्पूर्ण क्षेत्रों का मुख्य मार्ग दर्शन करते है, क्योंकि मानव-जीवन सम्पूर्ण भौतिक दु.खों से छुटकारा पाने का एक सुअवसर है, अतः अवश्यमेव हमें वैदिक ज्ञान के द्वारा अभीष्ट मार्ग दर्शन उपलब्ध करना चाहिए। भौतिक उपलब्धियो के लिए एवं आध्यात्मिक परम शान्ति के लिए वेद बहुमूल्यतम प्रेरणा प्रदान करते है। बुद्धिजीवी वर्ग के विशिष्ट व्यक्ति जो वैदिक ज्ञान में निष्णात होते है वे विप्र कहलाते है। वे वैदिक ज्ञान के स्नातकोत्तर शिक्षा प्राप्त व्यक्ति होते है। वेद की बहुत-सी शाखाये है इनमे से ज्योतिष एव चिकित्सा-विज्ञान सामान्य मनुष्यों के लिए दो अत्यन्त आवश्यक एवं महत्वपूर्ण विषय है। अत बुद्धिजीवी वर्ग के व्यक्ति जो प्राय: ब्राह्मण कहलाते है समाज के मार्ग-दर्शन के लिए वैदिक ज्ञान की इन दोनों शाखाओं मे पारङ्गत होते थे। वेद में सैन्य विज्ञान का भी वर्णन है जो धनुर्वेद के नाम से प्रसिद्ध है तथा सम्मानित विप्र इस विषय का भी ज्ञान प्राप्त करते थे, क्योकि क्षत्रियों को सुशिक्षित करना उनका ही कर्तव्य एव धर्म होता था। इस विषय में आचार्य द्रोण एव आचार्य कृप आदि आदर्श उदाहरण है। यहाँ 'विप्र' शब्द का उपयोग महत्वपूर्ण है। विप्र एव ब्राह्मण में तनिक अन्तर है।

विप्र वे है जो सकाम कर्मो अथवा कर्मकाण्डों के सम्पादन मे कुशल है तथा समाज को उसकी भौतिक आवश्यकताओं के पूर्ति की दिशा मे मार्गदर्शन करते है। जबकि ब्राह्मण विशुद्ध अप्राकृत कृष्णतत्व विज्ञान मे कुशल एक भक्त होते है। ज्ञान का क्षेत्र वेदों मे ज्ञानकाण्ड के रूप मे प्रसिद्ध है। ज्ञान के द्वारा चेतना की अत्यन्त परिष्कृत भूमिका मे भाव का स्फुरण होता है। और जीव सहज भाव से भगवान् विष्णु के पादपद्मो से प्रेममयी सेवा के सूत्र से सयुक्त हो जाता है। उनके श्रीचरणो मे प्रेम भक्ति से आवद्ध ब्राह्मण चेतना की उच्चतम भूमिकाओ को पार करता हुआ जब सर्वथा परिपूर्ण अवस्था प्राप्त करता है, तब वह वैष्णव कहलाता है। सम्पूर्ण अर्चन-विधियों में श्रीविष्णु-अर्चन श्रेष्ठतम है। तथा अत्युच्च भावभूमिका पर आरूढ ब्राह्मण मन-वचन-कर्म से निरन्तर भगवान् की अप्राकृत प्रेममयी सेवा में संलग्न रहता है। और इसीलिए यह श्रीमद्भागवत चूंकि प्रेममयी सेवा के विज्ञान का वर्णन करता है अतः वैष्णवों को परम प्रिय है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही यह निदर्शित हुआ है कि यह श्रीमद्भागवत ग्रन्थ वैदिक ज्ञान रूपी कल्पवृक्ष का परिपक्व फल है. अतः इसकी विषयवस्तु वेदानुवर्णित कर्म, ज्ञान, उपासना आदि अन्य तीन काण्डों से श्रेष्ठतर है।

कर्मकाण्ड में निष्णात विप्रों के मध्य जातक कोविद विप्र श्रेष्ठ ज्योतिषी होते हैं। वे केवल समय एवं आकाश स्थित ग्रहो की विभिन्न स्थितियो का सर्वेक्षण कर जन्म लेने वाले जीव के भविष्य का इतिहास यथावत् बतला देते है। और इस प्रकार के जातक कोविद विप्र, महाराज परीक्षित के जन्मकाल में सम्मान पूर्वक निमन्त्रित किये गये थे। उनके पितामह महाराज युधिष्ठिर ने ऐसे विप्रों को प्रचुर स्वर्ण, भूमि, ग्राम, अन्न एव अन्यान्य जीवन-यापनोपयोगी सामग्रियाँ दान की। और इन दान की विविध सामग्रियों में गाय का एक अनिवार्य एवं महत्वपूर्ण स्थान था। वर्तमान समाज संरचना में ऐसे विप्रों की बडी आवश्यकता है। तथा शासन सत्ता के मूर्द्धन्य नायकों का यह पुनीत कर्तव्य है कि वे ऐसे विप्रों को वैदिक संस्कृति के अनुसार शासन की ओर से न्यायोचित आजीविका एव सेवा प्रदान करे तथा प्रत्येक उत्सवों पर उनको दान-मान से सन्तुष्ट करे।

जब ऐसे विद्वान विप्र शासन की ओर से सम्मानित किये जायेंगे तब वे जीविकोपार्जन के तुच्छ एव समय नष्ट करने वाले कार्यों से मुक्त होकर स्वेच्छापूर्वक समाज के उत्थान के लिए कटिबद्ध होंगे तथा विश्व के समस्त ऐन्द्रियक एवं अतीन्द्रिय विज्ञान एव दर्शन आदि समस्त ज्ञान के चरम उत्स वैदिक ज्ञान जन-जन के जीवन में सुप्राप्य हो सकेगा।

[३०]

स एष लोके विख्यातः परीक्षिदिति यत्प्रभुः।
पूर्वन् दृष्टमनुध्यायन् परीक्षेत नरेष्विह॥

सः=वह; एष.=इसमें; लोके=विश्व में, विख्यातः=प्रसिद्ध, परीक्षित=जो परीक्षा करता है; इति=ऐसा; यत्=क्या, प्रभुः=हे मेरे महाराज, पूर्वन्=पहिले के; दृष्टम्=देखा हुआ; अनुध्यायन्=निरन्तर चिन्तन करता हुआ; परीक्षेत्=परीक्षण किया करेगा; नरेषु=प्रत्येक व्यक्ति मे; इह=यहाँ।

अनुवाद

यह पुत्र सम्पूर्ण जगत में परीक्षित (परीक्षक) नाम से विख्यात होगा। क्योंकि यह समस्त आगन्तुकों मे उस परम सौन्दर्यशाली भगवान् का

अन्वेषण करता रहेगा, जिनका दर्शन इसने जन्म के पूर्व अपनी माता गर्भ में किया था। इस प्रकार यह सदा उनके चारु-चिन्तन मे सतत नि रहेगा।

तात्पर्य

महाराज परीक्षित अति सौभाग्यशाली थे। क्योंकि उन्होने भगव की अनुपम माधुरी का दर्शन तब प्राप्त किया, जब वे अपनी माता के मे निवास कर रहे थे। उन्होने एक दिन देखा कि एक तीक्ष्ण अग्नि-ज्वा उनके निकट दौड़ी आयी तथा उन्हें जलाकर भस्म करने ही वाली थी एक महामनोहर श्यामल छबि न जाने कहाँ से आयी और उस ज्वाला समाप्त कर उनकी रक्षा करने लगी। और परीक्षित उन सौन्दर्यधाम देखते रहे, उन्ही को सोचते रहे। जिनके मन गगन में वह ज्योति एकबार झिलमिला जाती है, वह भक्त कभी भी किसी भी परिस्थिति में उसे विस करने में असमर्थ हो जाता है। बालक परीक्षित अपनी माता के गर्भ बाहर आने के बाद एक नये व्यसन से, एक नई आदत से बँध गये। ज के अनन्तर जो भी व्यक्ति उनके समक्ष आता वे उसकी परीक्षा करते कि शायद ये वही महानुभाव तो नही है, जिन्होंने मुझे गर्भ में दर्शन दिया ये महाशय वही तो नही जिन्होने उस समय मेरी रक्षा की थी? प चूंकि भगवान् के तुल्य इस जगत में कोई भी नहीं है इसलिए वे किसी आगन्तुक को पूर्वदृष्ट अपने परम रक्षक भगवान् के सदृश न देख सके। प उनके स्मरण चिन्तन मे निरन्तर विलीन रहा करते थे। और इस प्र महाराजा युधिष्ठिर भगवान् की परम प्रेममयी सेवा में स्मरण भक्ति के द्व संलग्न हो गये।

इस सन्दर्भ में श्रील् जीव गोस्वामी निर्देश करते है कि प्रत्येक बा यदि बाल्यकाल से ही भगवान् के नाम एवं रूप से परिचित हो जाय, निश्चित ही वह महाराजा परीक्षित की भाँति महान् भक्त बन सकेग यद्यपि वह शत प्रतिशत महाराजा -परीक्षित की भाँति सौभाग्यशाली न हो सकेगा। जिन्होने भगवान् का दर्शन माता के गर्भ में ही प्राप्तकर लि था। निश्चित ही सामान्य बालक ऐसा सौभाग्यशाली नही हो सक तथापि वे एक निश्चित मात्रा में सौभाग्यशाली बनाये जा सकते हैं य माता-पिता अपने बालकों को ऐसा बनाना चाहें तो बहुत सम्भावना वे ऋषि प्रशंसित शास्त्रोक्त दृष्टि से सौभाग्यशाली बनाये जा सकते है इस सन्दर्भ में उदाहरण स्वरूप मेरे व्यक्तिगत जीवन की एक प्रत्यक्ष घट

है। मेरे पिता भगवान् के एक विशुद्ध भक्त थे और जब मै केवल चार या पाँच वर्ष का बालक था, मेरे पिता ने मुझे श्रीराधा-कृष्ण की एक युगल प्रतिमा प्रदान की। मैं अपनी छोटी बहिन के साथ क्रीडा पूर्वक उस सुन्दर विग्रह की पूजा किया करता था। और पूजा करने में मैं निकटवर्ती श्रीराधागोविन्द के मन्दिर में होने वाली पूजा का अनुकरण किया करता था। मन्दिर के दर्शन एवं वहाँ होने वाले पूजन कार्यक्रम के बारम्बार अनुकरण से मेरे हृदय में भगवान् से एक प्रगाढ़ प्रीति का सम्बन्ध स्थापित हो गया। मेरे पिता मेरे भगवत्सम्बन्धी क्रीड़ाओ को भगवल्लीला सम्बन्धित कौतूहल कार्यक्रमों को देखते थे और मन ही मन प्रसन्न होते थे। कालान्तर में मेरे ये कार्यक्रम महा विद्यालय की शिक्षा प्राप्त करने मे व्यस्त हो जाने के कारण स्थगित हो गया। कालान्तर मे मेरा वह अभ्यास विस्मृत हो गया। युवावस्था आने पर जब हमारा अपने धर्मगुरु श्री श्रीमद्भक्ति-सिद्धान्त गोस्वामी महाराज से साक्षात्कार हुआ। तब पुनः यह पुरानी अभिरुचि तीव्र संवेग पूर्वक जाग्रत हो गई तथा मेरे क्रीडा के वे ही अर्चाविग्रह फिर से मेरे आराधनीय देव बने। तथा मैं नियमित पूजा करने लगा। जब तक मैं गृहस्थ आश्रम मे रहा, तब तक यह नियम अखण्ड रूप से चलता रहा। अब मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ कि बाल्यावस्था में मेरे दयालु एवं कृपामय पिता ने भगवान् के विशुद्ध प्रेम की प्रथम छाप मेरे हृदय पर अङ्कित की। और जब मैं अपने गुरुदेव से मिला तो वह पुन. नवीनतम प्रखरतम होकर जाग्रत हो गया। महाराज प्रह्लाद अपनी माता के गर्भ मे ऐसे ही गूढ़गहन भगवत्-सम्बन्ध से पुरस्कृत हुए थे। श्रीनारददेव ने उन पर महान् कृपा की। उनकी कृपा ही प्रह्लाद के जीवन मे पुष्पित एव पल्लवित हुई, जिसको अन्तिम स्पर्श देने के लिए परिपूर्णता प्रदान करने के लिए साक्षात् भगवान् ही स्वयं श्रीनृसिंह के रूप में पधारे। इस प्रकार बालक के जीवन में प्रथम संस्कार एक अमिट छाप बन जाती है। अन्यथा यह मानव जीवन का सुअवसर जो यद्यपि अस्थाई है, क्षणभंगुर है, तथापि बहुत मूल्यवान् है, परन्तु व्यर्थ चला जाता है।

[३१]

स राजपुत्रो ववृधे आशु शुक्ल इवोडुपः।
आपूर्यमाणः पितृभिःकाष्ठाभिरिव सोऽन्वहम् ॥

सः=वह; राजपुत्रः=राजकुमार; ववृधे=बढने लगे; आशु=शीघ्र,

शुक्ल=शुक्ल पक्ष के; इव=सदृश; उडुप: चन्द्रमा; आपूर्यमाण:=विला-सिता पूर्वक, पितृभि:=पितामह आदि अभिभावकों द्वारा, काष्ठाभि:= आंशिक रूप से अभिवृद्ध; इव=सदृश, स:=वह; अन्वहम्=दिन प्रतिदिन।

अनुवाद

जिस प्रकार चन्द्रमा शुक्लपक्ष मे दिन-प्रति-दिन विकसित होता जाता है, उसी प्रकार राजकुमार परीक्षित अपने पितामहो तथा अन्य सुहृदो के मध्य अत्यन्त सुख सुविधाओ के मध्य पलने लगे। विकसित होने लगे, उनका जीवन अभिवर्धित एवं परिपक्व होने लगा।

[३२]

यक्ष्यमाणोऽश्वमेधेन ज्ञातिद्रोहजिहासया।
राजालब्धधनो दध्यौनान्यत्र करदण्डयोः॥

यक्ष्यमाण·=करने का विचार करते है; अश्वमेधेन=अश्वमेध यज्ञ; ज्ञाति-द्रोह=अपने सम्बन्धियों के संहार करने के कारण, उत्पन्न हुए असन्तोष; जिहासया=उससे मुक्त होने के लिए, राजा=राजा युधिष्ठिर, लब्धधन:=धन प्राप्त करने के लिए; दध्यौ=विचार किया, न अन्यत्र= अन्यत्र नही, कर-दण्डयो:=लगान एवं अर्थ दण्ड।

अनुवाद

इसके अनन्तर राजा युधिष्ठिर महाभारत युद्ध में अपने सुहृद सम्वन्धियों के सहार का प्रायश्चित करने के लिए अश्वमेध यज्ञ की आयो-जना का विचार करने लगे। परन्तु जब उन्होंने देखा कि उनके पास कर एवं राज्य से प्राप्त होने वाली निश्चित आय के अतिरिक्त प्रचुर एव पर्याप्त धन का अभाव है तब वे चिन्तित हो गये।

तात्पर्य

जैसे ब्राह्मण विप्र आदि बुद्धिजीवी वर्ग को राज्य की ओर से पालित-पोपित होने का अधिकार है, उसी प्रकार राज्य को भी नागरिकों से

कर एवं नियमोल्लङ्घन के फलस्वरूप दण्ड के रूप में अर्थ ग्रहण करने का अधिकार है। कुरुक्षेत्र के महान् युद्ध के पश्चात् राज्य का कोष क्षीणप्राय हो चला था। और इसलिये कोष में अतिरिक्त धनराशि नही बच रही थी। उक्त धनराशि केवल राज्य के सञ्चालन के लिए तो पर्याप्त थी परन्तु यज्ञ सम्भार के लिये वह अत्यल्प थी। अतएव महाराज युधिष्ठिर अश्वमेध यज्ञ के लिये पर्याप्त धनराशि की उपलब्धि के लिये चिन्तित हो उठे। उन्होंने चाहा कि भीष्मदेव के निर्देशों के अनुसार हमारा यज्ञ अवश्य सम्पन्न होना चाहिए।

[३३]

तदभिप्रेतमालक्ष्य भ्रातरोऽच्युतचोदिताः।
धनं प्रहीणमाजह्रुरुदीच्यां दिशि भूरिशः॥

तत्=उसका; अभिप्रेतम्=अभिप्राय; आलक्ष्य=देखकर अवगतकर; भ्रातरः=अपने भाई, अच्युत=अच्युत (भगवान् श्रीकृष्ण) द्वारा; चोदिताः प्रेरित होकर; धनम्=धन; प्रहीणम्=संग्रह कर; आजह्रुः=लाया; उदीच्याम्=उत्तर, दिशि=दिशा, भूरिशः=पर्याप्त।

अनुवाद

अपने ज्येष्ठ भ्राता के हृदय की भावनाओं को समझकर उनके भाईयों ने भगवान् श्रीकृष्ण से प्रेरणा प्राप्तकर उत्तर दिशा मे राजा मरुत्त के द्वारा निक्षिप्त विशाल धनराशि को ग्रहण किया।

तात्पर्य

महाराज मरुत्त संसार के एक महान्तम-सम्राट् थे। वे महाराज युधिष्ठिर से सदियों पूर्व इस जगत् मे शासन करते थे। वे महाराज अवीक्षित के पुत्र तथा सूर्यपुत्र यमराज के अनन्य भक्त थे। वे संवर्त के भ्राता थे, जो देवताओं के महान् पुरोहित बृहस्पति के प्रतिस्पर्धी थे। ऋषि संवर्त ने एक ऐसे यज्ञ का सञ्चालन किया था, जिससे भगवान् इतने अधिक सन्तुष्ट हुए थे कि उन्होंने उपहार स्वरूप स्वर्ण का एक महान् पर्वत ही

उन्हें दानकर दिया। यह स्वर्णिम पर्वत शिखर अद्यावधि हिमाञ्चल मे अवस्थित है। आधुनिक आविष्कारक इसे वहाँ प्राप्त कर सकते है। राजा मरुत्त इतने अधिक आध्यात्मिक शक्ति सम्पन्न सम्राट् थे, कि उनके यज्ञ मे अन्य ग्रहों से इन्द्र, चन्द्र, बृहस्पति आदि देवगण उनसे मिलने के लिए उनकी राजधानी पधारते थे। और चूकि उनके पास सीमातीत परिमाण मे स्वर्ण था। अतः धन की कोई कमी न थी। यज्ञ वेदी तथा सम्पूर्ण यज्ञ मण्डप विशुद्ध स्वर्ण से निर्मित हुआ था। उनके यज्ञीय कार्यक्रमो मे अतिथि अभ्यागतों के लिये उच्चकोटि के स्वादिष्ट भोजन प्रसाद आदि की व्यवस्था के लिए वायुलोक से विशेषज्ञ निमन्त्रित किये गये थे। उस विशाल यज्ञ में अतिथि देवताओं के यातायात की व्यवस्था विश्वदेव के द्वारा सम्पन्न होती थी।

लगातार धर्म एवं सदाचार सम्वन्धी कार्यो में रत रहने से वे इतने सबल एवं सक्षम हो गये थे कि उनके प्रभाव से सारे रोग, विपत्तियाँ एवं उपद्रव राज्य की सीमा से वहिष्कृत हो गये थे। देवलोक, पितृलोक आदि समस्त उच्च लोकों के निवासी उनके महान् यज्ञ के कार्यक्रम से अत्यन्त प्रसन्न हो उठे। प्रतिदिन वे विद्वान ब्राह्मणो को शैय्या,आसन,स्वर्ण, बहुमूल्य वस्त्र. अन्न आदि जीवनोपयोगी अनेक सामग्रियाँ दान-दक्षिणा मे देते रहते थे। इस प्रकार उन्होने असख्य यज्ञ किये। स्वर्ग के अधीश्वर इन्द्रदेव उन पर अत्यन्त सन्तुष्ट होकर उनके जीवन मे सदा उनकी कल्याण कामना करते रहे। अपने शुभ एव सदाचार पूर्ण कार्यो के कारण वे अपने जीवन में निरन्तर युवक ही वने रहे। तथा सम्पूर्ण विश्व के एकछत्र सम्राट् के रूप मे एक हजार वर्ष तक राज्य किया। वे अपनी प्रजा की सन्तुष्टि के प्रसङ्ग में सदा सतर्क वने रहे उनके मन्त्री, उनकी पत्नी, उनके पुत्र एव वन्धुगण उनके व्यवहारो से अत्यन्त हर्षित रहा करते थे। यहाँ तक कि भगवान् श्रीकृष्ण ने उनके धर्माचरणो की भूरि-भूरि प्रशंसा की। राजा मरुत्त ने अपनी कन्या का विवाह महर्षि अङ्गिरा से किया, और उनका आशीर्वाद प्राप्त कर उन्होने स्वर्ग का आवास प्राप्त किया। सर्वप्रथम उन्होंने महर्षि वृहस्पति से अपने यज्ञ का पौरोहित्य स्वीकार करने की प्रार्थना की परन्तु देवताओं ने उनके रक्त, माँस, अस्थि निर्मित मरण-धर्मा मानव देह युक्त होने के कारण ऐसा करने से वृहस्पति को वर्जित कर दिया। राजा अति दुखी हुए। परन्तु श्रीनारद मुनि ने उन्हे उक्त पद पर सवर्त की प्रतिष्ठत करने का आदेश दिया। और इस कार्य मे वे सफल हुए।

किसी भी विशिष्ट यज्ञ की सफलता सदा पुरोहित की योग्यता पर अवलम्बित है। इस कलियुग में सारे यज्ञकार्यों का निषेध है। क्योंकि तथा-कथित ब्राह्मण यज्ञीय योग्यताओं से सम्पन्न नही होते। वे ब्राह्मणोचित गुणो से सम्पन्न भी नही होते। वे नाममात्र को तथाकथित ब्राह्मणों के पुत्र कहलाते है; किन्तु ब्राह्मणोचित योग्यता का उनमें सर्वथा अभाव होता है। और इसलिए इस कलियुग में एक ही प्रकार का यज्ञ स्वीकृत हुआ है। और वह है सकीर्तन-यज्ञ। और इस संकीर्तन-यज्ञ का उद्घाटन महाप्रभु श्रीचैतन्य के द्वारा आज से पाँचसौ वर्ष पूर्व हुआ था।

[३४]

तेन सम्भृतसम्भारो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
वाजिमेधैस्त्रिभिर्भीतो यज्ञैः समयजद्धरिम् ॥

तेन=उस धन से, सम्भृत=एकत्रित किया, सम्भार=तत्वो यज्ञ सामग्रियों को, धर्म-पुत्रः=धर्मात्मा राजा, युधिष्ठिर.=महाराज युधिष्ठिर, वाजिमेधैः=अश्वमेध यज्ञ द्वारा, त्रिभिः=तीन बार, भीत=कुरुक्षेत्र के युद्ध से होने वाले दोषो से भयभीत होकर; यज्ञै.=यज्ञो द्वारा, समयजत्=भलीभाँति पूजन किया; हरिम्=भगवान् का।

अनुवाद

उत्तर दिशा से उपलब्ध धनराशि से महाराज युधिष्ठिर ने बहुत सी यज्ञीय सामग्रियाँ एकत्रित की। और उससे उन्होने तीन अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न किये। इस प्रकार परम सदाचारी धर्मराज युधिष्ठिर, जो महाभारत युद्ध के भीषण संग्राम मे बन्धु-बान्धवो के संहार के पापो से अति भयभीत हो रहे थे, इन विशाल यज्ञो की आयोजनाओं के द्वारा भगवान् श्रीहरि का यजन कर उन्हे प्रसन्न कर लिया।

तात्पर्य

महाराज युधिष्ठिर एक अत्यन्त सम्मानित एव आदर्श सदाचारी राजा थे संसार मे उनकी कीर्ति प्रसिद्ध थी तथापि कुरुक्षेत्र मे हुए उस महान्

जन-सहार से वे दुखित रहा करते थे। वे सोचते थे कि यह महान् जन-सहार केवल उन्हे राज्याभिषिक्त करने के लिए ही हुआ। वे वधजनित सम्पूर्ण पापों का उत्तरदायित्व स्वय पर ही आरोपित करते थे। अतः स्वाभाविक ही उन पापो के निवारणार्थ वे व्यग्र और उद्विग्न हो उठे। निदान ऋषियो के उपदेशानुसार उन्होने प्रायश्चित स्वरूप तीन महान् अश्वमेध यज्ञोत्सवो का आयोजन किया। यज्ञ बहुत बड़ी धनराशि से सम्पन्न होते है। यज्ञ बहुत व्यय पूर्ण है। धन पानी की भाँति बहाना पड़ता है यहाँ तक कि महाराज युधिष्ठिर को भी पर्याप्त धनराशि के लिए चिन्ता करनी पड़ी। तब भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण ने उन्हे धन प्राप्ति का एक नया मार्ग सुझा दिया। महाराज मरुत्त ने पूर्वकाल में एक महान् यज्ञ का अनुष्ठान किया था। उस यज्ञ में सम्पूर्ण पात्र स्वर्ण निर्मित थे। सब कुछ स्वर्ण रचित था। और उन्होंने प्रत्येक ब्राह्मण को इतना अधिक स्वर्ण-दान किया कि वे विद्वान ब्राह्मण स्वर्ण का भार वहन न कर सके। और उन्होंने अपने प्राप्त दान का अधिकतम भाग वही यत्र-तत्र फेक दिया। महाराज मरुत्त भी अत्यन्त समृद्धिशाली सम्राट् होने के कारण यज्ञ से अवशिष्ट पात्रों एव अन्यान्य वैभवपूर्ण सामग्रियों के वापस ले जाने की कोई चिन्ता नही की। और इतना ही नही उन्होने उन सब धन रत्नों एव स्वर्ण के पात्रों को हिमाश्चल की उपत्यकाओ में फिकवा दिया। इस प्रकार वह विपुल धनराशि निर्जन प्रान्त मे बिना किसी दावेदार के निरुपयोगी पडी रही। सर्वज्ञ भगवान् श्रीकृष्ण के आदेशानुसार महाराज युधिष्ठिर के भ्राताओं ने उस धन को ग्रहण किया क्योकि वह उनके राज्य के अन्तर्गत था और राजा राज्य के सम्पूर्ण पदार्थो का स्वामी होता है। और इससे अधिक आश्चर्य की बात यह थी, कि राज्य के किसी भी नागरिक ने उस पड़ी हुई धनराशि पर अधिकार करने की कोई कोशिश नहीं की। किसी ने भी कोई दावा नही किया। इसका यही अर्थ होता है कि उस काल के नागरिक, जीवन की सुख वैभव सम्बन्धी आवश्यक द्रव्यों से अत्यन्त समृद्ध थे। तथा वे स्वत. पूर्णतः सन्तुष्ट थे। इसलिये केवल इन्द्रिय तृप्ति के लिए अतिरिक्त धनराशि एकत्रित करने की कोई उत्सुकता या इसी प्रकार का कोई पागलपन उन्होंने प्रदर्शित नहीं किया। इससे भी अधिक शालीनता एव गौरव की बात यह थी कि महाराज युधिष्ठिर ने भी उस धन को न अपने निजी उपयोग के लिये, न परिवार और न राज्य के उपयोग के लिए ही लेना चाहा वरन् एकमात्र श्रीहरि की सन्तुष्टि के लिए ही उसे स्वीकार करने को वे तैयार हुए।

इसके अतिरिक्त उस धन से शासन कोष की वृद्धि करने की उन्हें तनिक भी इच्छा न थी।

यहाँ महाराज युधिष्ठिर की मनोवृत्ति से मानव मात्र को शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। वे कुरुक्षेत्र की रणभूमि में घटित हुए पापों से भयभीत हो उठे और उन्होने परम पुरुष की सन्तुष्टि के लिये उनका यजन करना चाहा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि दैनिक कार्यों के दौरान हमारे द्वारा अनिच्छापूर्वक अनजाने ही घटित हमारे अज्ञात पाप भी हमें अपना फल प्रदान करते है। ऐसे अनैच्छिक एवं अज्ञात अपराधो के मार्जन के लिये हमें यज्ञ यागादि करने चाहिये, जैसे कि विशिष्ट धर्मग्रन्थो में वर्णित है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् कहते हैं।

"यज्ञार्थात् कर्मणोन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।"

प्रत्येक व्यक्ति को धर्मशास्त्रानुसार निर्दिष्ट कर्मो का आचरण अवश्यमेव करना चाहिये ताकि वह अपने अप्रामाणिक अनधिकार चेष्टाओं एव अज्ञात अपराधों के फलस्वरूप होने वाले त्रासों से त्राण पा सके। ऐसा करके वह सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो सकता है। और जो ऐसा नही करते एवं स्वार्थ के लिये, इन्द्रिय तृप्ति के लिये कार्य करते है, वे स्वाभाविक रूप से नाना प्रकार के पापों से बँध जाते है उन्ही में फँस जाते है। अतएव यज्ञों का परम प्रयोजन भगवान् श्रीहरि की प्रीति सम्पादन है। यज्ञ सम्पन्न करने की प्रक्रिया समय, स्थान एवं व्यक्तियों के अनुसार भले ही भिन्न-भिन्न हो तथापि यज्ञ सम्पन्न करने का प्रयोजन सब समय सम्पूर्ण परिस्थितियों में समस्त व्यक्तियों के लिये समान रहा है। प्रयोजन एक ही है और वह है श्रीहरि की सन्तुष्टि। एवं यही विशुद्ध एवं पावन जीवन का एकमात्र मार्ग है। विशुद्ध एवं पावन जीवन से ही संसार में शान्ति एवं समृद्धि सुलभ हो सकेगी। महाराज युधिष्ठिर ने एक आदर्श राजा की भांति तत्कालीन प्रथानुसार यज्ञों का समारम्भ किया।

यदि महाराज युधिष्ठिर अपने दैनिक कर्तव्यों को सम्पन्न करने में, शासन कार्यों को सम्पन्न करने में अपराधी रह जाते हैं; तब जहाँ पशुओं एवं मनुष्यों की हत्या करना कला एवं सभ्यता माना जाता है उस जमाने के व्यक्ति यह अनुमान करें कि भगवान् की सन्तुष्टि सम्पादक यज्ञों से वञ्चित ये कलिकाल के जीव ज्ञात एवं अज्ञात रूप से न जाने कितने पापों का बोझ अपने मस्तक पर नित्य वहन कर रहे हैं तथा इससे उन्हें कौन-सी निम्नतम

अधम गति प्राप्त होगी। सच्चे अर्थों मे वर्तमानकालीन सार्वजनीन अशान्ति, अभावग्रस्तता, व्यापक भ्रष्टाचार एव अकर्मण्यता का कारण ये पाप ही है। और इन पापों से उद्धार के लिये भगवान् श्रीहरि की सन्तुष्टि, श्रीहरि की प्रीति सम्पादन के अतिरिक्त और कोई उपाय नही है।

इसलिये श्रीमद्भागवत (१।२।१३) का कथन है—मानव जीवन का मुख्य कर्तव्य अपने दैनिक कर्तव्यो के द्वारा भगवान् श्रीहरि की आत्यन्तिक सन्तुष्टि है।

कोई भी व्यक्ति चाहे किसी भी सङ्घ, जाति या नस्ल का क्यों न हो तथा किसी भी प्रकार के कर्तव्यों मे सलग्न ही क्यो न हो, उसे अवश्यमेव धर्म शास्त्रानुसार स्थान, समय एव व्यक्ति विशेष के अनुरूप यज्ञ कार्य करने में सदा तत्पर रहना चाहिये। वैदिक साहित्यों में यह स्पष्ट आदेश किया गया है, कि कलियुगी जीव कृष्णनाम सङ्कीर्तन यज्ञ का विशाल उत्सव मनाएँ जो सर्वथा अपराध-रहित हो।

कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंगः परं व्रजेत्।

ऐसा करते हुए कोई भी व्यक्ति अपने सम्पूर्ण पापो से मुक्त हो सकता है, भगवद्धाम की प्राप्ति कर जीवन की चरम परिपूर्णता को उपलब्ध हो सकता है। हम इस महान् साहित्य के कतिपय स्थलो पर विशेष कर श्री चैतन्य महाप्रभु के जीवन वृत्त की भूमिका मे वर्णन कर चुके है। तथापि समाज में शान्ति एवं समृद्धि लाने के दृष्टिकोण से हम उक्त विषय का पुन. नवीन दृष्टिकोण से वर्णन कर रहे है।

भगवान् ने भगवद्गीता में उन्मुक्त भाव से कहा है कि वे हम से कैसे प्रसन्न हो सकते है। तथा भगवान् का यह उपदेश, उनकी प्रीति सम्पादन का उपाय श्रीचैतन्य महाप्रभु के जीवन एवं प्रचार कार्यो मे सर्वत्र अभिव्यक्त होता है। वर्तमानकालीन विश्व परिस्थिति में यज्ञ सम्पन्न करने की उचित एव पूर्ण प्रक्रिया अथवा भगवान् श्रीहरि को सन्तुष्ट करने का उपाय श्रीचैतन्य महाप्रभु के मार्ग का अनुसरण करना है।

महाराज युधिष्ठिर ने भारत के इतिहास की शक्ति एवं समृद्धि के दिनों मे अश्वमेध यज्ञ के लिये पर्याप्त स्वर्णादि द्रव्यो का अभाव अनुभव किया था। तव हम कल्पना कर सकते है कि इस नितान्त स्वर्णाभाव के युग मे इन प्रवल अभावग्रस्त दिनो मे ऐसे यज्ञो का समारोह कैसे सम्भव हो

सकेगा ? अब वर्तमानकाल में द्रव्य साधन के नाम पर हमारे पास कागजों का बण्डल है। और आर्थिक सभ्यता का विकास उन्हें विनिमय में स्वर्ण प्रदान करने का वचन देता है तथापि व्यक्तिगत रूप से अथवा सामूहिक रूप से अथवा राज्य की ओर से भी वर्तमान पीढी ऐसे व्यय बहुल यज्ञो के सञ्चालन में सर्वथा असमर्थ है। अतएव महाप्रभु श्रीचैतन्य ने शास्त्र सम्मत एक अति उत्तम प्रामाणिक यज्ञविधि इस युग के लिये निर्वाचित की है। यह प्रक्रिया किसी भी प्रकार के धन की आवश्यकता नही समझती तथापि इस पद्धति से जो उपलब्ध होता है, वह अति विस्तीर्ण एव बहुमूल्य यज्ञ समारोहों से किसी भी प्रकार अल्प नही है। इसका फल महान् है, अमोघ है, तथा त्रिकालाबाधित है। वैदिक पृष्ठों में वर्णित अश्वमेध आदि यज्ञों की तुलना आधुनिक काल के प्राणिहत्याओं से कदापि नही की जानी चाहिये। वास्तव में वेदानुकूल यज्ञो मे बलिदान हुए जीव अपने नये जीवन में वैदिक मन्त्रों की दिव्य ध्वनि स्पन्दनो से प्रभावित होकर एक नवीनतम उन्नत चेतना प्राप्त करते है। वेद मन्त्रों के इस क्रान्तिकारी प्रभाव को सामान्य व्यक्ति कभी नही उपलब्ध कर सकते। वेदमन्त्र प्रत्यक्ष एव तीव्र प्रभावशाली है। और इसका प्रमाण यज्ञ में आहुत जीवों की जीवन चेतना मे महान् क्रान्ति है। आधुनिककाल के तथाकथित ब्राह्मण एवं पुरोहितों के द्वारा औपचारिक एव आडम्बरपूर्ण रीति से वेदमन्त्रों के उच्चारण से ऐसी चेतना के उत्थान सम्बन्धी क्रान्ति की कोई सम्भावना नही है। वर्तमान कालीन द्विज परिवारों के वंशधर अपने पूर्वजो की भाँति निष्ठा एव शक्ति सम्पन्न नही है उनका जीवन-स्तर भी निम्नतर है, वे शूद्रप्राय हैं। एकजन्मा है। एकजन्मा व्यक्ति वेदमन्त्रों के उच्चारण का सर्वथा अनधिकारी है। और इसलिये वेदमन्त्रों के प्रामाणिक एवं मौलिक होते हुए भी उनके उच्चारण का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव दृष्टिगोचर नही होता।

इस प्रकार नष्ट होते हुए सम्पूर्ण वैदिक विधि-विधानों एवं धर्माचारों एव उनके फलों की रक्षा के लिये श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सङ्कीर्तन आन्दोलन अथवा हरिनाम सङ्कीर्तन महायज्ञ की रूपरेखा प्रस्तुत की। इस प्रकार यह सङ्कीर्तन महायज्ञ वर्तमान युग की जनता के लिये जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्रों मे सफल होने का एकमात्र उपाय के रूप में स्वीकृत हुआ है।

[३५]

आहूतो भगवान् राज्ञा याजयित्वाद्विजैर्नृपम्।
उवास कतिचिन्मासान् सुहृदां प्रियकाम्यया॥

आहूतः=बुलाये जाकर; भगवान्=भगवान् श्रीकृष्ण; राज्ञा=राजा द्वारा; याजयित्वा=यज्ञ कराया; द्विजैः=ब्राह्मणों के द्वारा; नृपम्=राजा को, उवास=निवास किया, कतिचित्=कतिपय; मासान्=महीनों तक; सुहृदाम्=अपने सम्बन्धियों को; प्रिय-काम्यया=प्रसन्न करने की इच्छा से।

अनुवाद

भगवान् श्रीकृष्ण ने महाराज युधिष्ठिर के द्वारा यज्ञ में निमन्त्रित होकर वहाँ देखा कि वह यज्ञ सुयोग्य द्विजन्मा ब्राह्मणों के द्वारा सम्पन्न किया जारहा है। यज्ञ सम्पन्न होने के अनन्तर उन्होंने अपने सुहृद् सम्बन्धियों की प्रसन्नता के लिये कुछ मास पर्यन्त वहाँ निवास किया।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण महाराज युधिष्ठिर के द्वारा अत्यन्त प्रेम एवं आग्रह पूर्वक यज्ञ समारोह मे सादर निमन्त्रित हुए थे तथा भगवान् श्रीकृष्ण अपने वयोवृद्ध मातुल की आज्ञा का सम्मान करने के लिये वहाँ पधारे। तथा यज्ञ के सञ्चालन की समस्त बागडोर स्वयं अपने हाथों में ले ली। वहाँ श्रेष्ठ द्विजन्मा ब्राह्मण, ऋत्विज, ब्रह्मा, अध्वर्यु आदि के पदों पर विराजमान सुशोभित हो रहे थे। केवल ब्राह्मण परिवार में जन्म ले लेना यज्ञ मे भाग लेने की योग्यता नही है। प्रामाणिक आचार्य से विधिवत् दीक्षा एव शिक्षा के उपरान्त ही द्विजत्व अथवा ब्राह्मणत्व प्राप्त होता है। अदीक्षित एवं अशिक्षित एकजन्मा ब्राह्मण परिवार के सदस्य शूद्र के समकक्ष होते हैं। और ऐसे ब्रह्मबन्धु किसी भी धार्मिक एवं वैदिक कार्यक्रम में सम्मिलित होने के लिये कदापि नही स्वीकार किये जाने चाहिये। भगवान् श्रीकृष्ण यज्ञ-सम्भार के सुनियोजनार्थ प्रार्थित हुए थे अतः जिस प्रकार वे स्वयं पूर्ण है उसी प्रकार उन्होंने प्रामाणिक एवं ज्ञान अनुभव सम्पन्न द्विजन्मा ब्राह्मणो की सहायता से भलीभाँति यज्ञ सम्पन्न कराया।

[३६]

ततो राज्ञाभ्यनुज्ञातः कृष्णया सह बन्धुभिः।
ययौ द्वारवतीं ब्रह्मन् सार्जुनो यदुभिर्वृतः॥

ततः=तत्पश्चात्; राज्ञा=राजा द्वारा; अभ्यऽनुज्ञातः=आदिष्ट होकर; कृष्णया=द्रौपदी द्वारा; सह=सहित; बन्धुभिः=भाईयों सहित; ययौ=चले गये; द्वारवतीम्=द्वारकापुरी को; ब्रह्मन्=हे ब्राह्मण देवता; स-अर्जुनः=अर्जुन के साथ; यदुभिः=यदुवंश के सुहृदों से; वृतः=घिरे हुए।

अनुवाद

हे शौनक ऋषि, तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण ने महाराज युधिष्ठिर, महारानी द्रौपदी एवं अन्यान्य सम्बन्धियों से विदा लेकर अर्जुन एवं यदुवंश के अनेक अतिरथी योद्धाओं से घिरे हुए अपनी राजधानी द्वारकापुरी को प्रस्थान किया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत प्रथम स्कन्ध द्वादश अध्याय शीर्षक "सम्राट् परीक्षित के जन्म" पर भक्तिवेदान्त टीका समाप्त हुई।